श्रीः

सत्यासत्य निर्णय

जिसको

लाला मुसद्दीलाल ज़मींदार
साकिन् निरपड़ा
ज़िला मेरट
ने

सर्व्व साधारण के हित के लिये
प्रकाशित किया

SATYASATYA NIRNAYA

BY

LALA MUSADDI LALL ZAMINDAR
NIRPARA Dt. MEERUT.

सम्वत् १९६७

मूल्य प्रति पुस्तक दाम ।=)

प्रथमावृत्ति १००० पुस्तक

Printed by Pandit Ishwari Pra
"Shri Vilweshwar" Press
MEERU

॥ ओं ॥

भूमिका

मैं अपने ईश्वर परमात्मा को नमस्कार कर के लिखना आरम्भ करता हूं कि जिसका प्रयोजन मुख्य यह है कि सत्प्रवृत्ति प्रचलित हो, असत्प्रवृत्ति दूर हो, यद्यपि मैं इस योग्य नहीं हूं तथापि बहुत सी बातों के देखने से अत्यन्त खेद होता है अतएव उन का स्वरूप दिखलाना आवश्यकीय कार्य समझा गया और इस लेख से मेरी इच्छा किसी की बुराई वा अपनी बड़ाई अथवा लोभ वा ईर्षा आदि का नहीं है किन्तु सर्व साधारण को धर्म पर आरूढ़ रहने से असली लाभ से है, जहां तक हो सकेगा पाठ भी सङ्कुचित किया जावेगा। क्यों कि इस प्रबन्ध का प्रभाव दयानन्दी भाइयों पर अधिक पड़ता है इस लिये उन से और प्रत्येक मतावलम्बियों से प्रार्थना करता हूं कि मुझ को तुच्छ बुद्धि जान कर क्षमा करें 'जैसे हंस पानी से दूध लेता है इसी प्रकार गुण लेकर अव[illegible] त्याग दें, और जो भूल समझी

जावे उसे लिख भेजें, मैं आशा करता हूं जो महात्मा पक्षरहित हो कर निर्दोष दृष्टि से पढ़ेंगे वे अवश्य प्रसन्न होंगे, और यदि कोई अशुद्धि दृष्टि आवे तो कृपा कर के लिख भेजें, मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जो विद्वान् पुरुष शास्त्रों के प्रमाणों से समझावेंगे अवश्य स्वीकार किया जावेगा, क्योंकि आत्मा को पक्ष से हानि और निर्पक्षता से लाभ होता है। मैं इस लेख को अपनी बुद्धि वा तर्क और शास्त्रों के प्रमाण से भली भांति प्रमाण दे कर दिखलाऊंगा। और प्रमाण उन शास्त्रों के दिये जायेंगे जिन को समाजी भाई अङ्गीकार करते हैं॥ शान्तिः ३॥

सब महाशयों का शुभ चिन्तक,

मुसद्दीलाल, ज़मींदार,

निरपड़ा-मेरठ.

॥ ओ३म् ॥

अथ

॥ सत्यासत्य निर्णय ॥

प्रथम वर्णन

॥ शूद्र संस्कार विषय ॥

हमारे समाजी भाई आजकल इस बात पर बहुत दबाव देरहे हैं कि शूद्रादि जाति से खान पान सम्बन्ध करने में कोई हानि नहीं है, और ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यों की नाई वेद पढ़ने में भी कोई हानि नहीं है, बतलाते केवल इतना ही हैं, कि आचरण ठीक २ हों। और इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियों में भी कुछ कुछ इस का प्रभाव पड़ा है, परन्तु मेरी सम्मति में यह बात शास्त्रों के और न्याय प्रवृत्ति के अत्यन्त विपरीत है, जिस को मैं अपनी बुद्धि और तर्कों तथा शास्त्रों के प्रमाणों से भली भांति प्रमाण दे कर दिखलाता हूं, और जो वे लोग प्रश्न पैदा करते हैं, उन के उत्तर विनय के साथ प्रत्यक्ष करता हूं ॥

प्रथम प्रश्न—यह करते हैं कि बिना ऐसा किये मेल मिलाप और सच्चा प्रेम नहीं होसक्ता ॥

उत्तर—यह ख़याल बिलकुल ग़लत है कि ख़ास सगे भाइयों और ख़ास सम्बन्धियों वा ख़ास मज़हबी भाइयों में हर तरहके फ़िसाद झगड़े हो रहे हैं और ग़ैरों से महुब्बत इस के देखने

से साबित हो गया कि खान पान सम्बन्ध आदि से मेल नहीं हो सकता बल्कि मेल मिलाप की रीति यह है, कि सब से इमान्दारी और परोपकार का बर्ताव करें और सब का मान सम्मान यथायोग्य करें और दिलो, जान, माल, असबाब से सब को नफ़ा पहुंचावें, ऐसा करने से हम वायदा करते हैं कि ज़रूर ही मेल होगा ॥

द्वितीय प्रश्न—यह करते हैं, मुसलमान, ईसाई सब को मिलाकर मज़हब की तरक्की करते हैं इसी तरह हमको भी करनी चाहिये ॥

उत्तर—उन लोगों के मज़हब में वह बात रायज़ है हिन्दू मज़हब में नहीं अतएव नहीं करनी चाहिये जैसे वह मांस को पसन्द करते हैं ।

इसी तरह और बहुत सी बातें पाई जाती हैं कि जिन को वह पसन्द करते हैं और आप उन को ना पसन्द ॥

तृतीय प्रश्न—वह कहते हैं बिदून ऐसा किये मज़हब की तरक्की नहीं होगी ॥

उत्तर—क्या तरक्की से यह मुराद है कि धर्म्म को भ्रष्ट कर दिया जावे और शास्त्रों की मर्यादा बिगाड़ दी जावे हर्गिज़ नहीं विचारिये जब धर्म बिगड़ गया हम स्वयं भ्रष्ट हो गये तो औरों से तरक्की की उम्मेद कब हो सक्ती है तरक्की उस का नाम है कि हर एक को उपदेश दिया जावे और हमदर्दी की जावे धर्म्म करना उपदेश सुनना मने नहीं है अलबत्ता तरीक़ा बर्ताव ज़रूर जुदा २ होना चाहिये जैसे माता (वाल्दा) भगिनी (बहिन) पुत्री (बेटी) सब एक ही क़िस्म हैं और हाड़ मांस चर्म सब में

एक सा है (परन्तु तरीक़ा) बर्ताव सबसे पृथक् २ करना पड़ता है ऐसा ही करने से नफ़ा होता है बाक़ी नुक़सान ॥

चतुर्थ प्रश्न—यह करते हैं कि जो मनुष्य खुदग़र्ज़ हैं वह इस को नहीं मानते ॥

उत्तर—खुदग़र्ज़ी इस का नाम है कि अपना नफ़ा चाहें दूसरों का नुक़सान खुदग़र्ज़ी इस का नाम नहीं है कि स्वयम् धर्म्म पर आरूढ़ रहें औरों को क़ायम राखे और जिस प्रकार से आचार्य कहते चले आये हैं उसी प्रकार से उपदेश वग़ैरह दिया जावे बल्कि खुदग़र्ज़ी इसीं का नाम है कि जैसा आज कल देखने में आ रहा है यानी चाहे सैकड़ों वर्ष की रिस्तेदारी मेल मुलाक़ात जाती रहो मगर एक पैसे की कसर खाना मन्ज़ूर न हो और चाहे दूसरों का सैकड़ों रुपये का नुक़सान क्यों न हो मगर अपना एक रुपये का फ़ायदा हुआ चाहिये चाहे कोई कितनी खुशामद करो मगर रियायत करना खिलाफ़ आदत है क्योंकि इस को अपना नुक़सान समझा जाता है हां अलबत्ता शास्त्रों के हाथ लगाना मूर्त्ति पूजन करना यज्ञोपवीत संस्कार आदि करने में कोई हरज नहीं क्योंकि अपने पल्ले से तो कुछ खुलता ही नहीं हाय अफ़सोस जो धर्म्म जीव का खास नफ़ा करने वाला है उस की ऐसी कम क़दरी ॥

पञ्चम प्रश्न—यह है कि पहले सब एक थे, वर्ण बाद गुण कर्म देख कर किये गये ।

उत्तर—यह ठीक नहीं बस शास्त्रों से बखूबी साबित है कि वर्ण प्रथम से ही हैं क्योंकि वेदों में जगह जगह चारों वर्णों का ज़िक्र है, यह किसी जगह नहीं लिखा कि अगाड़ी वर्ण होंगे,

उन की ऐसी हालत होगी, दूसरी यह बात बखूबी साबित करती है कि गुण कर्म अव्वल ही से जीव के साथ हैं ऐसा कोई नहीं कहता कि गुण कर्म सृष्टि के आदि में नहीं थे, जब शुरू से गुण कर्म्म हैं उसी के अनुसार जन्म हुआ और उसी मुआफ़िक़ वर्ण ॥

षष्ठम् प्रश्न—यह करते हैं जब के गुण कर्म्म बिगड़ने से ब्राह्मण पतित किया गया और मुसलमान कहाया तो इसी तरह जो मुसलमान ब्राह्मण के गुण कर्म्म करे उस को ब्राह्मण क्यों न कहा जावे, और क्यों शामिल न किया जावे, और यही सवाल सत्यार्थ-प्रकाश में भी किया है ॥

उत्तर—अब तो खास मुसलमान लफ़्ज़ लिखने से उन को बरग़िलान करने का नतीजा है दूसरे जो ब्राह्मण शूद्र होगया उस को गुण कर्म्म की अपेक्षा शूद्र कहेंगे, परन्तु रक्त वीर्य की शुद्धि की वजह से उस में वह ताक़त है कि उसको उसी जन्म में दण्ड वग़ैरह देकर शामिल कर सकते हैं, ऐसे ही जो शूद्र गुण कर्म से ब्राह्मण कहा जाता है, उसके रक्त वीर्य की जो शक्ति है उस की वजह से वह ब्राह्मणों में शामिल न किया जावेगा कि मतलब यह है कि माननीय पुरुष होवेगा कि जिस के गुण कर्म्म भी उम्दा हों और शुद्ध रक्त वीर्य से उत्पन्न हुआ हो, और जिस की दोनों हालतों में से एक गिरी होगी वह किसी तरह माननीय नहीं हो सकता ।

जैसा कि सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ २७८ में लिखा है कि जो सौ वर्ष का है और वेदों से ना वाफ़िक़ (अनभिज्ञ) है ? और बीस वर्ष का वाफ़िक़ (भिज्ञ) है तो वही बड़ा है, इस मिसाल से बखूबी साबित होगाया कि वह बड़ाई छुटाई गुण, अपेक्षा है न कि

उम्र अपेक्षा क्योंकि उम्र तो किसी हालत में छोटी बड़ी नहीं हो सकती यानी सौ वर्ष का बीस वर्ष वाले से किसी तरह छोटा नहीं हो सक्ता, इसी तरह ब्राह्मण शूद्र गुण अपेक्षा कहा जावेगा बाक़ी रक्त वीर्य का ज़रूर ख़याल करना होगा और रक्त वीर्य की प्रवलता अगाड़ी शास्त्रों के प्रमाण से बख़ूबी साबित करके दिखलाई जावेगी हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जो क़ौम से जाट हैं उन के गुण स्वभाव जुदे बैश्य के जुदे मुसलमान के जुदे भङ्गी चमारों के जुदे २ हैं, ब्राह्मणों के जुदे, फिर न मालूम शास्त्रों और प्रमाण न्याय के ख़िलाफ़ क्यों सही को ग़लती कहा जा रहा है।

अब हम यह दिखलाते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश में पृष्ठ ७४ से ७८ तक शूद्र को वेद पढ़ने के विषय और पृष्ठ ८७ से लगाय ६४ तक वर्ण व्यवस्था विषय शास्त्रों के प्रमाण देकर पुख़्तगी की उस की असलियत क्या है। अव्वल यह देखना चाहिये कि इसी सत्यार्थ प्रकाश में चन्द जगह और ख़ासकर पृष्ठ ४१ पर इस को निषेध किया और साफ़ लिखा कि शूद्र को अधिकार यज्ञोपवीत वेद मन्त्र का नहीं है जिस का पूरा मतलब अगाड़ी लिखा जावेगा, दूसरे यह भी सुना जाता है कि सत्यार्थप्रकाश की इबारत भी तरमीम होती रहती है इसी लिये ठीक नहीं मालूम हो सकता कि ख़ास आचार्य की क्या मनशा थी ऐसी मुस्तबा हालत में कोई ज़रूरत इस मज़मून के बढ़ाने की न थी परन्तु फिर भी हर ख़ास आम की जांच के लिये दिखलाई जाती है इस में जो ज़बानी दो एक सवाल थे वे ऊपर दिखला दिये गये और चन्द शास्त्रों के प्रमाण पृष्ठ ६१ व ६२ व ६३ पर दिये वे इस मज़मून के लिये मामूली ख़याल किये गये इसलिये छोड़ दिये गये, अब सिर्फ़ वे दिखलाये जाते हैं कि जिन को

बहुत पुख्ता बतलाते हैं, अव्वल पृष्ठ ७५ पर यजुर्वेद अध्याय २६ का मन्त्र दूसरा दिखलाया और यही मन्त्र स्वामी दर्शनानन्द की छपी हुई कापियों में देखा गया जिस का मतलब यह है, ईश्वर कहता है कि जैसे मैं सब को उपदेश करता हूं ऐसे ही तुम सब को उपदेश करो इस का मतलब स्वामी दर्शनानन्द आदि (वगैरह) यह लगाते हैं कि वेद का अधिकार सब को पढ़ने का है, और ऐसा ही सत्यार्थ प्रकाश में पुष्ट किया है परन्तु बुद्धिमान विचार सकते हैं कि इस मन्त्र का मतलब उपदेश से है या पढ़ने से, और उपदेश और पढ़ने में किस क़दर फ़र्क़ है-उपदेश वह है कि जिस में मन और कान दो चीज़ों की ज़रूरत होती है पढ़ने में इन दोनों के अलावा हाथ आंख और बहुतसी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है इस लिये इस मन्त्र से यह मतलब किसी हालत में हल नहीं हो सक्ता ॥ और सम्वत् १६३७ में जब पं० हरदयालु स्वामी ज़िला गुड़गांवां तहसील रिवाड़ी वालों से आगरे में स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ इसी मन्त्र पर हुआ था तब काशीराज श्रीमदीश्वरी प्रसाद नारायणसिंह शर्म्मा जी के राजपौराणिक चतुर्भुज शर्म्मा शास्त्री जी के समक्ष उक्त पंडित जी से दयानन्द मत वालों ने प्रश्न किया था तब इस (यथेमां वाचं कल्याणी) मन्त्र के अर्थ विषय में बड़े २ विद्वानों ने यही अर्थ प्राचीन वेदभाष्यों से सिद्ध कर दिखाया था कि इस मन्त्र का अर्थ जब यजमान यज्ञ समाप्त कर चुके तब ईश्वर से प्रार्थना करे कि हे भगवान मेरा यज्ञ आप की कृपा से पूर्ण हुआ अब मैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादिकों से (अनुद्वेग करी वाणी अर्थात् मीठी वाणी बोलूं यही मेरी प्रार्थना है। यह अर्थ प्राचीन है, और स्वामी जी ने जो इस मन्त्र से शूद्रादिकों को वेद पढ़ने का अधिकार लिखा है सो नहीं, अर्थात् सर्वथा मिथ्या है इस पर

मथुरा जी के प्रसिद्ध पं० श्रीयुत नन्दन जी चौबे १ और श्रीमान् उदयप्रकाश जी शर्म्मा*श्रीयुत स्वामी वृन्दावन जी धीया मण्डी मथुरा, तथा अलवर राजधानी राजकीय पाठशाला ऽध्यापक चतुर्भुज शर्म्मा अलीगढ़ निवासी, श्रीयुत मिहिरचन्द शर्म्मा आदिकों ने उक्त पं० जी के लिखे हुए अर्थ ही को सत्यमाना था, दयानन्द का मिथ्या अर्थ समर्थन किया। इस से यह सिद्ध हो गया कि वेद पढ़ने का अधिकार द्विजाती अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को है अन्य को नहीं यह वेद की आज्ञा है ॥

पृष्ठ ८७ जाबालि ऋषि आदि के प्रमाण दिये कि वे नीचों से उच्च होगये सो अव्वल तो उन का मतलब ही दूसरा है जैसा समझाया गया वह नहीं है दूसरे ये हवाले पुराणो के हैं जिन को समाजी खुद ही नहीं मानते, तीसरे जो इन पुरानों के मानने वाले हैं उन पर यह सवाल आयद हो सकते हैं इस लिये यह प्रमाण भी दुरुस्त नहीं। पृष्ठ ९० श्लोक ६५ मनु महाराज ने दिखाया है जिस का असली अर्थ तथा सही यह है। ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हो जाता है और शूद्रता ब्राह्मणता को, क्षत्रिय से उत्पन्न हुआ भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुआ पुरुष भी अन्य वर्ण को प्राप्त होता है जानना चाहिये और यही अर्थ पं० तुलसीराम समाजी ने किया है—मतलब खुलासा यह है कि ब्राह्मण के वीर्य और शद्रा की योनि से जो पैदा होगा वह गुण कर्म से ब्राह्मण हो सकता है—और जो वीर्य की योनि ब्राह्मणी मे पैदा हो वह गुण कर्म से शूद्र होसक्ता है इसी तरह क्षत्री वैश्य वग़ैरह भी—और इस का खुलासा हाल मनु श्लोक ६६ तथा ६७ जो हम अगाड़ी रक्त वीर्य की प्रबलता में दिखावेंगे उन से साफ़ ज़ाहिर हो जावेगा, और सूचीपत्र

* नोट—जिन्होंने स्वर प्रकाशिका नामक यजुर्वेद भाष्य किया है

मनुस्मृति अभ्यस्त मुद्रा पण्डित तुलसीराम मेरठ निवासी में देखा जावेगा तो साफ़ लिखा है कि ५७ लगायत ७२ श्लोक तक वीर्य योनि का बलाबल यानी ताक़त दिखाई जाती है हम निहायत अफ़सोस करते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में सिर्फ़ मतलब पुष्ट करने की ग़रज़ से जो कि मतलब दूसरा अधिकार दूसरा फिर भी ऐसा साफ़ लिख दिया है कि चाहे किसी वर्ण में हो मगर गुण कर्म से ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, यानी इसी जन्म में वेद आदि पढ़ने का अधिकारी होसकता है विद्वान पुरुष जब इबारत सत्यार्थ प्रकाश व मनुस्मृति का मुक़ाबला करेंगे तो बख़ूबी मालूम हो जावेगा कि सत्यार्थप्रकाश में जो मतलब दिखाया है वह बिलकुल ख़िलाफ़ मनुस्मृति के है।

इसी पृष्ठ ६० पर दो सूत्र दिखाये हैं जिन का मतलब यह लिखा है कि धर्म्माचरण से नीच से उच्च, पापा चरण से उच्च से नीच होता है सो इस को सभी मानते हैं कि धर्म्म से सुख और पाप से दुःख, धर्म्म से मर कर दूसरे जन्म में नीच से उच्च कुल में उत्पन्न होता है, पाप से मर कर उच्च कुल से नीच कुल में पैदा होता है ॥

हमारी राय में धर्म्म में हरगिज़ पक्ष न करना चाहिये- जो ऐसा करते हैं वे दुःख सागर में पड़ते हैं ईश्वर सब जीवों को सुमति दे कुमति से बचावे ॥

अब हम वे प्रमाण देते हैं और उन शास्त्रों के देते हैं कि जिन को समाजी पण्डितों ने माने हैं और अभ्यास किये हैं।



हवाला मनुस्मृति प्रमाणसूत्र पण्डित तुलसीराम स्वामी आर्य्य समाजी.

कैफ़ियत

नं० १

पृष्ठ १८ अध्याय १ श्लोक ८७ उस प्रभु ने इस सृष्टि की रक्षार्थ ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्रों के कर्म्मों को जुदा २ (पृथक) बनाया है ॥

नं० २

पृष्ठ १८ अ० १ श्लोक ८८ ब्राह्मण के षट् कर्म्म—पढ़ना १ पढ़ाना २ यज्ञ करना ३ कराना ४ दान लेना ५ दान देना ६

नं० ३

पृष्ठ १८ अ० १ श्लोक ८९-क्षत्री को प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना ये ४ कर्म बताये हैं ॥

नं० ४

श्लोक ९ पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करन पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना, खेती करना, ये काम वैश्यों को बताये ॥

नं० ५

श्लोक ९१ प्रभु ने शूद्रों का एक यही कर्म बताया कि इन तीनों वर्णों की निन्दा रहित सेवा करे ॥

नं० ६

पृ० २६ अ० २ श्लोक २४-इस देश को द्विजाति लोक प्रयत्न के साथ आश्रय करें शूद्र चाहे किसी देश में रहें ॥

नं० ७

पृ० ६७ अध्याय ३ श्लोक १७-शूद्र की शय्या पर शयन करने से ब्राह्मण नीच होजाता है ॥

नं० ८

पृष्ट ६८ श्लोक १९ शूद्र का मुख चूमने और भाप लग ने से अशुद्धि होती है और सन्तान भी अशुद्ध होजाती है ॥

नं० ९

पृष्ट २५४ श्लोक० जो अपने वर्ण को छोड़ कर दूसरे वर्ण की जीविका करे उसको दण्ड हो ॥

नं० १०

पृष्ट २६६ श्लोक १७२ वर्णों का नियम राजा को रखना चाहिये ॥

नं० ११

पृष्ट ३०१ श्लोक ४१३ शूद्र से सेवा ही करावे उस को ब्रह्मा ने इसी लिये पैदा किया है ॥

नं० १२

पृष्ट ३५४ अध्याय १० श्लोक १ अपने कर्म में स्थिति द्विजाती अर्थात् तीन वर्ण ब्राह्मण वेद पढ़े और पढ़ावे क्षत्रीय वैश्य पढ़े पढ़ावे नहीं यह निर्णय है ॥

नं० १३

श्लोक ४ ब्राह्मण क्षत्री वैश्य यह तीन वर्ण द्विजाती हैं चौथा शूद्र एक जाती है पंचम वर्ण नहीं हैं ॥

नं० १४

पृष्ट ३६८ अध्याय १० श्लोक ८५ आपत्ति को प्राप्त क्षत्री वैश्यवत् जीवन करें परन्तु ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करें ॥

नं० १५

पृष्ट ३६८ अध्याय १० श्लोक ८६ जो निकृष्ट जाती से उत्पन्न हुआ आप ही आप लोभ से उत्कृष्ट वर्ण की वृत्ती करे उसको राजा निर्धन करके निकाल देवे ॥

नं० १६

पृ० ३७३ अ० १० श्लोक १२३ शूद्र सेवक को द्विजों के घर काम करलेने में कोई पातक नहीं है और न कोई संस्कार करना योग्य है क्योंकि न तो द्विजों के धर्म्म में उनको अधिकार है न अपने धर्म्म से उनको निषेध है ॥

नं० १७

श्लोक १२७ धर्म्म की रक्षा वाले तथा धर्म के जानने वाले शूद्र, मन्त्र बर्जित सत्पुरुषों का आचरण करते हुए दोष को नहीं प्राप्त होते, किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि यज्ञ वर्जित धर्मकार्य करने का शूद्रों को अधिकार हैं ॥

नोट—इस में स्वामीजी ने यहां तक लिख दिया हैं कि राजद्वार मे भी वे यज्ञ आदि की इज़ाजत नहीं पासकते यानी क़ानून न भी इज़ाजत न होगी अव्वल तो बिना वेद मन्त्रों के उच्चारण ही धर्म करो इस में कुछ दोष नहीं क्यों कि वे पढ़ना जानते ही नहीं ॥

नं० १८

पृष्ठ ३६३ अ० १० श्लोक ६६ जो संयोग वश से ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ और जो शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ इन दोनो में अच्छापन किस में है यदि यह संशय हो तो यह उत्तर है ॥

नं० १९

३६४ श्लोक ६७ अनार्य स्त्री में आर्य्यों से उत्पन्न हुआ गुणों से आर्य्य होसकता है और शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ गुणों से शूद्र हो सकता है ॥

नं० २०

श्लोक ६८ पृष्ठ ३६४ धर्म की मर्यादा है कि पहला शूद्रा में उत्पन्न होने रूप जाति की विगुणता से दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न होने के कारण ऐसे ये दोनों उपनयन के अयोग्य हैं ॥

नं० २१

श्लोक ६९ जैसा अच्छा बीज अच्छे खेत में बोया हुआ नमूद होजाता है वैसे ही आर्य्य से आर्य्या में उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण उपनयन आदि संस्कार के योग्य है ॥

नं० २२

पृष्ठ ६६२ अ० १० श्लोक ५९ वर्ण संस्कार से उत्पन्न हुआ पुरुष पितृ सम्बन्धी दुष्ट स्वभाव का अथवा माता का वा दोनों का स्वभाव स्वीकार करता है किन्तु अपनी असलियत को छिपा नहीं सकता ॥

नं० २३

अध्याय १० श्लोक ६० बड़े कुल में उत्पन्न हुए काभी जिस

का योनि से संस्कारपना ढका हुआ है वह मनुष्य योनि का स्वभाव थोड़ा वा बहुत पकड़ता है ॥

नं० २४

पृष्ठ २९ अ० २ श्लोक २६ वैदिक जो पुराण कर्म है उस से ब्राह्मणादि तीन वर्णों का गर्भाधान शरीर संस्कार जो दोनों लोक में पवित्र करने वाला है करना चाहिये ॥

नं० २५

श्लोक ३० ग्यारहवे दिन नाम करण कर्म करै ॥

नं० २६

श्लोक ३१ मुख्य वाचक शुद्ध युक्त ब्राह्मण का नाम हो, जैसे ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुमित्र, आदि क्षत्री का बल आदि जैसे इन्द्र जीत, दलपति, शत्रुकर्षण, इत्यादि वैश्य का रत्नसेन लक्ष्मीचन्द्र इत्यादि शद्र का दास युक्त नाम हो जैसे रामदास कृष्णदास ॥

नं० २७

श्लोक ३६ पृष्ठ ३१ अ० २ गर्भ से वें वर्ष ब्राह्मण का ११वें वर्ष में क्षत्री का, १२ वें वर्ष वैश्य का उपनयन करावे ॥

नं० २८

श्लोक ३८ ३६ में यदि म्याद पर जनेऊ किसी सबब से न होसके तो १६ वर्ष में ब्राहमण २२ वर्ष में क्षत्री २४ वर्ष में वैश्य का (उपनयन) यज्ञोपवीत हो ॥

नं० २९

श्लोक ३९ यदि दोनो मियाद जाती रहें अर्थात् यज्ञोपवीत न हो तो तीनो पतितहैं ॥

नं० ३०

श्लोक ४० जिनका संस्कार न हुआ हो श्लोक ३६ ३८ के मुताबिक और ३६ के अनुसार पतित किये गये हों उन के साथ आपत्तिकाल में भी ब्राह्मणादि विद्या वा योनि का संबन्ध न करे॥

खुलासा नम्बर १ से लेकर ५ तक बखूबी ज़ाहिर किया है कि ब्राह्मण क्षत्री आदि के प्रथक २ काम शूद्र को सिर्फ सेवा करना ही है ईश्वर ने इसी लिये उसको पैदा किया है ॥

नंबर ६ से लेकर ८ तक भी जुदाई दिखलाई गई नंबर ९ व १० में दिखाया कि वर्णों का नियम न छोड़े अर्थात् पराई जीविका न करे जो करे तो दण्ड हो राजा वर्णों के नियम रक्खे ११ में शूद्र से सेवा ही करा वे नंबर १२ में ब्राह्मण क्षत्री वैश्य ये तीन वर्ण वेद पढ़ें शूद्र नही यहां तक ज़ोर दिया है कि क्षत्री वैश्य वेद पढ़ें तो परन्तु पढ़ा वे नहीं ॥

नंबर १३ व १४ में ब्राह्मण क्षत्री वैश्य द्विजाती हैं शूद्र एक जाती है और क्षत्री आपत्ति काल में वैश्य की जीविका करे परन्तु ब्राह्मण की वृत्ती का अभिमान न करे नं० १५ में साफ़ लिखा है कि जो निकृष्ठ जाती में पैदा होकर उच्च जाती होना चाहे उसको राजा निर्धन करके देश से निकाल दे नं० १६ में शूद्र का संस्कार बिलकुल मने नंबर १७ में बहुत खुलासा राजद्वार से भी इज़ाज़त नहीं ले सकता. शूद्र संस्कार वग़ैरह जो कि नंबर १८ नंबर १९ में रज वीर्य्य की ताक़त बखूबी साबित की २० व २१ में दिखाया कि शुद्ध स्त्री मर्द से जो सन्तान हो वही संस्कार के योग्य है बाक़ी नही २२ व २३ में रज वीर्य्य का दोष छिप नहीं सकता २४ व २५ में तीन वर्णों का संस्कार, शूद्र का नहीं ॥

२६ से २८ तक दिखलाया है कि नाम हर एक वर्ण के पृथक् २ प्रकार से और संस्कार सिर्फ तीन वर्ण का मियाद मुकर्ररा तक २६ व ३० में यह दिखलाया है कि जिस ब्राह्मण क्षत्री वैश्य के संस्कार न हुए हों तो मियाद के बाहर वह भी पतित हैं ब्राह्मण क्षत्री को उन से हरगिज़ सम्बन्ध न चाहिये और यही बात स्वामी दर्शना नन्द ने जब कि निरपड़े में पदार्पण किया था और यही स्वीकार किया था जिस पर बहुत से आर्य चिढ़ गये थे। अफ़सोस शास्त्र की इज़ाजत यह है कि ब्राह्मण आदि के संस्कार न किये गये हों तो वेद न पढ़े यज्ञोपवीत संस्कार न करासकें। आजकल ब्राह्मण तो दूर रहे वह शूद्र कि जिनकी सैकड़ों पीढ़ी में भी संस्कार न हुवा हो उनकी खुशामदें की जाती हैं यह सब अविद्या वा सोहबत का महात्म्य है॥

प्रमाण

स्वामी दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य का दरसाया जाता है.

नं० ३१

पृष्ठ २५४ अध्याय २३ श्लोक ४ ब्राह्मण पढ़ावे क्षत्री प्रजा की रक्षा करे वैश्य खेती करे शूद्र ब्राह्मणादि की सेवा करे॥

समीक्षा—यह ख़ास वेद का वचन है इसी के तुल्य ऊपर मनु महाराज के श्लोक हैं शोक है कि सत्यार्थ प्रकाश में यजर्वेद का

यह मन्त्र नहीं दिखाया जो कि मन्त्र दिखलाया है यह मन्त्र खिलाफ़ है जिसका ज़िक्र ऊपर आलिया और यह तो बिलकुल सफ़ाई करने वाला है इस लिये कैसे दिखला सकते थे यह हम नहीं समझते धर्म में क्यों आघात किया जाता है ॥

॥ प्रमाण सत्यार्थ प्रकाश ॥

नं० ३२

पृष्ठ ४१ तक जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शूद्र हो तो उस को मन्त्र संहिता छोड़ कर पढ़ावे और उसका उपनयन भी न करावे ॥

नं० ३३

पृष्ठ २८७ जैसा रुधिर मांस ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही चाण्डाल आदि के फिर उन के हाथ की रसोई में क्या दोष है

उत्तर—दूषण है क्यों कि उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्ध आदि दूषण रहित रज वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीरमें नही क्यों कि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परिमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं इस लिये ब्राह्मण के हाथ का खाना चाहिये (चाण्डाल) भङ्गी, चमार, नीच के हाथ का नहीं जैसे चमड़े का शरीर माता, कन्या पुत्र बधु का है वैसा ही अपनी स्त्री का है तो क्या उन से स्त्री के समान बिषय करेंगे जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख मे खाया जाता है और दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खावोगे ॥

नं० ३४

पृष्ठ २७६ ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अपनी सन्तानों का निषेक आदि संस्कार करावें पंक्ति १२ ॥

नं० ३५

पृष्ठ २८५ पंक्ति २ में मद्य मांसा हारी म्लेच्छ जिन का शरीर मद्य मांस से परिपूरित है उन के हाथ का न खावे ॥

नोट—नंबर ३१ से ३५ तक जो तहरीर है वह ख़ास स्वामी दयानन्दजी की है इस से ज्यादा हम क्या दिखला सकते हैं जिस से शूद्र का संस्कारादि न होना वेदों का न पढ़ना और शूद्रों के हाथ का न खाना वगैरह बख़ूबी साबित है दूसरे वेद मन्त्र के मुताबिक होने से बिलकुल प्रमाण के काबिल है इस के ख़िलाफ़ जो तहरीर आज कल के विद्वान् पुरुषों ने लिखी है वह मेरी राय में तहरीर मज़कूरा के ख़िलाफ़ होने से बिलकुल कपोल कल्पित है और वेदों के विरुद्ध होने से हरगिज़ माननीय नहीं हो सकती और जैसे खुलासा हरफों के प्रमाण हमने दिये हैं अगर कोई साहब कमअज़ कम एक ज्यादः से ज्यादः तीन उन शास्त्रों के जो कि स्वामी दयानन्द ने मन्जूर किये है देंगे तो बड़ी खुशी से अगर मानने के लायक होंगे मन्जूर किये जावेंगे नहीं तो जवाब जरूर दिया जावेगा हम ऐसा न करें गे जैसा कि स्वामी दर्शना नन्द जलसा कांगड़ी वगैरह को ख़त रवाने किये परन्तु किसी ने भी उत्तर न दिया स्वामी दर्शना नन्द ने बड़ी मुश्किल सेदो या तीन दफ़े उत्तर दियेथे मगर सिवाय टालमटोल के कुछभी नतीज़ा न निकला अफ़सोस कांगड़ी के जलसे में एक रजिष्ट्री लिफ़ाफ़ा

रवाने किया जिस की रसीद रजिष्ट्री दस्तखत होकर हमारे पास आलई जवाब न आने से पुनः खत रवाने किया उस के जवाब में यह लिखा कि यहां कोई रजिष्ट्री नहीं आई महीना अक्टूबर सन् १९१० ईस्वी में एक पत्र लाहौर की आर्य समाज को प्रेषण किया जिस में लिखा था कि जो पुस्तक पण्डित रामचन्द्र जी शास्त्री ने सम्वत् १९६६ वि० में बनाम पण्डितों की शुद्धि छप वाई है उस में मुझ को कुछ बातें पूछनी हैं यदि आप नाराज़ नहीं और उत्तर दें तो लिखा जावे वहां से भी जवाब के लिये मौनावलम्बन अर्थात् जवाब कुछ नहीं मिला। मैंने कार्ड रवाने कियेथे जिनका कोई सबूत नहीं है परन्तु उत्तर देना सभ्यों की शोभा है यदि पोष्ट कार्ड न पहुंचते तो वापिस आते सो भी नहीं परन्तु न पहुंचनातो मुमकिन नहींहोता सो ऐसा मैं कदापि न करूंगा अपनी बुद्धि के अनुसार जवाब दूंगा हां क्षमा भाव से असभ्यता को कोई पसंद नहीं करता मैंतो केवल सब महानु भावों का सेवक होकर प्रार्थना कर रहाहूं आचार की जगह अनाचार दूर करने के लिये सिवाय इसके और कोई मतलब नहीं ॥

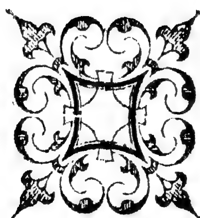
॥ नतीजा ॥

यह बखूबी सिद्ध होगया है कि शूद्र का संस्कार आदि योग्य नहीं हैं और हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी से द्वेष भाव हो या किसी को हम बड़ा कहें किसी को छोटा किसीको अच्छा और किसी को बुरा ॥

खास मतलब यह है कि सब से परम प्रीति का बरताव रखना चाहिये और दिलोजान से मेल व परोपकार करना चाहिये जहां तक अपने से होसके दखी और निर्धन पुरुषों के साथ

बहुत ज्यादे प्रेम करना चाहिये इस बात का अभिमान न करे कि मैं कुलीन हूं पण्डित धनवान बलवान धीवान आदि २ किसी प्रकार का अहंकार न करना चाहिये हमेशा धर्म में दृढ़ रहनना ओर सब को उपदेश देकर सत पथ पर लाना यही धर्मज्ञ जीवों का महात्म्य है और शास्त्रों के अनुसार यथोचित्त खान पान सम्बन्ध रिश्तेदारी और सत्य धर्म का सेवन करना चहिये यह नहीं कि भृष्टाभृष्ट होजावे और इसी तरह शूद्र जातियों को भी अपने २ आचरण पर दृढ़ रहकर बिरुद्ध अभिमान न करना चाहिये क्योंकि जो २ अपनी मर्यादा के तरीके पर रहेगा वही नफ़ा उठावेगा जो इसके बिरुद्ध (खिलाफ़) करेगा वह ईश्वर की आज्ञा भंग करने से नर्क का अधिकारी होगा ॥

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः



अध्याय दूसरा

॥ मुक्ती के विषय में ॥

आज कल हमारे समाजी भाई बड़े ज़ोर से कोलाहल मचा रहे हैं कि जीव मुक्त होकर फिर लौट आता है लेकिन हमें बड़ा शोक और सन्देह यह है कि स्वामी दयानन्दजी के समय से यह बात क्यों पैदा की गई क्योंकि पूर्व के जो आचार्य विद्वान् व देव ऋषी जिन के द्वारा वेद प्रकाश हुआ किसी ने ऐसा नहीं लिखा. तथापि सबने बड़े ज़ोर से यह लिखा कि मुक्त होकर जीव जन्म मरण से छूट जाता है और इसी के अनुसार स्वामी दयानन्द की भी सैकड़ों तहरीर (लेख) नहीं लौटना साबित कर रहीहैं और मुक्ति न्याय प्रमाणादि सेभी नहीं लौटना साबित होता है हम नहीं लिख सकते कि आया हमारे समाजी बन्धु दरअसल सच मान कर ज़ोर दे रहे हैं अथवा पक्ष से ऐसा कहते हैं हमारी राय में धर्म मे पक्ष करना महा पाप का बन्धन है हमारे पास बहुतायत से ऐसी तहरीर मौजूद हैं कि जिनसे नही लौटना बिलकुल साबित है जिनमें कुछ प्रमाण अगाड़ी दिखलाये जायेंगे और वह दृष्टि गोचर कराये जावेंगे कि जिनको स्वामी दयानन्द या उन के चेले समाजी मंजूर करते हैं, जिनके देखने से सब को व खुशी ज़ाहिर होजावेगा कि मुक्ती से जीवका न लौटना। परन्तु प्रथम मामूली बात जो कि आज कल के विद्वान् पैदा करते हैं और सत्यार्थप्रकाश में भी ज़ोर दिया गया है उनको दिखलाते हैं ॥

प्रथम यह है कि स्वामी दयानन्द ने जो प्रमाण सत्यार्थप्रकाश

में दिये हैं वह मोहम्मिल और अप्रमाण मालूम होते हैं और मतलब भी उनका और है लेकिन् स्वामीजी ने उनसे ही अपना मतलब पुष्ट करलिया। और जो कुछ कमी बेशी रदो बदल स्वामी जी ने उन प्रमाणों में की है उसका खुलासा हाल मनीषी जगन्नाथ दास मुरादाबाद निवासी ने अपनी मुक्तिप्रकाश नामक पुस्तकमें जो सन् १८९९ ईस्वीमें तैयार की है उस में बहुत अच्छी तरह से दरसाया है अतएव यहां पर लेख बढ़जाने के भय से नहीं लिखागया जिन महानुभावोंको देखनेकी इच्छा हो वह मुक्ति प्रकाश नामक पुस्तक मगाकर देखलें ऊपर पता लिखागया है यदि मेरे से कोई पूछेंगे तो मैं खुलासा लिखकर भेजदूंगा। और दूसरा सवाल वह यह कहते हैं मुक्ति से जीव न लौटता तो संसार खाली होजाता ॥

उत्तर—जो चीज़ ईश्वर ने अनन्त बतलाई वह कम कैसे हो सकती है यदि कम हो जावे तो अनन्त कहना झूठा हुवा दूसरे दिशा और आकाश का प्रमाण अनन्त है, कोई मनुष्य चांहे किसी दिशा को हज़ारों कोस रोज़ राह चले परन्तु दिशा का अन्त न होगा यदि यह कहो कि वह समाप्त होजावेगी तो बतलाइये अगाड़ी क्या चीज़ आवेगी। तीसरा प्रमाण यह है कि एक घंटे को चाहे एक ज़माने तक रात दिन पीटते रहें अवाज़ बराबर निकलती रहेगी सोना हमेशा से निकलता है अनन्त सृष्टि होलीं सब में खर्च हुआ परन्तु कुछ भी कम न हुआ॥ इसी तरह सदैव खर्च होता रहेगा परन्तु कम किसी समय न होगा अर्थात् अभाव न होगा इसी प्रकार जीव अनन्त होने से किसी वक्त कम नहीं होसकता। पांचवें काल द्रव्य यानी रफ़तार ज़माना भूत भविष्य वर्तमान अनन्तानन्त होलिया और आइन्दा होगा

मगर अनभाव किसी वक्त न होगा इसी प्रकार और और बहुत सी मिसालें मौजूद हैं ॥

तीसरा प्रश्न—यह कहते हैं कि जीव मुक्ति से न लौटता तो मुक्ति क़ैदख़ाना होती ॥

जवाब—देखना चाहिये कि चाहे किसी किस्म का क़ैदखाना हो मगर दो बात एकपर वस दूसरी आकुलता जरूर ही पावेगी और यही दोनों दुःख का मूल हैं और इन से मथक होना यानी स्वतन्त्रता और निराकुलता इसी को मोक्ष कहते हैं और मुक्ति में यह दोनो बात मौजूद हैं फिर न मालूम मुक्ति क़ैदखाना क्यों बतलाई गई ॥

चौथा प्रश्न—यह कहते हैं कि खट्टे के वाद मीठा और मीठे के वाद गट्टा खाया जावे तो जव स्वाद मालूम हो सकता है जो ऐसा न करें तो स्वाद क्या मालूम हो ॥

जवाब—जबकि मुक्ति जीव हर तरह स्वतन्त्र कोई कामना बांकी न रही और ईश्वर के अनन्त प्रकाश में प्रकाश मात्र होगया समस्त रसों को प्राप्त होगया तो फिर उसपर यह सवाल कैसे आयद हो सकता हैं हरगिज़ नहीं ॥

पांचवा प्रश्न—यह करते हैं कि ईश्वर जितनी शक्ति दिखाता है उतना ही बोझ देता है इस लिये जीवों में इस कदर ताक़त न थी कि हमेशा मुक्ति के बोझ बरदाश्त करता ॥

जवाब—यह सवाल सब से बढ़ कर दानाई ज़ाहिर करता है यह नहीं मालूम होता कि मुक्ति में ऐसा क्या ज़ोर बोझ पड़ रहा था कि जीव न लौटता तो नुक़सान उठाता दूसरे यह सवाल उस पर मौजू हो सकता था कि प्रथम यह दिखाते कि अमुक समय अमुक जीव को ईश्वर मुक्त रखना चाहा परन्तु

वह बरदाश्त न कर सका इस लिये यह प्रश्न ग़लत है ।.

छटा प्रश्न–यह करते हैं कि जीव का कर्म से अनादि काल का सम्बन्ध है अतएव प्रथक नहीं होसकता ॥

जवाब–जैसे चावलों से तुषोंका और सोने से मिट्टी का और तिलों से तेल का मिलाप अनादि से हैं परन्तु कारण मिलने से पृथक् होता है इसी तरह जीव का कर्म से बाकी इसका सबूत अगाड़ी प्रमाणों से दिया जावेगा ।

हमारी सम्मति में मुक्ति से लौटना किसी प्रकार साबित नहीं होसकता. हमने सुना भी है और मुक्ति प्रकाश में मनीषी जगन्नाथ जी ने भी लिखा है कि स्वामी जी अव्वल (प्रथम) मानते थे कि मुक्ति से जीव नहीं लौटता परन्तु जालन्धर में एक यवन से विवाद हुवा वहां पर कारण बश से स्वामी जी से उत्तर न बना. इस लिये उन्होंने अर्थात् स्वामी जी ने फिर यहां कहा कि जीव लौटता है बरन बेशक संसार खाली होजाता और यह भी सुना गया कि इन्द्र मणि जो स्वामी जी के शिष्य थे उन्होंने बहुत मने किया परन्तु स्वामी जी न माने यह बल्कि इस वजह से बखूबी सही मालूम होता है कि स्वामी जी की बहुत कसरत से तहरीर नहीं लौटना साबित कर रही है देखो ऋगवेदादि भाष्य भूमिका मे जिस जगह जहां ख़ास मुक्ति प्रकर्ण लिखा है उस में सब जगह नही लौटना सिद्ध किया है ऐसे ही यजुर्वेद आदि बहुत जगह। शोकयह है कि स्वामी जी ने साबक़ा तहरीरों पर कुछ भी ध्यान न दिया ॥

इस से ज्यादह अफ़सोस यह है कि आजकल के आचार्य इस क़दर तहरीर और प्रमाण होते हुए भी उसी लकीर के फ़क़ीर हो रहे हैं। अगाड़ी प्रमाण लिखे जाते हैं ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रमाण यजुर्वेद भाष्य किया हुआ स्वामी दयानन्द जी

नंबर १

पृष्ठ २१३१ अ० १९ ऋचा ७२ जो उत्तम शील और विद्वानो के संग से शुभ लक्षणो को प्राप्त होते हैं वे मृत्यु के दुःख को छोड़ कर मोक्ष सुख को ग्रहण करते हैं ॥

नं० २

पृष्ठ ८१४ अ० ३१ ऋचा १८ परमात्मा को जान के ही मरण आदि अथाह दुःख सागर मे पृथक् हो सकते हैं ॥

नं० ३

पृष्ठ ९३६ अ० ३३ ऋचा ६० जो सिवाय ईश्वर के दूसरे की उपासना नहीं करते वे बन्धन को छोड़ मोक्ष को प्राप्त होते हैं

नं० ४

पृष्ठ १०८० अ० ३५ ऋचा ४ मनुष्य को चाहिये नित्य परमात्मा की उपासना कर आत्मा परमात्मा केसंयोग से उतपन्न हुए नित्य सुख को प्राप्त हो ॥

नं० ५

पृष्ठ १०९८ अ० ३५ ऋचा १० जो मंगलकार्य आचर्ण करे वह दुःख के सागर से पार हो ॥

नं० ६

पृष्ठ ११०४ अ० ३५ ऋचा १४ परमात्मा साक्षात के जान मोक्ष को पाकर निरन्त आनन्द होते हैं ॥

समीक्षा—यह लेख खास यजुर्वेद का है इसी तरह सैकड़ों प्रमाण इस में विद्यमान हैं मगर अफ़सोस एक जगह भी स्वामी जी ने यह न लिखा कि मुक्ति से जीव लौटता है ॥

हवाला ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका स्वामी दयानन्द कृत

नं० ७

पृष्ठ ८९ जो आनन्दाकार परमेश्वर को जानता है वही उस को प्राप्त होकर सदा मोक्ष सुख को भोगता रहता है पंक्ति अंतिम दोमे यह लेख है ॥

नं० ८

पृष्ठ १३१ पंक्ति ४ से लगाय १० ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे सब दुःखों से छूट कर सब मनुष्यों में अत्यन्त पूजनीय होते हैं जहां बिज्ञानी लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उस को मोक्ष कहते हैं क्यों कि उस से निवृत्त हो कर संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते इस अर्थ में निरुक्ताकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के आनन्द प्रकाश में सदा रहते हैं उन को अन्धकार कभी नहीं होता ॥

नं० ९

पृष्ठ १३४ उस परमात्मा को जान कर और प्राप्त हो कर जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र दुःख से छूट कर परमानन्द स्वरूप मोक्ष को पाप्त होता है ॥

नंबर १०

पृष्ठ १३५ उस परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत् निश्चय से मोक्ष सुख को प्राप्त होकर जन्म मरण आदि आने जाने से छूट कर आनन्द में सदा रहते हैं॥

नं० ११

पृष्ठ १३५ उस से वह दुःखसागर में फिर कभी नहीं गिरते॥

नं० १२

पृष्ठ १६१ पंक्ति ११ हम लोग परमानन्द स्वरूप मोक्ष सुख को सब दिन के लिये प्राप्त हों॥

नं० १३

पृष्ठ १६४ पंक्ति १८ मोक्ष सुख देकर सदा के लिये आनन्द युक्त कर देगा॥

नं० १४

पृष्ठ १८७ पंक्ति ४ ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं॥

नं० १५

पृष्ठ १६१ पंक्ति १७ बन्धन से छूट कर जीव मुक्त होता है॥

नं० १६

पृष्ठ १६२ पंक्ति १ लगायत सात जन्म मरण का जबक्लेश दूर होता है तब मोक्ष होती है पंक्ति ७८ सब दुःख बन्धन से छूट कर मुक्त होता है॥

नं० १७

पृष्ठ १६७ पंक्ति १० आख़ीर ५ मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं॥

नंबर१८

पंक्ति १० व १२ ब्रह्म चर्य धर्म स्नान से ही विद्वान्न लोग जन्म मरण को जीत के मोक्ष सुख को पाते हैं

नं० १६

पृष्ट २७६पंक्ति १६ जिसकी प्राप्ती से जीव पुनर दुःख में कभी नहीं गिरता पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥

नं० २०

पृष्ट ३१६ पंक्ति १४ सब दुःखों से रहित होकर मुक्त होजाते हैं ॥

नं० २१

पृष्ट३१८ पंक्ति ८ दुःख सागर को तिर के सुख को प्राप्त होते हैं पंक्ति ११ जीवात्मा शुद्ध होकर पार हो जाता है पंक्ति २७ सर्व दुःखो से तिर जाते हैं ॥

नं० २२

पृष्ठ ३१६ पंक्ति १४ से १६ तक योग करने से जीव शुद्ध हो जाते हैं फिर परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं ॥

नं० २३

पृष्ठ ३३६ पंक्ति २० से लगाय २५ तक जो वेदों के अर्थ को जानता है वह अधर्म से छूट कर जन्म मरण के दुःख को त्याग करके सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है क्यों कि जो ज्ञान से पवित्र आतमा है वह सर्व दुक्खों रहित हो कर मोक्ष पाता ॥

नं० २४

पृष्ठ १८५ आत्मा के ज्ञान का आवर्ण यानी ढकना जो अज्ञान है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है मोक्ष तक पहुंता है ॥

नं० २५

पृष्ठ १९० पंक्ति अखीर ४ से ७ तक अविद्या जन्म मर्ण दुःख सागर में सदा डुबोती है जब वह दूर हो जाती है तब मोक्ष हो जाती है ॥

नं० २६

पृष्ठ ४३ पंक्ति ८ परमपद अर्थात् मोक्ष है जिस में परब्रह्म को प्राप्त हो कर सदा सुख में रहता है और सर्व आनन्दों से युक्त दुक्खों से रहता है ॥

नं० २७

पृष्ठ ४७ पंक्ति ३ से ६ तक मोक्ष अर्थात् सर्व दुक्खों से छूट के केवल परमेश्वर ही की प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत करना वही निशकाम मार्ग कहाता है क्योंकि इस में संसार भोगों की कामना नहीं की जाती इसी कारण से इस का अक्षय है ॥

नं० २८

पृष्ठ १९२ पंक्ति १६ से २१ तक केवल मोक्ष लक्षण यह है कि पुरुषार्थ अर्थात् कारण के सतो, रजो, तमो और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ मे नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्ध यथावत् हो के स्वरूप प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही सुभाविक शक्ति और गुणों से यक्त होके शुद्ध स्वरूप परमेश्वर

के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहता है उसी को केवल मोक्ष कहते हैं ॥

नोटः—इस के ज्यादे और क्या दिखा सकते हैं यह भाष्य भूमिका चारों वेदों की जड़ और कुञ्जी है ख़ास स्वामी दयानन्द जी की भाष्य की हुई है अर्थात् स्वामी जी की इक़बाली डिगरी है मेरे प्यारे मित्रो उक्त लेख को एक बार दुराग्रह को छोड़ अवलोकन कीजिये इस से जीव का मुक्तिसे नहीं लौटना साफ़ ज़ाहिर है और यहां तक खुलासा लिखा कि जीव मुक्त हो कर कभी नहीं लौटता नम्बर ८ में निरुक्तकार का प्रमाण भी मौजूद है और नम्बर २१ व २४ व २५ से अलावा न लौटने के सवाल ६ जो सफ़े २८ पर हैं हल हो सकता है अलावा इस के बहुत जगह व ख़ास पृष्ठ ११२ पंक्ति ६ कभी नहीं लौटना साफ़ लिखा है ॥

प्रमाण सामवेद भाष्य किया हुवा स्वामी तुलसी रामजी

नं० २६

पृष्ठ ५० मोक्ष होने से मनुष्य की मृत्यु छूट जाती है ॥

संस्कार विधि भाष्यकार स्वामी दयानन्दजी

नं० ३०

पृष्ठ २२० हे परमेश्वर मुक्ति दे जहां किसी प्रकार की इच्छा नहीं पूर्ण तृप्ति है सब कामना और अभिलाषा छूट गई ॥

समीक्षा—नम्बर २९ मृत्यु छूट गई यह वचन सामवेद का है नम्बर ३० जब अभिलाषा न रही फिर क्या ज़रूरत लौटने से थी ॥

प्रमाण सांख्यदर्शन स्वामी दर्शनानन्दका भाष्य किया हुवा

नं० ३१

पृष्ठ १५ सूत्र १०७ अध्याय १ जब पुरुष सत्य ज्ञान को प्राप्त होजाता है तब दुःख सुख दोनो नहीं रहते हैं ॥

नं० ३२

पृष्ठ ३६ सूत्र १६० अ० १

प्रश्न—मोक्ष का क्या स्वरूप है

उत्तर—मुक्ति में पुरुष को संसारी दुःख सुख नहीं रहता नित्य सुख रहता है ॥

नं० ३३

पृष्ठ ४५ अ० २ सूत्र ३४ व ३५ जीव के मन की वृत्तियों के यानी मैल के दूर होने से जीव असली हालत में होजाता है जैसे स्फटिक के समीप काला पीला रंग रखने से वैसाही दिखाई देता है और उनके दूर होनेसे बिलकुल साफ ॥

नं० ३४

पृष्ठ ६५ सूत्र ११७ अ० ५ मोक्ष में बन्द नहीं रहता ॥

नं० ३५

पृष्ठ ९८ अ० ६ सूत्र ५ दुःख बिलकुल दूर होने से मोक्ष होता है ॥

नं० ३६

पृष्ट १०० सूत्र ६ मोत्त सुख में दुःख क्लेश नहीं रहता।

नं० ३७

पृष्ठ १०० अ० ६ सूत्र १० मुक्ति में आत्मा निर्गुण रहता है।

नं० ३८

पृष्ट १०० सूत्र १२-१३ अविवेक यानी अज्ञान प्रवाह रूप से अनादि है नित्य नहीं है यदि नित्य होता तो मुक्ति न होती इस लिये प्रवाह रूप अनादि नित्य है।

नं० ३९

पृष्ट १०० सूत्र १४ अज्ञान कारण से नाश हो जाता है।

नं० ४०

पृष्ट १०१ सूत्र १७ इस से बिलकुल साफ़ मुक्ति से जीव नहीं लौटता।

समीत्ता—विद्वान् पुरुष विचार सकते हैं इस क़दर तहरीर सांख्यदर्शन से क्या साबित होता है मूल मन्त्र यदि पढ़े जावें तो बहुत काफ़ी इत्मिनान हो सकता है और इस सांख्यदर्शन के प्रमाणों से सवाल छटा जो सफ़े २८ पर है बिलकुल हल हो सकता है।

प्रमाण न्याय दर्शन द्वितीय भाग भाष्य स्वामी दर्शनानंद कृत ।

नं० ४१

पृष्ठ २१७ आत्मा धर्म कर के स्वर्ग मोक्ष हासिल करता है पाप से नर्क और जिस्मों का तअल्लुक नाश होने से मोक्ष होती है

नं० ४२

पृष्ठ २३४ आत्मा जन्म और मौत के सिलसिले से पृथक् हो जाता है ।

प्रश्न—जब आत्मा में ज्ञान और परिवर्तन मौजूद रहता है तो कर्म किस तरह बन्द हो जाते हैं।

जवाब—आत्मा में उलटा ज्ञान और ख्वाहिश नहीं रहती तो उसके कार्य प्रवृति से पैदा होने वाले कर्म होते ही नहीं कर्म ख्वाहिस और नफ़रत से होते हैं जब वह दोनों न रहे फिर कर्म कैसे हो सकते हैं क्यों कि कारण ही से कार्य्य पैदा होता है इस वास्ते जब तत्वज्ञान हो जाता है तब आत्मा संसार चक्र से अलाहिदा हो जाता है ।

नं० ४३

पृष्ठ २६९ वैराग्य होने से विषयों की ख्वाहिश नुक़सानी

दूर हो जाती हैं ख्वाहिश के नाश होजाने से जीव सब दुःखों से छूट जाता है जो संसार में विषयों की ख्वाहिश छोड़ देता है वह मौत और पैदायश के दुख से छूट जाता है।

नं० ४४

पृष्ठ २८१ जो पाप न करके सिर्फ़ परोपकारी धर्म को करे वह किसी तरह भी जन्म मरण के दुःख नहीं भोग सकता क्यों कि दुख पाप का फल है जिस के पाप न हो और पुण्य का अभिमान न हो वह किस तरह बन्धन में आ सकता है।

नं० ४५

पृष्ठ २८४ मिथ्या ज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश प्रवृति के नाश, से कर्मो का नाश, कर्मो के नाश से जन्म मरण का नाश, जन्म मरण के नाश से दुःख का नाश दुःख के नाश, से मोक्ष होता है।

नं० ४६

पृष्ठ ३०५ सब दुखों से निवृत्त होना मोक्ष है सब दुःखों का बीज और मकान जिस्म है सो जिस्म का मोक्ष में नाश हो जाता है इस लिये मोक्ष में दुःख के बीज के न होने से दुःख पैदा नहीं होता।

समीक्षा—इस न्याय दर्शन के हिस्से को कुल देखा मगर कोई सूत्र ऐसा न मिला कि जिस से लौटना साबित हो तथापि सबसे नहीं लौटना बखूबी साबित है यहां पर मामूली इबारत दिखलाई गई है, तमाम पढ़ने से अच्छा रहस्य पैदा होता है।

प्रमाण ऋग्वेद भाष्य स्वामी दयानन्द कृत ।

नं० ४७

पृष्ट ३६८ मं० ३ अ० ६ सूत्र १४ जो ईश्वर की आज्ञा को यथावत पालन करते हैं वेही सब दुःख वन्धनों से अलग होकर सुखों को निरन्तर प्राप्त होते हैं कभी दुखी नहीं होते।

नं० ४८

पृष्ट २० मं० १ अ० १ मनुष्यों को ईश्वर की आज्ञा में रहने से अक्षय अर्थात् जिस का कभी नाश नहीं होता वह धन प्राप्त होता है ।

समीक्षा—इस से ज़्यादा क्या दिखला सकते हैं यह वचन ऋग्वेद के हैं मानना न मानना अपनी २ बुद्धि के अनुसार है

वैशासिकदर्शन के प्रमाण

नं० ४६

पृष्ट ४ मोक्ष किसको कहते हैं?

उत्तर—दुःख की निवृत्तिका नाम मोक्ष है।

नं० ५०

पृष्ट ५ जीव इस शरीर से अलग हो कर परम प्रकाश परमेश्वर को ज़ानकर जन्म मरण से रहित होता है ।

नं० ५१

पृष्ठ १०४ पूर्व सूत्र में जन्म मरण का लक्षण प्रति भाव कहा है वह प्राप्ति भाव मोक्ष में समाप्त है ॥

नोट—इस में और बहुत सी जगह नहीं लौटना पुष्ट किया और लौटना एक जगह भी नहीं। हमने बहुत मुख्तसिर इबारत और बहुत थोड़े प्रमाण दिखाये हैं ॥

योगदर्शन भाष्य पं० तुलसीराम समाजी ।

नं० ५२

पृष्ठ १२ मुक्ति में जीव सर्वज्ञ होता है न किसी क़िस्म का मैल न रुकावट है ॥

नं० ५३

पृष्ठ ६२ जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है मुक्ति में जाकर छूट जाता है सिवाय मुक्ति और तरह छूट नहीं सक्ता ॥

नं० ५४

पृष्ठ ६६ स्फटिक का दृष्टान्त देकर ज़ाहिर किया है कि आत्मा शुद्ध है चित्त की मलीनता से मैला हो रहा है ॥

नं० ५५

पृष्ठ ६६ मुक्ति में किसी क़िस्म का मैल नहीं रहता ।

नं० ५६

पृष्ठ १०० जीव का असली स्वभाव ज्ञान नहीं है अविद्या रूपी ढकने से ढका है इस लिये ज्ञान नहीं होता अपने आप को भूल रहा है सो योग करने से वह कर्म दूर हो सकते हैं तो फिर चैतन्य को असली हालत में अनन्त ज्ञान हो सकता है और परमात्मा के रस को भोगता है।

नं० ५७

पृष्ठ १०२ मुक्ति में पुरुष को प्रकृति आदि का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता केवल दशा में ब्रह्मानन्द अनुभव रहता है।

नं० ५८

पृष्ठ १०४ गौतम आदि के हवाले देकर सिद्ध किया कि मुक्ति में सुख दुःख दोनों नहीं रहते और मुक्ति में निष्कर्म होना यह नहीं जानता कि कुछ कर ही नहीं सकता जैसे कोई आदमी बोल सकता है परन्तु बिना प्रयोजन बोले तो उसे गूंगा नहीं कहते ऐसे ही मुक्त पुरुष बिना मतलब कुछ नहीं करता किन्तु सब शक्ति रखता है पुरुष को संसार में कर्म करने की आवश्यकता और करने के साधन होने से कर्म कर्त्ता था। आवश्यकता और साधन दोनों ही मोक्ष में जाते रहे इस लिए न करता है और न करना चाहता है वेदान्त वग़ैरह हवाले देकर भी ऐसा ही सिद्ध किया गया है।

नोट—यह योगदर्शन तमाम देखा मगर किसी जगह मुक्ति से लौटना साबित न हुआ जो नम्बर हमने दिखाये हैं

उन से अलावा और भी मौजूद हैं, परन्तु हमने ज्यादह मज़मून बढ़ाना नहीं चाहा सिर्फ़ नतीज़ा दिखला दिया है विद्वान् पुरुष को इतनाहीं काफ़ी है अब हम उपनिषदों के प्रमाण देते हैं यह भाष्य किये हुए पण्डित भीमसेन के हैं और उस वक्त भाष्य किये थे जब कि स्वमी दयानन्द के चेले थे

वाजसनेयोपनिषद्भाष्यम्

नं० ५९

पृष्ठ ७ आत्मज्ञानीपुरुष शोक के पार हो जाता है।

नं० ६०

प्रारम्भ पृष्ठ ६ संसाररूपी सागर जन्म मरण आदि रूप प्रवाह में बहाने वाला नहीं होता।

नंबर ६१

पृष्ठ ९ इस प्रवाह से निकलने के लिये आत्मज्ञानी एक नौका है।

समीक्षा—इस तमाम उपनिषद् को देखा परन्तु किसी जगह मुक्ति से लौटना न पाया बल्कि तमाम इसी मतलब से भरा हुआ है कि नहीं लौटता पृष्ठ ३३ में बहुत साफ़ लिखा हुआ है।

तैत्तरीयोपनिषद्भाष्यम्।

नं० ६२ पृष्ठ ३८ हे ईश्वर! अपने स्वरूप में मिला कर

मुक्ति दे ।

नंबर ६३

पृष्ठ १३३ मुक्त पुरुष तदाकारवत् होने से ईश्वर संबन्धी पूर्णानंद का अनुभव करता है।

नंबर ६४

पृष्ठ १३४ जो वैराग्य कोटी पर पहुंच गया वही मुक्त होगा और उसी को परमात्मा के तुल्य आनंद प्राप्त हो गा ।

नोट—इसी उपनिषद में सब जगह नहीं लौटना साबित किया संस्कृत श्लोक पढ़ने से बहुत अच्छा आनन्द आता है ।

पृष्ठ १४० व १४१ पर अधिक आनंद ॥

ऋग्वेदीय तैत्तरीयोपनिषद्

नंबर ६५

पृष्ठ ३२ ज्ञान ही दुःख सागर से पार होने का उपाय है

नोट—इस में भी बहुत जगह नहीं लौटना साबित किया पृष्ठ ६८ पर साफ़ लिखा विस्तार भय से नहीं लिखा गया ।

कठोपनिषद् ।

नंबर ६६

पृष्ठ ४६ मुक्ति के अविनाशी सुख से ज्यादा कोई सुख नहीं

नंबर ६७

पृष्ठ १३२ जन्म मरण प्रवाह रूप दुःख से छूट जाता है,

नंबर ६८

पृष्ट १४७ जो ईश्वर के ज्ञान को जानता है वह विज्ञानी पुरुष उस ज्ञान के होने से फिर ग्लानि व निन्दा को प्राप्त नहीं होता ।

नंबर ६६

पृष्ट २०२ जन्म मरण से रहित हो जाता है ।

नं० ७०

पृष्ट २११ अनादि काल की विषय भोग की उत्कण्ठा योगाभ्यास से दूर हो जाती है तब विवेकी पुरुष जन्म मरण के प्रवाह रूप ग्रह से छूट कर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

नंबर ७१

पृष्ट २१८ निचकेता आचार्य्य से प्राप्त होके ब्रह्म को प्राप्त हुआ विरक्त और मुक्ति रहित जीवनमुक्त हुआ ॥

नोट—इस में बिलकुल नहीं लौटना साबित किया मगर भाष्य करने वालों का मनसा लौट आने का था इस लिए दो एक जगह अपनी अक्ल से लौटना लिखा मगर बिलकुल ख़िलाफ़ क़ायदे जिसका खुलासा लिखना फ़िज़ूल मज़मून बढ़ाना समझा गया इस लिये नहीं लिखा अलबत्ता अगर कोई साहब दर्याफ़्त करेंगे तो ज़रूर पता दिया जावेगा, मगर जहां तक ख्याल है उसको समाजी भी पसन्द नहीं करते इस लिये लिखा भी नहीं गया और एक ख़त पण्डित भीम सेन के पास रवाने भी किया था मगर उन्हों ने कुछ भी जवाब नहीं दिया ।

मुण्डकोपनिषद्

नं० ७२

पृष्ठ ११३ परमात्मा के तुल्य हो जाता है।

नं० ७३

पृष्ठ १३० मुक्तजीव सूर्य्य आदि लोकों में जहां चाहे वहां जाता है हर एक सुख लेता है जन्म मरण के दुःख को छोड़ कर मुक्ति पाता है।

नंबर ७४

पृष्ठ ७४ पृष्ठ १४० नहीं लौटता।

नंबर ७५

पृष्ठ १३३ योनि को प्राप्त नहीं होते मनुष्य शरीर के प्रसिद्ध कारण वीर्य में प्रविष्ट होने को छोड़ कर पृथक् हो जाता है फिर योनि में नहीं आते।

नं०७६

पृष्ठ १४४ मुक्त जीव को किसी जगह रुकावट भी नहीं है।

नोट इस में भी तमाम में लौटना नही साबित हैपृष्ट १४६ व-१४८ व १४६ आदि सब से नहीं लौटना पाया जाता है एक जगह इस में भी अक्ल से लौटना लिखा जिस का हाल उपरोक्त लिखित है।

तवल्कारोपनिषद् ।

नं० ७७

पृष्ठ २५ आत्मज्ञान से मुक्तपुरुष मृत्यु रहित जीवन मुक्त होता है ।

नोट—पृष्ट ५६ व २७ इत्यादि से बखूबी साबित है कि जीव नहीं लौटता हमारे पास लगभग ५० प्रमाण और इन्ही उपनिषदोंके मौजूद हैं परन्तु हम ने इस ख़याल से नहीं लिखे कि लेख हमारे अनुमान से अधिक न हो जाय जो जो नम्बर लिखे हैं वही काफ़ी है ।

न्यायदर्शन अनुवादित

स्वामी दर्शनानन्द जी कृत

नं० ७८

पृष्ट ७ तत्व ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है मिथ्या ज्ञान के नाश से राग द्वेशादि दोषोंका नाश हो जाता है और दोषों के नाश से प्रवृति का नाश हो जाता है और प्रवृत्ति के नाश हो जाने से कर्म बन्द हो जाता है और कर्म के न होने से प्रारब्ध का बनना बन्द हो जाता है प्रारब्ध के न रहने से जन्म मरण नहीं होते और जब जन्म मरण नहीं हुआ तो सुख दुःख किस तरह पर हो सकते हैं ।

नं० ७६

पृष्ट १८ वा १६ प्रश्न—मुक्ति क्या वस्तु है ?

उत्तर-दुःख के पंजे से बिलकुल छूट जाना, अर्थात् किस तरह का दुःख लेश मात्र न हो उसे अपवर्ग मुक्ति कहते हैं।

मनुस्मृति अनुवादित स्वामी तुलसीरामजी कृत

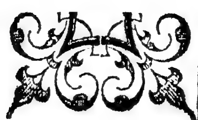
नंबर ८०

पृष्ट ३८ अध्याय २ श्लोक ८२ जो पुरुष गायत्री का जाप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है वायु वत् स्वतन्त्रता पूर्वक शरीर बन्धन से रहित हो जाता है।

नं० ८१

पृष्ट ६४ अध्याय २ श्लोक २४६ जो ब्राह्मण अखण्ड ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होगा और फिर पृथ्वी पर जन्म नहीं लेता।

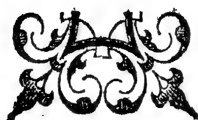
समीक्षा—यह बचन मनु महाराज के हैं। स्वामी तुलसीराम ने भाष्य किया जिस में खुलासा ज़ाहिर किया कि पृथ्वी पर जन्म न लेगा फिर इस से ज्यादह क्या दिखला सकते हैं इस में भी बहुत प्रमाण हैं परन्तु लिखे नहीं।



समझावट।

हमने जो इस में प्रमाण दिये हैं वह यजुर्वेद ऋग्वेद सामवेद भाष्य भूमिका आदि तथा वैशेषिकदर्शन योगदर्शन न्याय दर्शन सांख्यदर्शन संस्कार विधिः मनुस्मृति आदि २ उपनिषदों के हैं जो हमने स्वयं देखे हैं वही दिये गये हैं। इन से पृथक् और भी प्रमाण लग भग १५० छटे हुए मौजूद हैं आशय यह है कि तादात छोटे की वजह से की जाती है यद्यपि शास्त्र तो सब ही अद्योपांत से इसी बात को पुष्ट करते हैं कि जीव मुक्त हो कर नहीं लौटता बल्कि हमने रजिष्ट्री करा कर कांगड़ी के जलसे में भेजा था उसमें १३२ प्रमाण दिये गयेथे और इस पुस्तक में सिर्फ़ ८१ दिये गये हैं। जो मनुष्य पक्ष करने वाले हटग्राही हैं उन को १००० प्रमाण भी नहीं समझा सकते इस लिये धर्मज्ञ पुरुषों को चाहिये कि दुराग्रह को त्याग दें शास्त्रों के विरुद्ध आचरण और उपदेश से महापाप का बन्धन होता है जो उपदेश श्रवण किये जाते हैं वह इसी लिये किये जाते हैं कि अपना भला हो और सब जीवों का भला हो और मुक्तिप्रकाश पुस्तक में जगन्नाथ ने बहुत अच्छे प्रमाण दिये हैं जिनसे स्वामीदयानन्दजी की तहरीर बिलकुल खिलाफ़ साबित हो रही है और बहुत से शास्त्रों के व सत्यार्थप्रकाश साविक के प्रमाण देकर बखूबी सिद्ध किया है कि मुक्ति से जीव नहीं लौटता जो मनुष्य इस विषय के निर्णय करने के अभिलाषी हैं उन को यह पुस्तक ज़रूर देखनी चाहिये मूल्य सिर्फ़ ≈) हैं पता यह है मु० जगन्नाथ दीनदारपुरा मुरादाबाद

इसके अतिरिक्त मैंने जो जो प्रमाण दिये हैं वह कोई अपनी बुद्धि से नहीं दिये हैं और न दूसरे शास्त्रों के हैं बल्कि वह हैं जो कि खुद स्वामी दयानन्द या आधुनिक समाजी पण्डितों के भाष्य किये हुये और माननीय हैं और जिन में जगह २ यही लिखा है कि मुक्त जीव कभो संसार में नहीं आता योनि में नहीं आता पृथ्वी में नहीं आता सदैव मुक्त रहता है अर्थात् फिर बन्धन में नहीं पड़ता। जब ऐसा पुष्ट प्रमाण विद्यमाम है तो वृथा अलाप से क्या? प्रयोजन है इस से निश्चय हुआ कि मुक्ति से जीव नहीं लौटता स्वामीदयानन्द अथवा औरसमाजी पण्डितों का यह खयाल बिलकुल विपरीत मालूम होता है। प्रार्थना से हम कहते हैं कि समाजी भाई हमारा यह लेख अवश्य स्वीकार करें या हम को कम से कम अधिक से अधिक ३ लेख ऐसे दृष्टि गोचर करावें जिन मे यह साफ लिखा हो कि जीव मुक्ति से लौट आता है और वह लेख उन आचार्यों के हों जो कि स्वामी दयानन्द से पहिले हुवे हैं। जो ऐसे लेख कोई समाजी मेरे पास डाक द्वारा भेजें गे मैं उन को निःपक्षता से देखूंगा। और यदि न्याय प्राप्त होगा तो अवश्य अङ्गीकार किया जावेगा नहीं तो जवाब दिया जावेगा॥



प्रार्थना

हे ईश्वर ! परमात्मा आधुनिक जो मान्य पण्डित हैं इन के हृदय को स्वच्छ कर के पक्षपात रूपी गांठ को दूर कर क्यों कि जगत् के जीवों का निर्णय पण्डितों पर ही है। जैसे मार्ग पर वे चलाते हैं उसी मार्ग पर अज्ञान जीव चलते हैं इस लिये उनका हृदय शोधनीय है बाक़ी सब जीवोंको सुख और सुमति दो सिवा आप के और का सहारा नहीं हैं आपही मुक्ति दाता हैं इस लिये बारम्बार आप को नमस्कारहै।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिर्भवतु ॥

तृतीय पाठ

वृक्षों में जीव

वृक्षों में जीव का होना सब ही वर्ण के मनुष्य मानते हैं और लगभग हमारे समाजी भाई भी मानते हैं केवल स्वामी दर्शनानन्द जो कि नवीन समाजी आचार्य हैं वे और उन के चेले दरख्तों में जीव नहीं मानते जब कि स्वामी दर्शनानन्द निरपड़े में पधारे थे उनको बहुत से प्रमाण शास्त्रीय दिखाये गये थे उन्हों ने कहा यह ठीक हैं बहुत से आचार्य मानते हैं और बहुतसे स्वीकार नहीं करते और हम अपनी राय से वृक्षों में जीव का होना अङ्गीकार नहीं करते। यह केवल स्वामी-

दर्शनानन्द के ही मत में था किसी प्रमाण से नहीं इसी से विद्वान् सत्य असत्य का निर्णय कर सकते हैं। क्योंकि सामाजिक आचार्यों में उक्त स्वामी जी ही ऐसा कहते हैं और कोई नहीं इस लिये इस लेख को बढ़ाना हम उचित नही समझते और यह सब को प्रत्यक्ष मालूम होता है कि वृक्ष इष्ट का ग्रहण और अनिष्ट का परित्याग करते हैं अब शास्त्रों के प्रमाण देते हैं जिन से कोई शङ्का न रहेगी।

॥ तैत्तरीयोपनिषद् ॥

नं० १

पृष्ठ ८७ पृथ्वी पर ५८ वृक्ष आदि जमते हैं वे सब अन्न से ही उक्त प्रकार सब चराचर प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं।

नं० २

पृष्ठ १७७ जीव कभी भोक्ता है और कभी स्वयं भोग्य होता है अर्थात् जब वृक्ष आदि रूप होता है तब खाया जाता और जब मनुष्य होता है तब खाने वाला होता है।

ऋग्वेद व तैत्तरीयोपनिषद्

नं० ३

पृष्ठ ७९ कोई जीव सूर्य चन्द्र लोक से आकर पृथ्वी में जन्म लेते हैं वह वर्षा के द्वारा पृथ्वी में औषधि होते हैं और

अन्न औषधी आदिक के काट ने में किंचित् दुःख भी होता है अवस्था पूरी होने पर स्थावर शरीर को छोड़ देते हैं ॥

कठोपनिषद्

नं० ४

पृष्ट १७५ निकृष्ट मन से पाप कर ने वाले वृक्ष आदि अस्थावर योनियों को मरणान्तर प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद

नं० ५

पृष्ट ३६४ अध्याय ५ मन्त्र पहिला १ प्राणी के बिना कोई प्राणी व वृक्षादि पदार्थ बहुत काल शरीर धारण करने को सामर्थ नहीं हो सकते।

सांख्यदर्श-

नं० ६

पृष्ट ६३ प्रश्न—सृष्टि कितनी प्रकार की

उत्तर—मन्त्र १११ अध्याय ५ सृष्टि ६ प्रकार की एक वह

जो पसीने से पैदा होती है लीख आदि अण्डज मुर्गी आदिक जरायुज मनुष्य आदि उद्भिज वृक्ष आदि सांकलीप देव ऋषी शास्थक खान में धातु वगैरह

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

नं० ७

पृष्ठ २१७ हम संसार में दो प्रकार के जन्मों को सुनते हैं एक मनुष्य शरीर का धारण करना दूसरा नीच गति पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्षादि का होना

यजुर्वेद

नं० ८

पृष्ठ १६२ अ० १६ ऋचा २० राजाओं को चाहिये सेवकों की रक्षा और बन उपवनों को नहीं काटना चाहिये ।

सत्यार्थप्रकाश

नंबर ९

पृष्ठ २६९ जो चोरी, पर स्त्री गमन दुष्ट कर्म करता है उस

को वृक्षादि स्थावर का जन्म मिलता है।

पंक्ति ५ श्लोक ५ से नीचे

नं० १०

पृष्ठ २७१ जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वह अस्थावर वृक्षादि होते हैं।

मनुस्मृति

नंबर ११

पृष्ठ ३६६ श्लोक १४१ व १४२ फलदार वृक्षों के काटने वाला ऋचाओं का जाप करे।

नं १२

पृष्ठ १० श्लोक ४९ वृक्ष तमोगुण से होते हैं और दुःख सुख से मुक्त रहते हैं।

नंबर १३

पृष्ठ ३८८ अ० ११ श्लोक ६४ ईंधन के लिये हरे वृक्ष काटने नहीं चाहिये।

नंबर १४

पृष्ठ ४२९ अ० १२ श्लोक ५८ गुरु पत्नी से गमन करने

वाला कृतघ्ण आदि होता है।

नोट—और भी अनेक तहरीर मौजूद ह परन्तु यही काफी समझी गई यदि इन को कोई अप्रमाण साबित करदें तो हम और दिखला सकते हैं मगर ऐसा कोई कर नहीं सकता शास्त्रों के प्रमाणों से तो यह कदापि ग़लत होही नहीं सकते अक्ल से जो चाहे वह कह दिया जावे।

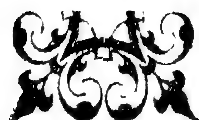
नतीजा।

वृक्षों में तथा सर्व प्रकार की सब्जी घास शाक वगैरह सब में जीव है इस लिये सर्व मनुष्यों को चाहिये कि (सब्ज) हरे वृक्ष न काटे देखो मुसलमान मज़हब में भी लिखा है कि जो हरे दरख्त काटता है वह कभी बख्शा न जावेगा। और इन्सान का गुण विवेक यानी अक्ल है यदि बुद्धिनहोतो इन्सान और हैवान में कुछ भी फ़र्क नहीं बल्कि इन्सान से हैवान अच्छा है, क्यों कि उसका चमड़ा वगैरह मरने पर भी काम आता है और मनुष्य के मरने के बाद कामतो क्या बल्कि कम अजकम एक रुपये की लकड़ी तो अवश्य ही लेता है दूसरे सींग और पूंछ दो चीज़ इंसान से ज्यादह हैवान के पाई जाती है सारांश यह है कि मनुष्य तारीफ़ ज्ञान से है मनुष्य को बड़ाई इस लिये दी गई है कि मोक्ष की प्राप्ति के सिवाय यह शरीर दूसरी परयाय को बेमोल खयाल कर के तमाम उमर धर्म ध्यान ईश्वर भक्ती में समाप्त करें और सब जीवों को आप समान जान कर दया करें जहां तक हो परोपकार का ध्यान राखें

क्यों कि अपना काम तो सब ही करते हैं और अपना पेट पशु पक्षी सब ही भर लेते हैं लेकिन जो दूसरों का पोषण का काम करे तारीफ उसी की होती है इसी लिये परोपकार दया भाव सच बोलना न्याय पूर्वक आचरण व्यवहारादि करना प्रेम रखना शुद्ध भोजन आदि रीति को ग्रहण करना यह मनुष्य जन्म पाने का धर्म है और चराचर जीवों पर दया और पालन मनुष्य का कर्तव्य है। और यह उपदेश देना कि इन में जीव नहीं तो मोया लोगों को बिलकुल निडर कर देना है और शास्त्रों के विरुद्ध होने से और हिंसा होने से महापाप का बन्धन होता है इस लिये सज्जन महोदय गणों से सविनय प्रार्थना है कि ऐसा उपदेश कदापि न दिया जावे।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ इति तृतीय अध्याय समाप्तम् ॥



चतुर्थ अध्याय

स्त्री को एकादश पति के विषय में

हमारे समाजी भाई ऐसा कहते हैं कि स्त्री को एक पति के मरने उपरान्त, दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी प्रकार ग्यारह तक पति कर सकती हैं। और यह भी कहते हैं कि यदि उस का मालिक किसी रोग में ग्रस्त होजावे तो वह ख़ूद अपनी औरत से कहे कि मैं तेरे क़ाबिल नहीं रहा, तू दूसरे को ख़्वाविन्द कर के औलाद हासिल कर, इसके साथ इतना और कहते हैं कि वह औरत विषय सेवन नियोग करे वा ख़ाविन्द से करे, और जब हमल क़रार पा जावे तो नये ख़ाविन्द को तरक करदे, अलबत्ता अगर वह भी ख़्वाहिश औलाद की रखता हो तो दूसरा हमल यानी आयन्दा साल उस के लिये और कामयाबी हासिल करे, बाद दूसरे हमल के जुदा करदे, और इस के अलावा यह भी कहते हैं कि जिसका ख़ाविन्द वास्ते तिजारत किसी मुल्क को चला जावे वह तीन साल तक न आवे तो वह औरत दूसरे शख़्स से नियोग कर के औलाद हासिल करले। जब असली ख़ाविन्द आजावे तब नियोग वाले खसम को छोड़ दे। इस तहरीर मज़कूरा वाला में अगर किसी को सुबा होवे तो उस को चाहिये कि ऋग्वेदादि भाष्य

भूमिका पृष्ट २२६ लगायत २२ तक देखें और सत्यार्थप्रकाश पृष्ट ११६ लगायत १२५ तक देखें ।

हमारी राय में यह तहरीर बिलकुल बे बुनियाद और वाहियात है, जिसको विद्वान् पुरुष सुन भी नहीं सकते और न किसी क़ौम या मज़हब में यह तरीक़ा पसंद हो सकता, हम अपने समाजी भाईयों से नम्रता पूर्वक क्षमा मांग कर प्रार्थना करते है कि इस तहरीर को धर्म की हानि कारक ख़याल करके पक्षपात न करे तो जैसे पेश्तर बहुत सी बातें ना मुनासिब समझ कर तरमीम कर दीगई वैसे इनको भी करदें और सत्यार्थप्रकाश वग़ैरह मे जो इस विषय को पुष्ट करने वाले प्रमाण शास्त्रों के नाम से देने में धर्मशास्त्रों की हंसी कराना है इस के सिवाय जिन शास्त्रों में ऐसे उपदेश हों वह पण्डितों की शैली में कदापि माननीय नहीं हो सकते । दूसरी बात ये है कि उन्ही शास्त्रों में जगह जगह यह लिखा है कि तमाम ज़िन्दगी दूसरे मर्द के दर्शन तक न करे, और सदाशील स्वभाव से रहे, फिर इस के ख़िलाफ़ प्रमाण कैसे माने जातेहैं कदापि नहीं । उपरान्त इस के दो एक प्रश्न जो इस मामले में समाजी करते हैं हम उनको दिखलाकर जवाब लिखते हैं,

प्रथम प्रश्न यह करते हैं कि जब मर्द को दूसरी तीसरी शादी की इजाज़त है तो औरत को क्यों नही ?

जवाब—जो जो क़ायदे न्याय पूर्वक बतलाये गये हैं उनहीं पर अमल करना वाजिब है, देखो मर्द पगड़ी बांधते हैं अङ्गा पहिनते हैं औरत ओढ़ना दावन क्यों पहिनती हैं ? और जिस तरह मर्द मुल्कों में अकेला घूम कर द्रव्योपार्जन करता है अपनी औरतों से क्यों नही कराता ? मर्दों के लिये दुकान

औरतों के लिए घर क्यों तजवीज हुआ ? मर्दों के लिए खलासी औरतों के लिये पराधीनता क्यों की गई ? हर एक जगह ऐसा लिखा देखा जाता है कि औरतों को चाहिये अपने खाविन्द की खिदमत करे क्यों लिखा गया ? मर्द को वीर्य्य दाता स्त्री को ग्रहण करने वाली क्यों लिखा गया ? इस के उपरान्त स्त्री यदि एक साल में सौ मर्दों के साथ भोग करे तो एक ही गर्भ हो सकता है मर्द अगर सौ औरतों से विषय करेगा तो सौ गर्भाधान का होना मुमकिन है ऐसी ताक़त क्यों रक्खी गई ? और इस से हमारा यह मतलब नहीं है कि मर्दों के लिये कोई पाबन्दी नहीं है पाबन्दी सब के लिये जुदे २ तरीक़े से है सिर्फ़ यहां पर, स्त्री मर्द में छुटाई बड़ाई दिखलाने का नतीजा है इस लिये लिखा है। इसी तरह बहुत सी मिसालें मिल सकती हैं कि जिन से स्त्री को हरगिज़ ऐसी इजाज़त नहीं हो सकती और न मर्द की बराबरी कर सकती

दूसरी बात यह कहते हैं कि विधवा स्त्री बहुत दुःख भरतीं हैं और पोशीदा गर्भपात व्यभिचार होते हैं, इस लिये नियोग होना लाज़मी अमर है ताके यह न हो,

जवाब—यह खयाल ग़लत है, दुःख सुख कर्म से होता हैं संसार में कौन सुखी है एक न एक तकलीफ़ हर एक को पाई जाती है इस लिये यह खयाल कि विधवा स्त्री का दुःख नियोग से दूर हो जावेगा ग़लत है और न उस के दुःख दूर कर ने का नियोग उपाय हैं यह तो सिर्फ़ विषयी पुरुषों ने अपना मतलब सिद्ध करने की गरज़ से लिखा है।

असल उपाय ईश्वर की भक्ति शील स्वभाव श्रेष्ट आचरण है और यह भी कहना है कि वे पोशीदा व्यभिचार करती हैं

सो भी ग़लत है क्या जिन के मर्द मौजूद है वे सब शीलवती सती, हैं हरगिज़ नहीं। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि बहुत सी विधवा स्त्री ऐसी हैं कि जो धर्म ध्यान कुछ भी नहीं जानती और बहुत सी ऐसी देखी जाती हैं कि उन के मालिक बहुत मज़बूत हृष्ट पुष्ट हैं सब तरह परिपूर्ण मौजूद हैं मगर उन की जा बजा से शिकायत सुनी जाती हैं फिर विधवाओं पर ऐसा दृष्टान्त क्यों दिया जावे, यह तो इन्सान की आदत व सोहबत के तअल्लुक़ की बात है और न इस ऐब को रोकने में नियोग की मिसाल काफ़ी हो सकती है बल्कि यह और खुलासा ऐब कराने का तरीक़ा है क्यों कि ग्यारह मर्तबत्र ख़ाविन्द करना आप इस ख़याल से कहते हैं कि इस में तमाम उम्र ख़तम हो जावेगी मगर जिन की ऐसी होनहार हैं कि दो चार वर्ष ही में ग्यारह को ख़तम कर देंगी और उम्र उनकी जवान रहेगी तो भी वह आप की ग्यारह की मियाद क्यों मंज़ूर करने लगीं और अगर आप ज़ोर देंगे तो वही पोशीदा ऐब व गर्भपात वग़ैरह की शिकायत होगी। मज़बूर फिर तादात और ज़ियादा करनी होगी इस लिये नियोग धर्मीय पुरुषों की शैली में हरगिज़ माननीय नहीं हो सकता और न धर्म शास्त्रों में गर्भपात का इलज़ाम भी विधवाओं पर झूंठा है वह भी सोहबत और अज्ञान दशा का प्रभाव है। अर्सा ४ साल के क़रीब हुआ होगा मेरे गांव में एक जुलाही के बच्चा पैदा हुआ, वह उसको भड़भूंजे के कवाड़ में दाब गई मुख़बर ने पुलिस को ख़बर दी, बच्चा जिंदा निकला औरत का चालान हुआ क्या जुलाही के नियोग न था ? उस की जाति में सब कराव करते हैं और उस के ख़ास देवर से हमल था फिर उस मे

ऐसा क्यों किया ? इसी तरह और वाक़े सुने जाते हैं इस लिये ख़ास विधवाओं पर इलज़ाम क्यों लगाया जावे ? हमारा जहां तक ख़याल है न सब विधवा स्त्री बुरी हैं, न सधवा सब अच्छी हैं इसी तरह सब पुरुष अच्छे हैं, न सब बुरे इस लिये सिवाय धर्म उपदेश और बात बृथा हैं।

बड़े ख़याल की बात यह है कि इस क़दर मने करते २ जीव पाप से नहीं डरते और उन को ख़ास ऐसा उपदेश ही दिया जावे तो फिर क्या कहने हैं इस लिये हरगिज़ नियोग वग़ैरह का उपदेश न होना चाहिये और यह कहना कि वह स्त्री न रह सके यानी मर्द की सोहबत बिदून न रह सके तो वह क्या करें तो देखिये अगर कोई यह कहे कि मुझ को मांस लादो तो हरगिज़ नहीं ला सकते इस लिये धर्म ही का उपदेश होना चाहिये, यानी शील स्वभाव का होना चाहिये बाक़ी जो जैसा करेगा वो वैसा भरेगा।

. तीसरे यह कहते हैं कि जो आप असमर्थ हो जावे तो अपनी औरत को दूसरों से भोग करा के औलाद हासिल कराले।

जवाब—इस में बहुत से ऐसा ख़याल करते हैं कि बिदून पुत्र के गति नहीं हो सकती सो यह बिलकुल ग़लत है, शास्त्रों में साफ़ लिखा है मुक्ति के लिये पुत्र हरगिज़ रुकावट नहीं हो सकता और न्याय प्रमाण आदि से भी ऐसा ही मालूम होता है दूसरे यह ख़याल करते हैं कि जब मर्द असमर्थ हो गया वह दुःख क्यों भरे इस के बारे में ऊपर मांस का दृष्टान्त दे चुके हैं दूसरे अगर चोर कहे मैं तो चोरी ही से खुश हूं मुझ को बड़ा भारी संताप है तो क्या राजा उस को चोरी की आज्ञा देदेगा, नहीं बल्कि सज़ा देगा, इसी तरह सत्य उपदेश होना

चाहिये दुःख सुख कर्म से होता है ॥

चौथे यह कहना है कि वह औरत नियोग करेवा ख़ाविन्द से विषय सेवन किया करै, और ख़िदमत असली ख़ाविन्द व असली व असली घर की किया करै।

जवाब—इस के बारे में हम क्या कह सकते हैं हमारी राय में ख़िदमत तो क्या करेगी ? हां अलबत्ता ज़हर वग़ैरह से गति यानी मृत्यु करदे तो कुछ मुज़ायका नहीं बाक़ी जो अमल में लावेंगे उन को ख़ुद ही जांच हो जावेगी ॥

पांचवे यह कहना है कि जो तीन बर्ष तक पति परदेश से न आवे तो दूसरा ख़ाविन्द करके औलाद हासिल करले जब असली ख़ाविन्द आ जावे उस को छोड़ दे।

जवाब—हम निहायत ताज्जुब में हैं शायद सोचा होकि आप देशान्तर से द्रव्य कमाकर ले आवे यहां औरत औलाद हासिल करले, दुनिया में धन और औलाद दो चीज़ ही की ख्वाहिश है सो दोनों पूरी होंगी लेकिन् यह न सोचा अगर पाप कर्म प्रबल हुआ और दोनों न हुई, यानी पति भी देशान्तर से टोटा निकाल कर चला आया और औरत भी मेहनत कर के बैठ रही और हमल न रहा तो फिर दोनों दीन से गई, इस लिये हम को लिखते हुए शरम मालूम होती है हमारी राय में जो विद्वान् धर्मज्ञ पुरुष हैं वह इस बात को मंज़ूर तो क्या सुन भी नहीं सकते यहां पर बिलकुल सफाई करदी ऊपर के सवाल में असमर्थता तो थी यहां पर उस की भी ज़रूरत न रही दरअसिल बिदून बरारी भी पूरी न हो सकती थी क्यों कि कौन असमर्थों को तालाश करता कौन दिक्कत उठाता और अगर असमर्थ होता और मिलभी जाता लेकिन् उसकी

औरत ना पसंद होती तो फिर भी दिक्कत रहती इस लिये आम हुक्म ही मुनासिब था, परदेश में जब जाते ही हैं तीन वर्ष में क्या बल्कि बाज २ और ज़ियादह अर्से में लौटते हैं हम को बड़ा आश्चर्य है कि सत्यार्थप्रकाश में सैकड़ों जगह ऐसा क्यों लिखा कि व्यभिचार (पाप) आदि न करो क्या इस तहरीर मज़कूरा से ज़ियादह कोई और अनर्थ व्यभिचार पाप है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अच्छे बुरे इन्सान मर्द औरत सभी कौम व मज़हब में पाये जाते हैं और बहुत से हमारे समाजी पण्डित विद्वान् न्यायवान् शीलवान् गुणवान् मौजूद हैं मगर फिर न मालम इस बात को धर्म के लिये ज़हर समझ कर क्यों नहीं काटते पम सच कहते हैं किजो शख्स विषयी हुए हैं उन्हो ने अपना मतलब गांठने के लिये, जो महान् आचार्य हुए हैं उन के नाम को धब्बा लगाया, मगर नहीं, जो विद्वान् हैं वे ज़रूर बिचार करेंगे कि हमारे आचार्य एसे नथे यह बनावटी झूंठी इबारत है इस के बारे में ज़ियादह लिखना मुनासिब मालूम नहीं होता सिर्फ़ इतना ही काफ़ी है कि जो कामी परस्त्री लम्पट पुरुष हैं उन का किसी हालत में ऐतबार न होना चाहिये कामी पुरुष आप नर्क में जावे और औरों को ले जावे कामी पुरुष आप मर जावे दूसरों को मार दे कामी पुरुष अपना द्रव्य खो दे दूसरों का नाश कर दे कामान्ध की उलटी रीति है जैसे किसी कवि ने कहा है ।

॥ दोहा ॥

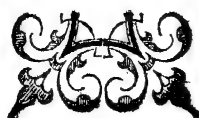
घूघू दिन नहिं देखता, काग न देखे रात ।
काम अन्ध नहिं देखता, क्या निशि क्या प्रभात ॥

बाक़ी बहुत अच्छा कौल है यानी उल्लू और काग दो जानवर बद्तर हैं मगर यह भी एक वक्त नहीं देखते हैं उल्लू दिन को काग रात को मगर जो कामी पुरुष हैं वह कोई वक्त नहीं देखता दर हक़ीक़त जब शरम उतर गई तो क्या करेगा कोई कामी पुरुष के सब विचार भ्रष्ट हो जाते हैं यदि उस को समझादे तो वह समझाने वाले को बेवकूफ़ ख़्याल करता है कामान्ध पुरुष के माता बहिन बेटी स्त्री किसी किस्म का विचार नहीं रहता ज़्यादह लिखना व्यर्थ है ।

सब जानते हैं कि कामी पुरुष हरगिज़ ऐतबार के लायक नहीं होता अगर [illegible] ऐसा हो तो भी लोग ऐतबार न करेंगे और बुरा कहेंगे इस लिये ऐसी इच्छाओं को कदापि उत्पन्न न करना चाहिये तक़दीर अर्थात् प्रारब्ध के आधीन है और [illegible] [illegible] ईश्वर का समझा जाता है [illegible] [illegible] भावनाओं के [illegible] बाने जाते हैं ।

जो किसी तरह से भी न्याय के विरुद्ध न हो और जिनमें सब तरह यही उपदेश पाते कि शील स्वभाव ब्रह्मचर्य की महिमा और सत्य बोलना चोरी आदि का त्याग ऐसे ही लोग ही प्रशंसा के योग्य होते हैं, अन्यथा नहीं और ब्रह्मचर्य के समान दूसरा तप नहीं है जो ऐसे ब्रह्मचारी हैं कि जिन्हों ने अपनी स्त्री का भी त्याग कर दिया सब प्रकार जितेन्द्रिय हैं उनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है जो ऐसे पुरुष हैं सिवाय अपनी स्त्री के और सब को मा बहिन जानते हैं कदाचित् भी मन को चलायमान नहीं करते वे भी धन्य हैं और जो व्यभिचारी कुशील हैं वे अवश्य दुर्गति के पात्र हैं इस लिये सज्जन पुरुषों से प्रार्थना है कि धर्म के विरुद्ध कभी

कोई उपदेश न दें जहां तक हो धर्म ही की प्रेरणा करें क्योंकि संसार में धर्म ही सार है और धर्म ही संसार रूपी समुद्र से पार होने का उपाय है सिवाय धर्म के कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिस से जीव का उद्धार हो इस लिये धर्म हीका उपदेश देना और धर्म ही का करना सब जीवों को श्रेष्ट है धर्म का मूल कारण दया है इस लिये सब जीवोंसे मैत्रीभाव रखना चाहिये सब पर दया रखनी चाहिये बैर भाव कदापि भूल कर न करना यही उत्तम जनों की रीति है हिन्दू मज़हब का दार मदार पवित्रता के ऊपर है जिसक़दर क्रियाकाण्ड शुद्ध पवित्र होगी उसी क़दर आत्मा की शुद्धि होगी क्यों कि बाह्य के आचरण से आभ्यन्तर की शुद्धि होती है इसी लिये सज्जन पुरुषों को चाहिये कि खान पान आदि समस्त क्रिया शुद्धता से करनी चाहिये वर्तमान काल में अस्थि की चीनी, चर्बी मिश्रित घी, आदि बहुत सी विपर्यय वस्तु चल रही हैं इस लिये बहुत बिचार करने से शुद्धि हो सकती है। और जो कुछ उपदेश न्याय और धर्म के खिलाफ़ दिये जा रहे हैं सब अशुद्ध भोजन क्रियाकाण्ड की हीनता का बाइस है अब इस मज़मून को बन्द कर के शास्त्रों के प्रमाण देते हैं जिन से बखूबी मालूम हो जावेगा कि स्त्री को क्या करना चाहिये? नियोग जायज़ है या ना जायज़?



कैफ़ियत
मनुमहाराज मनुस्मृति

नं० १

पृष्ट ६० श्लोक २१५ अध्याय २ मा बहिन लड़की के साथ भी एकान्त में न वैठना क्योंकि कैसा ही बलवान् और विद्वान् हो इन्द्रियां खैंच ही लेती हैं।

नंबर २

पृष्ट ६४ अध्याय २ श्लोक २४९ जो ब्राह्मण अखण्ड ब्रह्मचर्य्य को करता हैं वह परब्रह्म को प्राप्त होता है।

नं ३

पृष्ट ६५ अध्याय ३ श्लोक ५ माता की सात पीढ़ी में नहो पिता के गोत्रमें न हो ऐसी स्त्री ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को श्रेष्ट है।

नंबर ४

पृष्ट १८१ अध्याय ५ श्लोक १५१ पिता या पिता की आज्ञा से भाई जिसको देवे उस की सेवा करे और मर ने पर भी व्यभिचार नकरे।

नंबर ५

पृष्ट १८२ श्लोक १५४ जो स्त्री समतावान् से तमाम उम्र

पतिव्रता रहे वह अरुंधती के समान मृत्यु लोक को नहीं त्यागती ।

नंबर ६

पृष्ठ १८२ श्लोक १५७ चाहे तो स्त्री पवित्र पुष्प फलों से क्षय करदे परन्तु पति के मरने पर, पर पुरुष का नाम भी न लेवे ।

नं० ७

पृष्ठ १८२ श्लोक १५८ क्षमायुक्त नियम वाली और पवित्र एक पति धर्म की रक्षा करने वाली मैथुन की इच्छा न करती हुई मरण पर्यन्त रहे ।

नं० ८

पृष्ठ १८२ श्लोक १५९ अध्याय ५ कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणों के कई हज़ार समुदाय बिना पुत्र उत्पादन किये स्वर्ग को गये ।

नं० ९

श्लोक १६० इसी प्रकार साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रहे तो अपुत्रा भी स्वर्ग को जाती है जैसे कुमार ब्रह्मचारी स्वर्ग को गये ।

नं० १०

पृष्ठ १८३ श्लोक १६१ पुत्र के लोभ से जो पर पुरुष से

सम्बन्ध करती है वह यहां निन्दा को पाती है और पतिलोक से भी रहित रहती है।

नं० ११

पृष्ठ १८३ श्लोक १६३ अपने निकृष्ट पति को छोड़ कर उत्कृष्ट को करै तो लोगों में निन्दा होती है।

नं० १२

पृष्ठ १८३ श्लोक १६४ परपुरुष के भोग से स्त्री, लोगों में निन्दा और मरने पर सियार की योनि को प्राप्त होती है और कुष्ट आदि रोग से पीड़ित होती है।

नं० १३

पृष्ठ २६१ अध्याय ८ श्लोक ३५३ इस से लोगों में वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं क्यों कि मूल का नाश करने वाला अधर्म सब के नाश करने में समर्थ है।

नं० १४

श्लोक ३५६ जो पराई स्त्री से तीर्थ में या नदी में सम्भाषण करे उस को पर स्त्री हरण का अपराध होता है।

नंबर १५

श्लोक ३५७ माला चन्दन आदि का भेजना, स्पर्श आलिंगन

अदि करना वस्त्र आभूषण का समर्पण करना आसन शय्या पर साथ रहना इन सब कामो को पर स्त्री संग रहने के समान कहा है।

नं० १६

श्लोक ३५८ जो पर स्त्री के गृह स्थान में स्पर्श करे और जो स्त्री से छुआ हुआ छिमा करे आप की पर संतान में भी यह सब पर स्त्री संग्रहण कहा है।

नंबर १७

श्लोक ३६० बुभुक्षित बन्दी दीक्षित और रसोई करने वाले पर स्त्री के साथ निवारण न करने पर संभाषण कर सकते है।

नं० १८

पृष्ठ २६५ श्लोक ३७२ व्यभिचारी पापी मनुष्य को जलती लोहे की चारपाई पर जलावे सब लोग उस पर लकड़ियां डाले और पाप कर ने वाला जले।

नं० १६

—'पृष्ठ ३१० अध्याय ६ श्लोक ४७ भाग एक बार ही किया जाता है और एक बार ही कन्या दान होता है और एक बार ही वचन दिया जाता है सज्जनो की ये तीन बातें एक ही वार होती है लौट फेर नहीं होता।

नं० २०

पृष्ठ ३१२ अध्याय ६ श्लोक ५७ बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरु पत्नी के समान, और छोटे की बड़े को पुत्रवधू के समान है।

॥ यजुर्वेद ॥

नं० २१

पृष्ठ ६६५ अध्याय ८ श्रुति १ स्वयम्बर बिधि से ब्याह कर के पति की सेवा करे अधर्म की बात कोई न करे।

नंबर २२

पृष्ठ ६८२ अध्याय ८ ऋचा ६ ऊपर के मुताबिक स्वयंबर से विवाह करे जिस का माता पिता उत्तम हो विद्वान् हो उत्तम हो उस की सन्तान भी उत्तम होती है जो माता पिता उत्तम न हों तो सन्तान भी उत्तम न होगी।

नंबर २३

पृष्ठ ६८४ अध्याय ८ ऋचा १० मनुष्य जन्म को पाकर स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य उत्तम विद्या अच्छा गुण पराक्रमयुक्तविवाह करैं ब्याह की मर्यादा से ही संतान पैदा करें बिना ब्याह के स्त्री पुरुष समागम की वांछा मन से न करें।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

पृष्ठ २२० लगाय २२१ सुख के लिये १३ हाथ ग्रहण करता हूं जो काम मुझ को अप्रिय होगा न करूंगा ऐसे ही स्त्री कहे कि मैं भी जो काम आपको अप्रिय होगा न करूंगी और हम दोनों व्यभिचार आदि दोष रहित होके वृद्धावस्था पर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहार को करेंगे इस प्रतिज्ञा को सब सज्जनों और परमेश्वर हमारा साक्षी है।

पृष्ठ २२१ पंक्ति ५ व ६ दूसरी स्त्री वा दूसरे पुरुष से भी व्यभिचार न करेंगे हे विद्वान् ! लोगों तुम हमारे साक्षी रहो पंक्ति ७ व ८ फिर स्त्री कहे इस पति को छोड़ के मन वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को न पति मानूंगी।

नोट—नं० १ में मा बहिन तक के साथ अलग बैठना मने किया इस लिये ज्यादह क्या होगा। नं० २ शील की महिमा से मोक्ष। नं० ३ माता की पीढ़ी तक बर्जित की नं० ४ लगाय ७ बख़ूबी साबित किया कि पति के मरने पर हरगिज़ दूसरा पति न करे। नं ८ व ९ ये दिखाया कि शीलवान स्त्री बिना पुत्र के पैदा किये ही स्वर्ग जाती हैं। नं० १० पुत्र के वास्ते दूसरा पति न करे। इस से ज्यादा और क्या दिखला सकते हैं। नं० ११ अपना पति ख़राब भी हो तो भी दूसरे अच्छे को न भोगे। नं० १२ परपुरुष के भोगने से गीदड़ वग़ैरह रोग आदि कर पीड़ित होती हैं। नं० १३ इसी से वर्णसङ्कर होते हैं। नम्बर १४ से १६ तक यह मने किया है कि पराई स्त्री से बोलना भी न चाहिये और न स्पर्श करना न वस्त्र भूषण चन्दन माला आदि देना चाहिये न एक स्थान पर बैठना चाहिये यदि ऐसा करे तो दण्ड होना योग्य है।

नम्बर १७ बन्दीजन रसोई दार वग़ैरह भी बिला इजाज़त

मालिक न बोल सकें नम्बर १८ परस्त्री भोगी पुरुष को लोहे की जलती चारपाई पर जलावे नम्बर १६ कन्यादान एकही बार होता है नम्बर १० बड़े भाई को छोटे की पुत्र बधू छोटे को छोटे को गुरु पत्नी समान। नं० २१ से २३ ख़ास यजुर्वेद के बचन हैं। जिन से साफ़ ज़ाहिर है कि विना ब्याह के हरगिज़ सन्तान उत्पत्ति न करनी चाहिये। ब्रह्मचर्य की महिमा उत्तम माता पिता से उत्तम औलाद ख़राब से ख़राब। नं० २४ खास भाष्य भूमिका ऋग्वेदादि का बचन है कि बिवाह के समय स्त्री ने ईश्वर को और सब पंचों को साक्षी देकर यह प्रतिज्ञा की कि इस पति को छोड़ के मन बचन से दूसरे पुरुष को न चाहूंगी। अफसोस ऐसी प्रतिज्ञा कर के क्यों छुड़ाई जावे क्या नियोग करने से यह प्रितज्ञा रह जावेगी हरगिज़ नहीं॥

समझावट।

हवाले मज़कूरा वाला को हमारी राय में कोई खिलाफ़ न्याय व प्रमाण आदि के नहीं बतला सकता .फिर इसके ख़िलाफ़ जो प्रमाण शास्त्रों और आचार्यों के नाम से दिये जाते हैं वह किस तरह प्रमाण हो सकते हैं मसल मशहूर है एक म्यान में दो खाण्डे नहीं रहते इस लिये अगर हमारे हवाले प्रमाण होंगे तो वह नदार्द किये जावें गे अब इस का बिद्वान् ख़द कर सकते हैं कि जो प्रमाण ऐसे हैं कि ग्यारह ख़ाविन्द की आज्ञा, दूसरों से औलाद हासिल कराना, अपनी स्त्री को खुद इजाज़त देकर दूसरों से भोग कराना, यह प्रमाण हो सकते हैं, या यह कि शील स्वभाव से रहना हरगिज़ बुरा काम न करना यह प्रमाण हो सकते हैं, हम ने समाजी भाइयों के बड़े २ ज़ोर शोर के लेक्चर सुने है वह सब से ब्रह्मचर्य ही का उपदेश देते हैं जैसा कि देना चाहिये

आज तक किसी जलसे या कमेटी में ऐसा लेक्चर हमने नहीं सुना कि ग्यारह पति करना वग़ैरह २ उपदेश दिया जाता हो इस से हम को निश्चय होता है कि हमारे समाजी भाई ख़ुदभी बे बुनियाद मामले को वाहियात और बुरा समझते हैं इस में कोई शक नहीं कि अगर इस फ़ेल को समाजी बुरा ख़याल न करते तो जैसे और मामलों में ज़ोर शोर से लेक्चर होते हैं इस को भी ज़रूर तरक्की देते इस लिये हम बड़ी आजिजी से प्रार्थना करते हैं कि हमारी तहरीर को बिलकुल निःपक्षता से देख कर मंज़ूर फरमावें क्यों कि उत्तम रीति से जग का भला, और बुरी रीति से बुरा होता है, पक्ष करना काम विद्वान् पुरुषों का नहीं है यह बात ज़ाहिर है कि बुरे फ़ेलऔर बुरी आदत को जिस वक्त इन्सान छोड़देगा उसी वक्त शोभा को प्राप्त होगा और ऐसा ख़याल करना कि बेशक बात तो सही है मगर क्या करें अब छोड़ने में हिमाक़त है सो यह ख़याल पण्डितों और धर्मात्मा पुरुषों का नहीं होता और जो परोपकारी सज्जन पुरुष हैं जिन को मान वग़ैरह नहीं दबा सकते वह ऐसा ख़याल भी नहीं करते कि यह छोटा आदमी होकर हम ऐसे २ पुरुषों को समझाता है इस की अक्ल क्या हम मान सकते हैं नहीं २ वह ज़रूर जो उमदा बात होगी मंज़ूर करेंगे अगर अपनी ग़लती होगी तो उस की दुरुस्ती करेंगे और अगर कहने वाला ग़लती पर होगा तो मुहब्बत के साथ समझावैंगे, द्वेश भाव हरगिज़ न करेंगे सब शास्त्रों से मालूम होता है कि और अक्ल से भी जाना जाता है किसज्जन पुरुष का स्वभाव मानिन्द हंस के होता है यानी जैसे हंस दूध को लेता, है पानी को छोड़ देता है ऐसे ही सज्जन पुरुष

गुण ग्रहण करता है औगुण त्यागता है दूसरा स्वभाव चन्दन के वृक्ष की मिसाल देताहै जैसे चन्दन के वृक्ष को जिस क़दर कुल्हाड़े से मज़दूर काटता है उसी क़दर ज्यादह सुगन्धि देता है ऐसे ही सज्जन पुरुष तकलीफ़ देने पर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते सज्जनता का यही लक्षण है कि आप शुभ क्रिया का आचरण करें औरों से करावें दुर्जन पुरुषों का इस के खिलाफ़ स्वभाव मानिन्द सर्प के है यानी जैसे सांप को चाहे दूध ही पिलाओ मगर वह डंक ही मारेगा दूसरा स्वभाव छलनी समान है जैसे छलनी आटा निकालती है और चोकर ग्रहण करती है, इसी तरह दुर्जन पुरुष गुण को छोड़ कर औगुण लेता है दुर्जन पुरुष की रीति यही है कि चाहे आप मर जावे परन्तु दूसरे को ज़रूर नुकसान हो। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है—

एक ब्राह्मण था। वह धन की अभिलाषा में फकीरो की सेवा किया करता था। बहुत दिनो के बाद किसी फ़कीर ने उस को एक यन्त्र दिया और कहा कि जब ज़मीन पर लीप कर इस को रक्खे गा और जो कमना करेगा और जिस कदर द्रव्य की आवश्यकता होगी यह यन्त्र देगा बल्कि ख़ूबी यह है कि तेरे से ज्यादह लाभ तमाम शहर में होगा यानी तू यदि सौ रुपये मागेगा तो तुझ को सौ रुपये मिलैंगे मगर तमाम शहर में फ़ी घर दोसौ मुद्रा मिलेगा इस पर ब्राह्मण व ख़ौफ़ इस बात के कभी फ़क़ीर साहब ना ख़ुश हों यन्त्र तो लेलिया परन्तु एक लम्बी सांस लेकर अफ़सोस ज़ाहिर किया फ़क़ीर साहब ने वज़ह दर्याफ्त की ब्राह्मण बोला कि मुझ को इस नफ़े की ज़रूरत नहीं जब कि दूसरों को फायदा पहुंचाया जावे

मगर वह क्यों मानता था क्योंकि दुर्जन पुरुष था, फ़क़ीर साहब तो चले गये ब्राह्मण घर गया ब्राह्मणी से कहा बड़े दिनों में रसायन मिली थी परन्तु धोका देगई ब्राह्मणी ने वजह दर्याफ़्त की ब्राह्मण ने हाल सुनायो उस पर ब्राह्मणी ने कहा हमारा क्या हर्ज है लोगों के चाहे कितना ही द्रव्य होजावे हम तो सुखी हो जावेंगे फ़ौरन ही लीप कर रुपया मागो इस पर ब्राह्मण ना खुश हुआ और कहा मैं हरगिज़ ऐसा नहीं कर सकता यदि तू करै गी तो मैं नाराज़ हूंगा और दण्ड दूंगा तदोपरान्त ब्राह्मण परदेश गया एक दिन ब्राह्मणी ने लीप कर यन्त्र रक्खा और सौ रुपये मागे उसी समय सौ रुपये मिल गये और तमाम शहर में फ़ी घर दोसौ रुपये मिले इसी प्रकार ब्राह्मणी ने बहुत रुपया इकट्ठा कर लिया और तमाम शहर में दूना रुपया होगया ऐसा होने से लोगों ने बड़ी खुशी मनाई औरमकानात ब्राह्मणी के वह तमाम पुख़्ता शुरू हो गये कुछ दिन उपरान्त ब्राह्मण आया और नगर की अलौकिक शोभा देख कर ठिटका और कहा मैं भूला यह दूसरा ही नगर है परन्तु चारों दिशाओं का ध्यान दे कर देखा तो यह मालूम हुआ कि यह दोष मेरी पत्नी का है लाचार घर आया और स्त्री से अत्यन्त दुखित हुआ स्त्री समझ गई और बार २ मधुर शब्दों से उस के क्रोध और द्वेष को हटाना चाहा परन्तु हठी और दुर्जन क्यों मान ने लगा स्त्री ने पुनः कहा भगवन् क्षमा करो यदि हमारे से दूसरों को नफ़ा पहुंचै इस से बढ़कर परोपकार ही नहीं और देखो द्रव्य से घर भर रहा है औरों के दूने हो जानेसे हर्ज ही क्या है परन्तु वह कब मान सकता था उसी समय लीपकर वह यन्त्र रक्खा और कहा कि मेरी एक आंख फोड़ दे उसी समय उस की एक आंख फूट गई परन्तु तमाम शहर वालों की दोनों आंखे फूट गई सरांश यह है कि दुर्जन पुरुष से बुराही होगा भला कदापि नहीं और सज्जन जन से भला होगा बुरा हर्गिज़ न होगा इस लिये हरख़ास व आम को निकृष्ट प्रमाण को दूर करना चाहिये और शुभ प्रमाण की तरक्की और ब्रह्मचर्य की महिमा सब वेद शास्त्रों से बख़ूबी सिद्ध है अतएव हरगिज़ उस के विरुद्ध उपदेश न होना चाहिये और यह कहना कि ब्रह्मचर्य वेशक उत्तम है यदि न रह सके अथवा

सन्तान की आवश्यकता होय तो नियोग करा ले मगर व्यभिचार न करे सो बिलकुल ग़लत है और अप्रमाण अव्वल देखिये इस से ज़्यादह क्या व्यभिचार होगा दूसरे सन्तान किसकाम आवे गी जब कि अपनी लाज शर्म जाती रही और दुर्गति का बन्धन हो गया। तीसरे यदि यह उपदेश ठीक मानागया तो बहुत से मदिरा (क़बाब) मांस वगैरह के बिना तकलीफ़ मानेंगे उनके लिये भी ऐसा ही उपदेश देना होगा फिर तो जड़ मूल से कट जावेगी इस लिये हर्गिज़ धर्मशास्त्र की आज्ञा नहीं। सत्योपदेश के सिवाय कदापि विरुद्ध न करना चाहिये दुःख सुख केवल कर्म से होता है और जो प्रमाण अचार्यों के नाम से दिये जाते हैं वह महज़ बनावटी ख़्याल करने चाहियें वह किसी तरह काबिल इतमीनान नहीं हो सकती क़ाबिल इतमीनान वही बात होगी जो न्याय के विरुद्ध न होगी बाकी कहां तक लिखें ब्रह्मचर्य की महिमा पुराणादि सब शास्त्रों से प्रसिद्ध है स्वामी दयानन्द ने भी जिस की प्रबल महिमा लिखी है इस लिये विद्वान् पुरुषों को पक्ष छोड़ कर इस की पुष्टता में उपदेश देना चाहिये और इस के विरुद्ध का त्याग ॥

नतीज़ा

यह सब तरह सिद्ध हो गया है कि ब्रह्मचर्य सुख देने वाला व्यभिचार दुःख का दाता, अतएव समस्त स्त्री पुरुषों को शीलवान् रहना चाहिये नियोगादि व्यभिचार को त्याग करना चाहिये और स्त्री को हर्गिज़ सिवाय अपने पति अन्य पुरुष की इच्छा न करनी स्त्री का शृङ्गार शील ही है जो पतिव्रता स्त्री है वह परम् माननीय होगी चाहे कैसे ही कष्ट में हो और जो शील रहित धनाढ्य सर्व सुन्दर व भूषण सहित होगी तौ भी माननीय न होगी निन्दनीय ही होगी यह सब बातें प्रत्यक्ष मालूम होती हैं।

इति समाप्तम्

॥ प्रार्थन ॥

हे ! ईश्वर परमात्मा सब जीवों को दुःख से छुटाकर सुख की प्राप्ती करा सिवाय तेरे और कौन संसाररूपी सागर से पार करने वाला है मैं तो कुछ भी नहीं हूं बड़े २ योगी तेरी महिमा वर्णन नहीं कर सकते मैं उभय कर बद्ध बारम्बार प्रार्थना करता हूं कि सब जीवों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश कर और मेरी इस तहरीर को सब के हृदय रूपी कमल में मोती की आभा को प्राप्त कर अर्थात् समस्त वैर विरुद्ध कुरीति आदि को दूर करने वाली और धर्मोन्नति को प्रगट करने वाली प्रकाश कर सिवाय तेरे और का सहारा नहीं है ॥

ओं शांतिः शांतिः शांतिः

(राक़िमे नियाज़ कमतरीन)

भवदीय

मुसद्दीलाल ज़मींदार

निरपड़ा त० सरधना

जि० मेरठ

❀ शुद्धाशुद्ध पत्र ❀

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१८	षयानन्द	दयानन्द
६	२१	कुके	के
७	२	धीयां	घीयां
७	१७	हआ	हुआ
८	१०	बखबी	बखूबी
९	१५	करन	करना
१०	३	अश्चर्य	आश्चर्य
१०	१२	दसरे	दूसरे
१२	२४	हये	हुये
१३	१३	शद्र	शूद्र
१३	१६	वें	८ वें
१८	२५	दखी	दुखी
२२	१२	गट्ट	खट्टा
२२	२५	ईश्वर	ईश्वर ने
२३	१९	गे	के
२४	९	गे	से
३३	१५	निवृित्त	निवृत्त
३४	१३	वैशेसिक	वैशेषिक
३६	२१	जग	जगह
३९	१३	निचकेता	नचिकेता
४३	९	करे	कर



अर्हम्

लेखक

खामग्राम–निवासी

श्रीमान्-यतिवर्य-श्रीबालचन्द्रजी महाराज



॥ जगत्कर्तृत्व-मीमांसा ॥



प्रकाशक

वडनगर-निवासी

श्रावक मूलचन्द, वाडीलाल आकोला (वराड)

Printed by Gauri Shanker Lal at Chandraprabha Press, Benares.
Published by Shrawak Moolchand, Wari Lal of Akola.

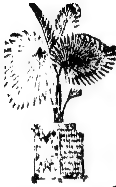
वीर सं. २४३५] मूल्य आठ आना [प्रथम वार १०००

अर्हम्

लेखक

खामग्राम–निवासी

श्रीमान्-यतिवर्य-श्रीबालचन्द्रजी महाराज



॥ जगत्कर्तृत्व-मीमांसा ॥



प्रकाशक

वडनगर-निवासी

श्रावक मूलचन्द, वाडीलाल आकोला (वराड)

Printed by Gauri Shanker Lal at Chandraprabha Press, Benares.
Published by Shrawak Moolchand, Wadi Lal of Akola.

वीर सं. २४३५] मूल्य आठ आना [प्रथम वार १०००



साक्षरवर्य
श्रीमान् केवलचंद्रजी गणि-महाराज.
(सुराणा-पेमराजजी वर्धावालेकी तर्फसें भेट.)

चित्रशाळा प्रेस, पुणें.

पूज्यवर्य गणिजी श्रीमान् केवलचन्द्रजी महाराज का संक्षिप्त

जीवन चरित्र।


रोपकारी, उदार चरित महान पुरुषोंकी जीवनी पढ़ने से मनुष्य को जैसा मनुष्य कर्त्तव्यका ज्ञान प्राप्त होता है, वैसा ज्ञान अन्य किसी भी साधन द्वारा नहीं होसकता। जैसा जैसा मनुष्य उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढ़ते चला जाता है तैसा तैसा उसके मनमें उच्च श्रेणी के विचार बंधते चले जाते हैं। और अन्त में ऐसी कर्तृत्व शक्ति प्राप्त होजाता है कि जिसकी प्रशंसा सुज्ञ लोक किये विना नहीं रह सकते। जीवनी लिखने का शौक भारत में हजार पंधरासौ वर्षों के प्रथम बहु-तथा ऐसा प्रबंध चिंतामणि आदि ऐतिहासिक ग्रंथों पर से मालूम होता है किन्तु जबसे मुगलों की राज्य सत्ता भारत में हुई तबसे इस बात का शौक नष्ट प्रायसा होगया. भारतके प्राचीन इतिहासमें जो जो त्रुटियां विदित होरही हैं इसका कारण भी मुगलोंकी राज्य सत्ता ही को मानना चाहिये। जबसे पाश्चिमात्य शिक्षाका प्रभाव भारत में पड़ा तबसे यह शौक फिर बढ़ने लगा। प्रस्तुत यहां तक बढ़ा हुआ है कि अनेक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक वर्तमान पत्रों द्वारा और पुस्तकों द्वारा अनेक सज्ज-नोंके जीवन चरित्र प्रकाशित होते चले जारहे हैं यह पाश्चिमात्य लोगोंके सहवास का ही फल मानना चाहिये।

आज मैं मेरे परमोपकारी पूज्यपाद गुरुवर्य श्रीमन्महाराज श्री-केवलचन्द्रजी गणिजीका संक्षिप्त में ही जीवन चरित्र लिखनेका विचार किया है, इस लिये यहां पर केवल आवश्यकीय बातों का ही उल्लेख किया जायगा. यदि समय मिला तो दूसरी वार विस्तार पूर्वक लिखने की चेष्टा करूंगा.

गणिश्री केवलचन्द्रजी महाराज का जन्म विक्रम संवत् १८८५ के भाद्र पद कृष्ण १० दशमी गुरुवार के रोज शहर ग्वालियर में गौड वंशीय ब्राह्मण कुल में हुआ. आपकी मातु श्री का नाम सुशीला और

पिताजी का नाम शिवानंदजी था। गणिजी के पिता ग्वालियर में श्रीमान मेघराजजी सुराणे के यहां नोकरी करते थे। हमारे चरित्र नायक जब नव वर्ष उमर के हुवे उस समय श्वेतांबर जैनाचार्य श्रीमद् ताराचन्द्र सूरिजी महाराज यतिगणके साथ अनेक देशोंमें विचरते हुवे सं० १८९३ में ग्वालियर पधारे उस समय वहांके श्रावकोंने नगर प्रवेशका बड़ा भारी उत्सव किया था. उनके व्याख्यान हमेशा होते थे. एक दिन मेघराजजी सुराणेने आचार्यजी से बीनती की, कि मेरे घरको आपकी पधारामणी करने की मेरी इच्छा है सो आप अवश्य पधार कर मेरा घर पावन कीजिये। श्री जी ने यह बात स्वीकार कर दूसरे ही दिन सुराणेजी के घरको पधारे. सुराणेजी ने आचार्य श्री जी की नव अंग की केसरादिसे पूजन की और कई प्रकार से भक्ति की, उस समय हमारे चरित्र नायक श्री जी के समीप जाकर बैठगये. आप के माता पिता प्रभृतिने इनको वहां से उठाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु आचार्य श्री से दूर होना आपने बिलकुल नहीं स्वीकार किया. यह आश्चर्य जनक दृश्य देखकर आपके माता पिताने और मेघराजजी सुराणे ने आचार्यजी से यह बीनती की कि, इस बालककी भक्ति प्रीति आप पर अधिक मालूम होरही है इससे हम लोगों का अन्तःकरण यही कह रहा है कि इस बालकको आपकी सेवा में अर्पण कर देना इस पर से श्री जी ने उत्तम जीव समझ कर हमारे चरित्र नायकको अपने साथ उपाश्रयको ले आये.*

वि० सं० १९०२ में आचार्यजी के समीपसे आपने दीक्षा ग्रहण की. दीक्षा का नाम आजार्यजी ने आपका 'केवलचन्द्र' मुनि रक्खा.

---

* **नोट**--इन दिनोंमें खरतर गच्छीय श्रीपूज्याचार्य श्री जिन सौभाग्य सुरिजी ग्वालियरको पधारे हुवे थे दोनोंही आचार्य सहर्ष परस्पर मिले और आनंदपूर्वक दार्शनीक विषय पर परामर्श किया गया. बहुधा खरतर और तपगच्छके श्रीपूज्य "हमबड़े" इस अभिमानके वश अन्य गच्छीय आचार्योंसे रूबरूमें नहि मिलाप किया करते थे किन्तु यह बात श्री सौभाग्यसूरीजीमें नहीं थी. वह इस बातको खूब जानते थे कि एक पद धारी आचार्योंके साथ नफरत करना सर्वथा अनुचित है और एक मेकका परस्पर गौरव करना यह शिष्टाचार का परिपालन है. प्रस्तुतके आचार्य और यति अभिमान और कुआचरणके वश जो पुरानी प्रतिष्ठा खो बैठे हैं उनको उचित है कि, आचार्य द्वयका अनुकरण करे, यदि अभी भी इस ओर लक्ष नहीं दिया जायगा तो रही सही प्रतिष्ठा भी गमा बैठेंगे. आचार्य और यतियोंको उचित है कि ३६ और २७ गुणोंकी तर्फ ध्यान दे।

इस समय आपकी कोई अठारह वर्षकी वय थी, किन्तु इतनी छोटी वय में भी आपने जैनदर्शनके मुख्य २ सिद्धांतोंका उत्तम प्रकारसे ज्ञान संपादन कर लिया था. इसके सिवाय व्याकरण, काव्य, कोश, न्याय आदि शास्त्रोंका अध्ययन करते थे. ज्योतिष. वैद्यक, छन्द शास्त्र शास्त्रीजीके समीपसे देखा करते थे. आचार्य श्रीजीके साथ ग्रामानुग्राम विचरने से यद्यपि शास्त्राध्ययनमें क्षति पहुंचती थी तथापि शास्त्री साथ में रहनेसे विशेष हानी पहुचनेका संभव नहीं था. आचार्यजीने कोई ग्यारा वर्ष पर्यन्त आपको विद्याध्ययन करवाया और तदनंतर प्रधानपदपर नियतकर दिये गये. आचार्यजी का विचार आप को बहुत कुछ अभ्यास करवाने का था परन्तु गच्छका भार चलानेको सुयोग्य प्रधान हाथ नीचे न होनेके कारण यह कार्य आपके सुपरत करना पडा. और जहांतक आचार्य श्री विद्यमान रहे तहांतक प्रधानपद पर आपही रहे। वि. सं. १९१५ माघ शुक्ल अष्टमीके रोज आचार्यजीका देहान्त पोहोकरण ग्राममें हुआ उस समय आचार्यजी महाराजके चारों शिष्य (१ सूर्यमलजी. २ मुलतानचन्द्रजी. ३ केवलचन्द्रजी. और ४ कर्पूरचन्द्रजी.) समीप थे. सूर्यमलजी महाराज भोले भाले और बडेही सरल मनके थे व आचार्यजी की सेवा इन्होंने भक्ति पूर्वक खूब की थी इससे आचार्यजीने अन्त समय ऐसा फरमाया कि " मेरा बडा शिष्य सूर्यमल सरल और गुरू भक्त है. इससे मेरे पीछे इसको किसी भी बातकी तकलीफ नहो इस लिये मेरा विद्वान-शिष्य-केवलचंदको आज मैं इसके नामपर कर देता हूं" आपने भी गुरू भक्तिके वश और जबसे आप आचार्यजीके शिष्य हुवे थे तबसे सब प्रकारका लालन पालन, वगैरा सूर्यमलजीनेही किया इससे आपने भी इस बातका स्वीकार कर लिया. किन्तु वास्तवमें आप शिष्य आचार्य श्रीकेही कहला सकते हैं और यह बात युक्तियुक्त भी है. आचार्य श्रीका स्वर्गारोहण क्रिया सब जैन शास्त्रानुसारही हुई. आचार्य श्रीके परलोक गमनके थोडेही दिन पीछे आपने प्रथम पदका त्याग कर दिया.

वि. सं. १९१६ वैशाख शुक्ल अक्षयतृतियाको बीकानेरके चतुर्विध संघने मिलकर श्री ताराचन्द्र सूरिजीके पट्टपर लघु शिष्य कर्पूरचं-

द्रजीको स्थापित कर दिये. और केसरीसिंहसूरि ऐसा आचार्य पद्वीका नाम दे दिया. उस समय आपने इनको आचार्य करनेमें अपनी सम्मति बिलकुलही नही दी किन्तु निषेध किया था क्योंकि आचार्य होनेके लायक आपके बडे गुरू भाई श्री मुलतानचन्द्रजी थे यदि मुलतानचन्द्रजीको आचार्य कर देते तो गच्छकी शोचनीय दशा नहीं होती. परन्तु कई कुटिल, विघ्नसंतोषी यतिश्रावकोंने स्वार्थ साधनके लिये अनुचित कार्य करनेको नही डरे, और प्रस्तुत भी हमारे गच्छमें यति नामको कलंक लाने वाले कई अधम यति ऐसे बैठे हुये हैं कि उनके बैठे गच्छकी उन्नतिकी आशा रखना आकाश पुष्पवत है, अस्तु. अयोग्य कार्य बना देख आपका विचार परदेश गमन करनेका हुआ किन्तु श्री केसरीसिंहजीने आपको जाने नही दिया, इन दिनोंमें आपके उपदेशसे एक कार्य ऐसा हुआ कि जिसकी प्रशंसा किये बिना सारे जैन समाजसे नही रहा जा सका, और वह यह हुआ कि श्रीयुत् धर्मचन्दजी सुराणेकी धर्म पत्निने शत्रुंजयादि तीर्थोंकी यात्रा करने को संघ निकालनेका निश्चय किया. सं. १९१७ के मार्गशीर्ष वदीमें बीकानेरसे संघ रवाना हुआ इस संघमे गाडी ५००, ऊंठ ४००, घोडे १०० और मनुष्य संख्या करीब ५००० की थी यति साधु साध्वी केरिब सो ठाणा श्रीके साथमें थे, संघ रक्षार्थ बीकानेर महाराजकी ओरसे कई घोडेसवार भी दिये गये थे. दर्शन पूजनके लिये एक देरासर साथ चलता था. देरासरकी रेख देख आपही करते थे, संघ नागोर फलोधी (पार्श्वनाथ) कापरडा, पाली, वरकाणा, नाडोल, नाडोलाई, राणपुर, मुच्छाला महावीर, इत्यादि पंचतीर्थी, सिरोही, आबूराज, पालणपुर, संखेश्वर, राधनपुर, वडनगर, बीसनगर, पाटण, (हेमचन्द्राचार्य) सिद्धपुर, आदि अनेक तीर्थोंकी यात्रा करता हुआ संघ शत्रुंजयकी तराटी शहर पालिताणेमें पहुंचा और सहर्ष सिद्धगिरि की यात्रा की अंदाज एक मास पर्यंत संघ पालिताणेमें रहा. तदनंतर शत्रुंजय निकटकी पंचतीर्थी—और गोगा—नवखण्डा पार्श्वनाथजी की यात्रा करके गिरनार पर्वतकी तराटी शहर जुनागढ को संघ पहुंचा-और रेवताचल (गिरनार) पर्वत उपर चढकर श्री अरिष्टनेमी भग.

वानकी यात्रा की, वहांसे अहमदाबाद होकर संघ बीकानेरको लौट आया. इस यात्रामें सुमार आठ मास लगे थे. ऐसा गौरवशाली संघ बीकानेरसे आज पर्यन्त कभी किसीने नहीं निकाला. यह श्रीमान केवलचन्द्रजी महाराजके ही उपदेशका फल मानना चाहिये.

सं० १९१८ का चातुर्मास आपका बीकानेरमें ही हुआ. तदनंतर विहार करके शहर इन्दोर पधारे, और सं० १९१९ का चौमासा इन्दोरहीमें हुआ. इन्दोर महाराज श्रीमान् होलकर सरकार श्री तकुजीराव बडेही गुणज्ञ और साधु संतके प्रेमी थे, इस से प्रेम पूर्वक हमारे चरित्र नायक से कईवार मिले. इन्दोर सरकारने आपसे कईवार कहा गांव जहांगिर अथवा द्रव्यादि जिस बातकी आपको इच्छा हो वह आपके लिये तैयार है किन्तु आपकी ओरसे उत्तर यही मिलतारहा कि बदौलत देव गुरु धर्मके प्रतापसे सब कुछ है. मनुष्यमें यह गुण (निर्लोभता) आना सहज नही है. इन्दोरसे रवाना होकर आप बऱ्हानपुर पधारे उससमय पीरचंदजी कोठारीने ज्ञान ध्यान के लिये ठहरनेकी बीनति की इस से आप एक महीने तक बऱ्हानपुर ठहरे वहांसे रवाना होकर मलकापुर, खामगांव, बालापुर होते हुवे शिरपुर अन्तरिक्ष पार्श्वनाथजी की यात्रा कर मुंबई पुरीको पधारे सं० १९२० का चौमासा आपका बंबई मे हुआ. गणेसदास कृष्णाजीके दुकान के मुनीम श्रावक श्री केवलचंद्रजी सुराणेने बहुत भक्ति की. चातुर्मास समाप्त होने पर आप पुना पधारे और सं० १९२१ का चातुर्मास आपका पुनेमे हुआ. पुनेसे आप खामगांव पधारे यहांका जलवायू अच्छा मालूम होनेसे नव चातुर्मास आपने खामगांव मेही किये. यह स्थान निरुपद्रवि और एकांत होनेके कारण इन दिनोंमें आपने वर्द्धमान आदि जैन विद्याओंका आराधन किया. आपके सत्यशीलादिगुणोंसे वराड प्रांतके स्वपरधर्म्मी सब कोई दर्शनोंके अभिलाषी थे. और प्रस्तुत भी आपका नाम प्रसिद्ध है.

सं० १९३० में आपको आचार्य श्री केसरी सिंहसूरिजीका पोष्ट द्वारा एक पत्र मिला उसमे यह समाचार थे कि "आप सरीखे

विद्वान भ्राता मेरेको छोड़ दूर रहनेसे मै बड़ाही दुःखी हूं" इत्यादि करुणा जनक समाचार पढ़ आपने शहर बीकानेर जाना निश्चय किया. रेल्वे द्वारा खण्डवा, जबलपुर, प्रयाग दिल्ली और खुशकी रास्ता भीयाणी, बिसाउ, रामगढ़, चूरू आदि शहरोंमें होते हुवे बीकानेर पधारे. उन्ही दिनोंमें आचार्य गच्छीय उपाश्रयमें श्री हेमचंद्र सूरिजीके सभापतित्व बाचकर में एक सभा भरीथी. आपने इस सभामें अपने मंतव्यका पूर्ण समर्थन किया, यह अपूर्व शक्ति देख सभासद और पंडित चकित होगये. आपका इस सभामें पूर्ण विजय हुआ.

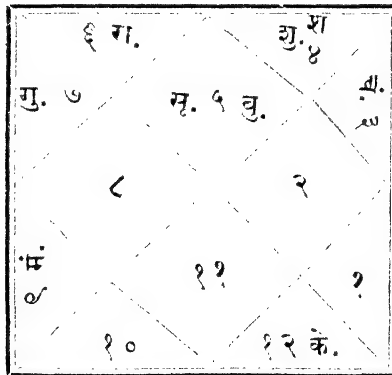
सं० १९३१से १९४८तक अठरा चौमासे आपके बीकानेरमेंही हुवे. सं १९३६ में लेखककी मातुश्रीने अपने पुत्रको आप गणिजी महाराजके अर्पण कर दिया. किन्तु लघु वय होनेसे लालन पालन करनेके लिये मातोश्रीने अपने समीप रक्खा और सम्वत १९४० में पीछा सौंप दिया. सं० १९४८ के पोषमें श्रावक धूलचंद गंभीरमलजीने पाचोरा (वनोटी) से रेल्वे खर्च के लिये रू० १०० का मानिआर्डर भेजकर वीनतीकी कि आप यहांपर पधारकर मेरा घर पावन करें, आपने बीनती मान्य की और रेल्वे द्वारा शिष्यों सहित रवाना होकर वहां पधारे. कई दिन तक वहां ठहरकर खानदेश बराड़में विचरते हुए खामगांव आये. बहुत वर्षोंसे पीछा खांमगाम आना हुआ इससे सब लोगोंने संवत १९४९ का चातुर्मास का उत्सव बड़ी धूमधामसे किया. सं० १९५० के आषाढ़ शुक्ल दशमीको आपके हाथसे लेखककी दीक्षा हुई पचास और एकावन का चातुर्मास आपका खामगाम मेंही हुआ और बावनका चातुर्मास आकोलेमें हुआ इसी वर्षमे आप शिष्यपरिवार सहित शत्रुंजय गिरनार आदि गुजरातके जैन तीर्थ करनेको पधारे और यात्रा करके पीछे ही खामगांवको लोट आये ततः पश्चात (त्रेपन से लेकर छाछट तक १४ चातुर्मास) आजतक खामगांव मेंही हुवे हैं यद्यपि शेषकालमें आप विचरते भी थे किन्तु चातुर्मासके दिनोंमे पीछे लोटकर खामगांव आजाना हो जाता है. छपन की सालमे केसरीयानाथजी और मकसीजीकी यात्रा की ५९की साल में दो महीनोके लिये बीकानेर पधारेथे. ६०की सालमे सम्मेद शिखरादि पूर्वकी

यात्राकी. आपके उपदेशसे जबलपुर के श्रावकोंने श्वेतांबरजैन पाठशाला स्थापित की और एक महीने तक आपको रक्खा. सं० १९६३ में आपने अपने लघु शिष्यको शहर धुलियामें दीक्षा दी. दीक्षा महोत्सव का कुल खर्च श्रीमान श्रावग योगीलालजी गुलाबचंदजी खिवमराने किया. इन दिनों में वि. न्या. श्रीमान् शांति विजयजी मुनि महाराज भी शहर धुलियेमे थे दीक्षा की कुल विधी मुनि श्री के आज्ञानुसारही की गई. पाठक? मुनिश्री लेखक के विद्यागुरु है इस लिये आपने अनुग्रह कर दीक्षा महोत्सव में सम्मिलित हुवे. दीक्षाका उत्सव प्रशंसनीय हुआ शहर धुलियेके कुल श्रावक—इस उत्सव में सामिलथे. उक्त उत्सव के थोडेही दिनों के पश्चात्—वेदनीय कर्मोदय से चरित्रनायक उपाश्रयकी सिढीयोंसे उतरते हुवे पग चुक जानेसे गिर पडे, इससे आपके डावे पगको बहुत लगी जिससे हड्डीने स्थान छोड देनेसे पग सुज गया और बहुत तकलीफ होने लगी. चलना फिरना बंध हो गया. अनेक डाक्टरों और वैद्योंके इलाज करनेपर वेदना बेशक आराम हो गई किन्तु हड्डी फिर पिछी स्थानपर नहीं आसकी. चलना फिरना जो बंध हो गया था वह दुरस्त न हो सका. "वृद्धवयके कारण लोहू कम जोर हो जानेसे पग शक्ति नहीं पकड़ता इससे यह ऐसीही हड्डी रहेगी" बड़े बड़े विद्वान डाक्टरोंका यह अभिप्राय होनेसे उपाय करना बंध कर दिया. तीन मास के पश्चात् धूलिये से रेल्वेद्वारा आपको खामगांव ले आये. ततपश्चात् चलना—फिरना बंध हो जानेके कारण शेष कालमें विचरना बंधकर दिया. गत वर्षके चातुर्मासमें अर्थात् सं० १९६९मे अपने शिष्य के समीप आकोले पधारे आपके प्रभावसे आकोले में कई बातें अच्छी हुई. इसी वर्ष में आकोलेके श्रावकोंने एक जैन पाठशाला स्थापितकी. थोडेदिन पश्चात् आप पीछे खामगांव पधार गये प्रस्तुत आपका विचार खामगांवमे ही रहनेका है इस समय आपकी ८१ वर्ष की वय है. नेत्रोंका तेज जैसा का वैसा बना हुवा है. दांत सब कायम हैं. आपको शास्त्र लिखनेका प्रथमसेही बहुत शौक है. आजभी करीब तीनसौ श्लोक एक दिन में लिख सकते हैं. अक्षर आपके मोतियोंके दानोंके समान सुन्दर

है. लिखने का इतना शौक होते भी आपने आजतक एक अक्षर भी मूल्य नहीं बेचा। गुरु वर्य श्री केवलचंद्रजी गणि महाराजके करकमलके लिखे हुवे अनेक ग्रंथ हमारे पास मौजूद हैं. आपको केवल शास्त्र लिखनेकाही नहीं किन्तु शास्त्रावलोकन करनेका भी बडा शौक है. आप जन्म सेही सत्य वक्ता, दयावान, शांत और योग निष्ट हैं. यूं तो आपने प्राय: सभी संस्कृत ग्रंथ देखेहैं परंतु योग शास्त्रोंको देखनेका अथवा योगाभ्यास का बहुत शौक होनेसे आत्म ध्यानमें हमेशाही तल्लीन रहते हैं जिन २ महाशयोंने आपके दर्शन किये है वे इस बातको निसन्देह सत्य समझ सकते है पाठक! यह लेख विचारसे अधिक बढ गया है इससे यहां पर श्री मन्महाराज श्रीकेवलचंद्रजी गणिजीकी जन्मकुन्डली देकर इसको पूर्ण करता हूं।

विक्रम संवत् १८८९ भाद्रपद कृष्णद शर्मा गुरौ आर्द्रानक्षत्रघटी ५६ पल ४३ उपरांत पुनर्वसु. इष्टघटी ५८ पल ४२ सिंह लग्न वहमाने जन्म. राशी मिथुन.

गणिश्री केवलचंद्रजीकी जन्म कुण्डली.



यह जन्म कुण्डली ज्योतिर्मार्तण्ड रा० कृष्ण सदाशिव बापट शास्त्रीने नष्ट जातकसे की है।

गुरु भक्ति परायण.
मुमुक्षु—बालचंद्र यति.
आकोला (बराड) जैन श्वेतांबर मंदिर.

भूमिका ।

प्यारे पाठक-वृन्द !

इस अपार संसार के संबन्ध में कई मनुष्यों का यह मन्तव्य है कि-इस संसार का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है और कई इस बात को नहीं मानते । सृष्टि ईश्वरकृत है या अनादि ? इस प्रश्न के खण्डन मण्डन में कई संस्कृत ग्रंथ भरे पड़े हैं । इधर ईश्वरवादी अपनी ओर से यह हठ पकड़कर बैठे हैं कि विना किये कोई पदार्थ ही नहीं बनता, अतएव सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है और इधर जैन दर्शन संसार को अनादि और अकर्तृजन्य स्पष्टरूप से सिद्ध कर के बतला रहा है। यह परस्पर विरुद्ध कोटी है । अब इन दोनों में से किसका कहना सत्य है इस ओर पक्षपातरहित होकर विचार किया जाय तो अवश्यही यह कहना होगा कि आर्हतदर्शन का कहना सत्य है । क्यों कि जगत् को ईश्वररचित मानने से अनेक दोषापत्ति आती है और अनादि अकर्तृजन्य मानने से एक भी दोष नहीं आता, और यह बात इस ग्रन्थ में भली भाँति दिखाई गई है।

सृष्टि के उत्पत्ति के संबंध में कोई ईश्वरवादी कहता है कि:-जगत् का निमित्त और उपादान कारण केवल ब्रह्म ही है, तो दूसरा कहता है कि ईश्वर निमित्तकारण है किन्तु उपादान कारण प्रकृति है, तो तीसरा कहता है कि दृश्यादृश्य सभी पदार्थ ईश्वररचित है, तो अन्य कहता है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति यह तीन अनादि और अकर्तृजन्य हैं। कई तो जीव को सादि सान्त मानते हैं, और कई सादि अनन्त पकड़ कर बैठे हैं, इसी तरह कई अनादि सान्त, तो कई अनादि अनन्त, इत्यादि ईश्वरवादियों में जगत्कर्तृत्व के विषय में परस्पर बहुत सा मतभेद है। किन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृति पदार्थ को अनादि और अकर्तृजन्य मानने से संसार स्वतः अनादि और अकर्तृजन्य सिद्ध हो चुका। संसार को अनादि मानकर फिर उसका कर्त्ता मानना और कर्ता मानकर फिर संसार को अनादि कहना यह प्रत्यक्ष ही में विरुद्ध दिखाई देता

है। जैन दर्शन का कहना युक्ति और प्रमाण से युक्त होने से सत्य ठहरता है और ईश्वरवादियों को भी इधर उधर घूम घुमाकर अर्थात् जगत्का कर्त्ता ईश्वर को मानकर भी अन्त में तो यह कहना ही पड़ता है कि सृष्टि अनादि है। पाठक ! बिचार करें, ईश्वरवादियों को जैन दर्शन का कहना स्वीकार करना पड़ा या नहीं ? और जो ईश्वर-वादियों का यह कहना है कि—"बिना किये कोई पदार्थ नहीं बनता इसलिये संसार का रचयिता मानना अवश्य है, किन्तु इसके उत्तर में जब यह पूछा जाता है कि-तब तो ईश्वर का भी कर्त्ता कोई होगा ? तो फिर कुछ भी योग्य उत्तर नहीं दे सकते, तात्पर्य युक्ति और प्रमाणों से जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता तथापि हमारे ईश्वरवादी मित्र पक्षपात के वश जो इस बात का हठ और कदाग्रह नहीं छोड़ते यह बड़ेही शोक की बात है।

ईश्वरवादी महाशयों का यह भी कहना है कि "सब पदार्थों का बनानेवाला मैं ईश्वर हूँ" ऐसा हमारे धर्मग्रन्थों में ईश्वर ने कहा है और हमारे धर्मग्रन्थ ईश्वरप्रणीत होने से श्रद्धा करने योग्य हैं, ऐसा सभी ईश्वरवादियों का मत है। जैसे कि इसाई महाशय ईशू खिष्ट मार्ग को ही सच्चा बतला रहे हैं और कह रहे हैं कि बाइबल ईश्वरीय पवित्र ग्रन्थ है, इससे इसमें कही हुई ही बातें सत्य हैं और सब झूठ है, हमारे बाइ-बल में लिखा है कि सबको बनानेवाला एक ईश्वर है। इधर मुस-ल्मान (यवन) मित्र कह रहे हैं कि अल्लाह ताला ने कुरान शरीफ में जो फ़रमाया है वही सच्चा है और सब शैतानी मामला है याने झूठ है हमारा कुरान शरीफ आस्मानी किताब है याने अल्लाह ताला ने नबी-महम्मद साहब के लिये आस्मान से भेजी है और उस-में अल्लाह ताला ने फ़रमाया है कि 'आम दुनिया को पैदा करने वाला मैं हूँ' मेरे मजहब की किताब के सामने इन्सानों की बनाई हुई दूसरी किताबें उस दरजे को नहीं पहुँच सकती। इसी तरह हमारे आर्यदेशीय वैदिक मित्र भी कह रहे हैं कि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। ईश्वर वैदिक ऋषियों द्वारा वेदों का संसार में प्रकाश करता है इससे वेदवाक्य ईश्वरवाक्य हैं और वेदविरुद्ध जितने धर्म हैं वे सब अनीश्वर-प्रणीत हैं। इधर शाक्त अर्थात् वाममार्गी कह रहे हैं कि यह सब शक्ति की माया है अर्थात् सब संसार शक्ति

का रचा हुआ है इससे शक्ति का नाम जगज्जननी है और वह शक्ति जन्मकाले जननी, भोगकाले भार्या और अन्तकाले कालिका है इत्यादि ईश्वरवादियों में अनेक मत मतान्तर होते भी 'जगत् का कर्ता कोई भी है' इस विषय में सभी की एक राय है। कई ईश्वरवादी तो मनुष्योत्पत्ति संबन्ध में यहांतक असंभव बात मानकर बैठे हैं कि सृष्टि के आदि में धाता अमैथुनी सृष्टि रचता है, अर्थात् पयार्य से बिचार किया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि ईश्वर आकाश में से खड़े खड़े युवक मनुष्य, मृत्यु लोक में उतार देता है ! देखिये ! यह उनकी बुद्धि का वैभव । किन्तु इस वारे में सत्यासत्य का विचारकरना विचारशील और सत्यग्राही सज्जन मनुष्यों का काम है, पक्षपाती जन इसका अन्त नहीं ला सकते ! क्यों कि प्रथम तो वे अन्य दर्शनों के धर्म ग्रंथ देखते ही नहीं, यदि दैव योग से देखने का मौका मिल भी जाय तो अविचार बुद्धि से नास्तिक ग्रन्थ कहकर अपनी टांग ऊँची रख लेते हैं किन्तु वास्तव में नास्तिक वही है कि जो एकपक्षीय धर्मग्रंथ देखकर दूसरों को नास्तिक कहने का साहस करता हो। हमारी समझ से तो अनेक शास्त्रों का अवलोकन करनेवाला, सत्यासत्य का विचार करनेवाला, और तत्त्वज्ञ मनुष्य प्रायः आस्तिक ही हो सकता है। एकपक्षीय धर्म ग्रंथ देखकर जिनको 'सर्वविद्' का अभिमान आ जाता है उनको उचित है कि:—"अनेकशास्त्राणि विलोकितानि" इस वाक्य का अध्यन करें। अनेक दर्शनों के और अनेक विषयों के ग्रन्थों का अवलोकन करनेही से मनुष्य योग्यता को प्राप्त कर सकता है और उसीको विद्वानों की श्रेणि में स्थान मिल सकता है, इसलिये पक्षाभिमान को त्यागकर अनेक ग्रंथों का अवलोकन करनाही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। किन्तु जिनके विचार चिरकाल से अर्थात् पीढ़ियों से स्थिर हो रहे हैं और संस्कार भी निरन्तर वैसेही मिल रहे हैं; कि बहुना, वे अपने मन्तव्य के विरुद्ध एक वर्ण (अक्षर) भी श्रवण करना पाप समझ रहे हैं। ऐसे अविचारी, अन्य दर्शनों के ग्रन्थों को कैसे पढ़ सकते हैं ? तो विचारकरना तो दूरही रहा किन्तु ऐसे हठी लोग अविचार बुद्धि से देखे भाले विनाही नास्तिक ग्रन्थ कह दिया करते हैं, परन्तु इस बात में वे लोक बड़ा भारी भूल

करते हैं। हां ! यदि किसी भी ग्रन्थ को अच्छी तरह समग्र पढ़कर पश्चात् निष्पक्षपात बुद्धि से समालोचना की जाय, तो भी श्रेय है परन्तु विना पढ़े अथवा विना विचार किये किसी भी विषयपर अपना अभिप्राय देदेना यह बुद्धिमानों का काम नहीं है। पढ़ और बिचारकर के जो किसी ग्रन्थ की समालोचना की जाय और उसमें कोई विद्वान् भूल भी बतलावे तो कोई हर्ज की बात नहीं है. क्योंकि " गच्छतः स्खलनं न दोषाय " इस न्याय से निर्दोषीही कहा जा सकता है। परन्तु इतनी बात हम अवश्य कह सकते हैं कि–चाहे किसी भी ग्रंथ को पढ़कर और उस सम्बन्ध में बिचार करने के बाद आलोचना की जाय तो विशेषतया भूल होने का संभव नहीं रह सकता।

इस निबंध में वेद और ब्राह्मणों की ऋचाओं (मंत्रो) के द्वारा भी यह बतला दिया गया है कि सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु साथ में यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि उन मन्त्रों के अर्थबदलने में अथवा अप्रामाणिक ठहराने में हठी और दुराग्रही कमी नहीं करेंगे ! किन्तु चाहे हठी दुराग्रही न मानें तथापि विचारशील मनुष्य इस ग्रन्थ से कुछ लाभ उठावेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत भारत वर्ष में आर्य (हिन्दू) लोगों में से वेद वेदाङ्ग (श्रुति-स्मृति, ब्राह्मण उपनिषद् पुराण इत्यादि) शास्त्रों को प्रमाण मानने वालों की प्रायः गणना वैदिक धर्म में ही हो सकती है और वेद के नेता वैदिक ब्राह्मण हैं। यद्यपि कई वैदिक विद्वान सत्यग्राही और निष्पक्षपाती भी हैं और उन्होंने जैनदर्शन के संबंध में अपने विचार प्रकट भी किये हैं किन्तु बहुधा वैदिक, हठी पक्षपाती और जैन दर्शन के विरोधी हुआ करते हैं, यदि कोई सत्यग्राही वैदिक साक्षर अन्य दर्शनों के धर्मग्रंथ देखकर कुछ प्रशंसा करे अथवा वेदों के संबंध में अपने कुछ स्वतन्त्र विचार दिखावे तो उसपर अन्य वैदिक कटाक्ष किये विना कभी नहीं रह सकते। इतनाही नहीं, किन्तु

---

१ इस निबन्ध में जहां पर वैदिक ऐसा लिखा हो वहां पर सर्वत्र उक्त ग्रंथों को मानने वालों के संबंध में समझ लेना चाहिये । क्योंकि वेदों का आश्रय लेकर चलने वाले जितने मत हैं उनको वैदिक कहना कोई गैर नहीं है ।

यहांतक आन्दोलन मचा देते हैं कि 'यह पण्डित नास्तिक बन गया' इत्यादि सब कुछ कहते हैं। हमको स्मरण है कि काशीपुरी के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्रीराममिश्रशास्त्री जी ने जिस समय अपनी वक्तृता में जैन दर्शन के संबंध में अपने उच्च विचार प्रकट किये थे (उस व्याख्यान का सारांश इस निबंध में दे भी दिया है) उस समय काशी के कई वैदिक, शास्त्री जी पर नाराज हुए थे और कइयों ने शास्त्री जी से यह भी कहा था कि आप सरीखे विद्वान् ने जैन दर्शन को उच्च श्रेणी का दर्शन कहा, यदि यह बात सत्य भी हो तो आप को प्रशंसा नहीं करनी चाहिये परन्तु शास्त्री जी सत्य वक्ता होने से उन को यह उत्तर दिया कि जो मुझे सत्य मालूम हुआ वही मैंने कहा है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि शास्त्री जी के परलोक वास से जैन समाज को बड़ी हानि उठानी पड़ी है।

जिस समय लो. तिलक महोदय ने जैन दर्शन के संबंध में अपने उच्च विचार प्रकट किये थे (उसका सारांश इस ग्रंथ में दे भी दिया है) उस समय महाराष्ट्रदेशीय एक दो ब्राह्मण तिलक पर भी कटाक्ष किये विना नहीं रह सके। हाल में थोड़े ही दिनों की बात है कि इलाहाबाद (प्रयाग) की सरस्वती नाम की मासिक पत्रिका में वेद विख्यात जी की ओर से 'वेद' शीर्षक, एक लेख निकला था, उसमें आपने वेदों के संबन्ध में तटस्थरीत्या अपने विचार प्रकट किये थे (उक्त लेख का बहुत कुछ सारांश इस निबंध में दे भी दिया है) किन्तु उक्त लेख प्रकाशित होते ही कई वैदिक महाशय वेदविख्यात जी पर टूट पड़े, और वर्त्तमान समाचार पत्रों द्वारा मनमाने शब्दों में टीका करने लग गये। पाठकगण! ईश्वरवादी कैसे पक्षपाती होते हैं यह आप उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट समझ सकते हैं।

यह निबंध मैंने किसी के भी मनः कलुषित करने को अथवा किसी की निन्दा करने को नहीं लिखा है किन्तु जगत् किसी का रचा हुआ है या अनादि ? और इस वारे में जैन दर्शन का क्या अभिप्राय है यह संस्कृत को न जाननेवाले हिन्दी भाषा के प्रेमियों को दिखाने के हेतु से लिखा है और आशा भी है कि हिन्दी पढ़नेवाले अवश्य इससे कुछ लाभ उठावेंगे।

प्रस्तुत में कई जैनी कहलाकर भी अन्य धर्मियों के गाढ सह

वास से यहां तक नहीं जानते हैं कि जैन दर्शन का क्या सिद्धान्त है? केवल इतना जानते हैं कि हम जैनी हैं और कई यह भी जानते हैं कि हम तीर्थंकर वीतराग के उपासक हैं। इसके सिवा जैन धर्म के तत्त्वों को अथवा वैज्ञानिक जैन साहित्य को जानने वाले बहुत ही कम हैं। इससे प्रचलित भाषाओं में जैनधर्म के शुद्ध तत्त्वों को बतलानेवाले ग्रंथ जितने अधिक विद्वान् द्वारा लिखे जायँ और छपकर प्रकाशित हों उतना अधिक श्रेय है और इसी हेतु से मैंने भी यह ग्रंथ लिखा है।

इस ग्रंथ में वेद, ब्राह्मण, स्मृति, उपनिषद् और पुराण आदि ग्रंथों के और और भी अनेक ग्रंथों के प्रमाण प्रसंगानुसार दिये गये हैं और श्री शंकराचार्य स्वामी के ब्रह्माद्वैत के बारे में भी परामर्श किया गया है इसलिये इस ग्रंथ को निष्पक्षपात बुद्धि से पढ़नेवाले अन्य दर्शनी भी लाभ उठा सकते हैं।

इस विषय पर एक निबन्ध लिखने का मेरा विचार बहुत दिनों से था परन्तु शारीरक और मानसिक आपत्तियों के कारण कई दिन तक यह कार्य नहीं कर सका। किन्तु गत वर्ष में सब प्रकार की शांति मिलने से यह कार्य बनने का मौका मिला यद्यपि जैसा चाहिये वैसा तो नहीं बना है क्योंकि यह पारमार्थिक विषय है और दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक विषय पर जब तक अनेक विद्वानों की लेखनी न चले तब तक वह विषय पूर्णांग रूप से स्पष्ट नहीं हो सकता यह स्वाभाविक नियम है और इस विषय पर जैसी चाहिये वैसी लेखनी विद्वानों ने नहीं चलाई ऐसा मालूम होता है इससे संस्कृत ग्रंथों के पूर्ण विचार प्रचलित भाषा में नहीं आये इससे इसमें कितनी बातों की त्रुटियां रह गई भी होंगी किन्तु अब भी कोई जैन विद्वान्, यति, मुनि इस विषयपर एक उत्तम ग्रंथ लिखे तो बहुत ही अच्छी बात है। किसी विद्वान् को मेरी भूल चूक हुई मालूम हो तो मुझे अवश्य सूचना करें यदि वह सूचना सत्य मालूम होगी तो उपकार माना जायगा और द्वितीयावृत्ति में अवश्य सुधार दिया जायगा।

काशी की यशोविजयजी जैन पाठशाला और ग्रन्थमाला के उत्पादक, शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीमान् विजयधर्मसूरी जी महाराज के मुख्य शिष्य मुनिमहाराज श्रीमान् इन्द्रविजयजी ने इस

ग्रन्थ में मुझे अनेक प्रकार की सहायता दी है इससे मैं आप का ऋणी हूँ, आप आर्ष जैनग्रन्थों के संशोधन में सतत प्रयत्न कर रहे हैं और आपकी कृपा से यशोविजय जी जैन ग्रन्थमाला के द्वारा [illegible]रह ग्रन्थ पाठशाला की ओरसे छपकर प्रकाशित भी हो चुके हैं और कई ग्रन्थों का कार्य शुरू है इससे आप समग्र जैन समाज के कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं !

पाठक महाशय ! अब यह लेख बढ़ गया है इससे मेरे उपकारी ज्ञानदाता गुरुवर्य श्रीमान् केवलचंद्र जी गणी महाराज के स्मरण पूर्वक यह लेख यहां ही पूर्ण करता हूँ ।

ग्रन्थकर्त्ता

वन्दे वीरम् ।

जगत्कर्तृत्वमीमांसा

कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः[1]
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ॥
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ १ ॥

(श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यः)

इस संसार में प्रचलित अनेक मत मतान्तर हमारे दृष्टिगत होते हैं और सबही धर्मावलम्बी प्रायः यही सिद्ध करने में तत्पर होते हैं कि "प्राचीन धर्म हमारा ही है और हमारा ही धर्म सनातन से चला आता है तथा हमारे धर्म के अतिरिक्त अन्य मतमतान्तरों के तत्त्व युक्तिविकल हैं अर्थात् अन्य मतों की स्थापना हम से बहुत ही पीछे हुई है अतएव हमारे धर्म की स्पर्धा अन्य कोई भी धर्म नहीं कर सक्ता" ऐसा अभिमान अनेक विद्वानों के हृदय में भरा हुआ दिखाई देता है यदि वे निष्पक्षपात बुद्धि से अपने मन में विचार करेंगे तो पूर्वोक्त व्यर्थ हठ उनके हृदय में नहीं ठहर सकेगा ।

जिस मनुष्य ने पूर्वपक्ष देखा हो और उत्तरपक्ष न देखा हो अथवा उत्तरपक्ष देखा हो और पूर्वपक्ष न देखा हो तो वह मनुष्य सर्वपक्षसम्पन्न नहीं कहा जा सक्ता और सच्छास्त्रवेत्ताओं की सभा में आदरणीय नहीं हो सक्ता ; इस समय प्रायः दुर्विदग्ध मनुष्य विशेष दिखलाई पड़ते हैं और वे अपनी दुर्विदग्धता दिखाते हुए हठात्

---

१ जगत् का कर्त्ता कोई है, वह एक, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य है ऐसी दुराग्रहरूपी विडम्बनाएँ उन्हीं को होती हैं जिनका प्रभु ! तू अनुशासक नहीं है ।

नवीन मत अथवा **कपोलकल्पित** मतों को प्रकट करके अनेक **मुग्धजनों** को अपने मायाजाल में फसाकर रसातल के भागी बना देते हैं फिर उक्त मुग्धों को उनके जाल से मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हमको अन्यमतावलम्बियों से वादानुवाद (धर्मचर्चा) करने पर यही प्रतीत हुआ कि अपने हठ का त्याग करना किसी को अच्छा मालूम नहीं होता। बड़े ही खेद की बात है कि जब विद्वानगण **सत्य** का परित्यागकर केवल हठपूर्वक अपने मन्तव्य ही को सिद्ध करना चाहते हैं तो उक्त विद्वानों की गणना किस वर्ग में हो सक्ती है यह पाठक स्वयं विचार लें।

सत्य ग्रहण व असत्य का परित्याग करो! इस प्रकार सब ही धर्मावलम्बी कहते हैं और **सभा समाजों** में अपने लम्बे २ व्याख्यानों को सुनाकर अपने मन की आह (ज्वाला) निकालते हैं किन्तु सत्य किस **चिड़िया** का नाम है इसका निर्णय किए विना ही निरर्थक प्रलाप करना ठीक नहीं, जब तक मनुष्य पक्षपात का चश्मा दूर नहीं करेगा तब तक वह सम्यक्द्रष्टा नहीं कहा जा सक्ता।

वाणी और अर्थ का सम्बन्ध अत्यन्त महत्व का है बहुधा विद्वान् लोग भी अपने विचारों को असंबद्धता और अस्पष्टता करके शब्दाडंबर द्वारा आच्छादन करने का प्रयत्न किया करते हैं और जैसी कल्पना मन में उत्पन्न हुई मुखद्वारा व लेखिनीद्वारा प्रकाशित हुए शब्द भी वैसे ही निकलते हैं चाहे **संदिग्ध** हों अथवा **असंदिग्ध**। सामान्य नियम ऐसा है कि जो विचार मनोगत होते हैं वही शब्दों में भी आ जाते हैं अपने मनोगत विचार व मुखद्वारा निर्गत होनेवाले उद्गार इन दोनों के बीच में नित्य सम्बन्ध हो या अनित्य हो परन्तु यह बात सत्य है कि जो विचार आधे या अस्पष्ट होते हैं उनके **द्योतक** शब्द भी वैसे ही होते हैं इसके अतिरिक्त यह भी सत्य अनुमान है कि जिसके भाषण में अर्थात् वाग्विलास में संदिग्धता होती है उसके विचारों में भी अवश्य **संदिग्धता** होती है अनेक वार ऐसा बनाव बनता है कि एक वा दो शब्द या वाक्य किसी ने एक स्थल पर पढ़े किंवा प्रसंग

वश सुने, वे किसी कारण उसके शीघ्र ही मन में भर जाते हैं किन्तु उनके तात्पर्यार्थ के पूर्ण ज्ञान न होने से उन शब्दों का रूढ़ अर्थ किस विषय पर है और **आनुषङ्गिक** अर्थ किस पर है अर्थात् कौनसा अर्थ किस स्थान पर उचित है यह न समझकर केवल आनुषङ्गिक अर्थ पर ध्यान देने से उसकी **बुद्धि** में अवश्य ही भ्रम हो जाता है और भ्रम के होने से विचारों में भी दोष आने का संभव है और उक्त दोष के कारण न तो विचारों की संदिग्धता दूर होती है और न वे शुद्ध विचारों को प्रकट कर सक्ते हैं। जो महाशय स्वतः पूर्णतया नहीं समझ सक्ते तो वे दूसरों को किस प्रकार समझा सक्ते हैं, कदापि नहीं, कदापि नहीं! कतिपय महाशय **भस्मावच्छन** वक्तृता (व्याख्यान) देकर या लेख लिखकर अपनी वाक्चातुरी से **अल्पज्ञ** लोगों के सामने **विद्वान्** बनने का दावा करते हैं परन्तु पूर्ण सत्यशोधक विद्वानों के सामने उनकी **वाक्चातुरी** नहीं चल सक्ती क्योंकि जो विद्वान् होते हैं वे जान जाते हैं कि यह कैसे **व्याख्याता** वा **लेखक** हैं; किसी शास्त्रकार का कथन है कि **"नास्तिकोऽपि वरं शत्रुर्भस्माछन्नो न जैमिनिः"** तात्पर्य यह कि जो लोग असंदिग्ध व स्पष्ट भाषणादि कर सक्ते हैं वे सम्यक्रीत्या समझा सक्ते हैं किन्तु जिनके समझने में ही भूल हो वे बोलने में अथवा लिखने में भूल करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जगत का कर्त्ता **ईश्वर** है अर्थात् सृष्टि ईश्वर की रची हुई है इस बात को स्वीकार करने वाले **वेदमतानुयायी, नैयायिक, वैशेषिक, शाक्त, शैव, वैष्णव, मुसलमान** व **ईसाई** आदि मतवालों की वाक्-विडंबना बड़ी ही आश्चर्य-जनक है उक्त मतवालों ने **संदिग्ध** शब्दों में **जगन्नियन्ता ईश्वर** के सिद्ध करने का पूर्णतया साहस किया है किन्तु उनके विचार युक्तिसंगत कदापि नहीं हो सक्ते। देखिए उनके वेदों में भी **सृष्टिरचना के लिए एक मत नहीं है** निम्न लिखित मंत्रों से आप को विदित हो जायगा कि इनके शास्त्रों में कितना **पूर्वापर विरोध है।**

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ॥
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ॥
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वादितिः परि ॥ ४ ॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ॥
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

ऋग्वेदसंहिता मं० १० । सू० ७२

भावार्थ–ब्रह्मणस्पति कर्मार के अनुसार देवताओं के जन्म को करता हुआ, देवताओं के पूर्व युग में असत् से सत् हुआ और सत् से दिशा और तदनन्तर उत्तानपद हुआ और उससे पृथ्वी, पुनः उस पृथ्वी से दिशा (आशा) हुई और अदिति से दक्ष हुआ और दक्ष से अदिति हुई है। हे दक्ष ! तेरी दुहिता अदिति का जन्म हुआ तदनंतर स्तुत्य (स्तुति करने के योग्य) व अमर ऐसे देवों का जन्म हुआ

देखिए आगे के मंत्रों में कैसा वर्णन है:–

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥ २ ॥

---

१ इस अर्थ को हमने अपनी ओर से न करके सायणभाष्यानुसार ही किया है ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋग्वेदसंहिता १० । १९१

भावार्थ–तप से सत्य और सत्य से अनन्तर रात्रि हुई तदनन्तर समुद्र व पश्चात् उसके संवत्सर, अहोरात्र यथाक्रम उत्पन्न होते भए ; धाता ने सूर्य चंद्रमा को यथापूर्व कल्पना किए और आकाश, पृथ्वी, अंतरिक्ष आदि की कल्पना की; अर्थात् रचे ।

पूर्वोक्त मंत्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी हैं । अब **तैत्तिरीयब्राह्मण** में किस प्रकार का लेख है सो देखिए:–

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् ।
तेन प्रजापतिरश्राम्यत् । कथमिदं स्यादिति ॥
सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत ।
अस्ति वैतत् । यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति ॥
स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् ।
स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् ॥
तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत् ।
तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥ १ ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण अष्ट० १ । अ० १ । अ० ३

भावार्थ–प्रथम जल था उसके ऊपर पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि वर्णन है उक्त वर्णन के अनुसार (किन्तु कुछ अन्तर वाला) वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में है; देखिए–

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां

विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत् तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥

तैत्तिरीयसंहिता अष्ट० ७ । १ । ५

उक्त मंत्र में जल के पीछे वायु और तदनन्तर पृथ्वी का उत्पन्न होना इत्यादि क्रम भेद लिखा है अब उपनिषदों में सृष्टिक्रम जो दिया है उसका भी थोड़ा सा अवलोकन कर लीजिए—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः।

तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनु० १

भावार्थ—उस आत्मा से आकाश और उस से वायु, तदनन्तर अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधी, अन्न, पुरुष इस क्रम से एक से एक उत्पन्न हुए ऐसे ही अन्य बहुत से ग्रंथों में सृष्टिक्रम अनेक रीति से लिखा है परन्तु उक्त सर्व मतों के विरुद्ध व उनसे विचित्र वर्णन तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा है उसको भी देख लीजिए—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमा वरीवः कुहकस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्। न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं । तस्माद्धान्यं न परः किंचनास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं। सलिलं सर्व्वमा इदं। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् । तमसस्तन्महिना जायतैकं । कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि । मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् । हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा । तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषां । अधस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् । रेतोधा आसन् महिमान आसन् । स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त वाक्यों में पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के प्रथम सत्, असत्, आकाश, जल, मृत्यु, अमृत, रात्रि, दिन, सूर्य, चन्द्र इत्यादि कुछ भी नहीं थे केवल ब्रह्म मात्र ही था उसकी सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई और फिर सब जगत उत्पन्न हुआ इत्यादि वर्णन कर के पुनः आगे निम्न लिखित वर्णन है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय । अथा को वेद यत आ बभूव । इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव । यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद । किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥

तैत्तिरीयब्राह्मण का० २ । प्र० ८ । अ० ९

उक्त मंत्र वाजसनेयसंहिता के अध्याय १७ का ३२वां है एवं ऋग्वेदसंहिता के अ० १० । १२९वां है । भावार्थ इस मंत्र का यह है कि यह विविध सृष्टि किस से व किसलिए उत्पन्न हुई यह वास्तव में कौन जानता है ? वा कौन कहने को समर्थ है ? देवता भी पीछे से हुए फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई इस बात को कौन जानता है ? जिससे द्यावा, पृथ्वी हुई वह वृक्ष कौन सा व वह किस बन में था यह कौन जानता है ? इन सभों का अध्यक्ष परमाकाश में है वही

जानता है किंवा वह भी नहीं जानता यह किसे मालूम ! जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला कोई भी नहीं, और उत्पत्ति क्रम भी प्रत्यक्ष किसी को मालूम नहीं, ऐसा अभिप्राय पूर्वोक्त मंत्र में है ।

ऋग्वेद में एक जगह पर जो मंत्र लिखा है उस का भी अवलोकन करलीजिए:-

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् । और—रथ्यममृताधितस्थुः ॥

ऋग्वेदसंहिता १-३५-६

भावार्थ-"द्युलोक तीन, तिनमें से—दो सविता के उदरमें और एक यम के भुवन में है । चंद्र तारादि—अमर उसके ऊपर बैठे हुए हैं" ऐसा कह कर आगे उसी ऋचा में ऋषि कह रहा है कि—

इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।

भावार्थ-यह सब जिसने जान लिया हो ऐसा कोई हो तो उसे यहां पर आके कहने दो, सारांश यह कि प्रत्यक्ष जाननेवाला (जगदुत्पत्ति का) कोई भी नहीं है ऐसा इस ऋचा में ऋषि का मत है आप लोग इन वेद मंत्रों से भली भाँति जान लिये होंगे कि वेदों में सृष्टिक्रम में पूर्वापर कितना विरोध है और कई ऋषियों का मत तो ऐसा भी दिखाई दे रहा है कि सृष्टि किसी की भी रची हुई नहीं है फिर वेदमतानुयायी किस साहस पर सृष्टि ईश्वरकृत मानते हैं यह मालूम नहीं होता, जो लोग वेदों को अनादि व अपौरुषेय मानते हैं उन्हीं वेदों में ऐसा पूर्वापर विरोध भरा हुआ है फिर बतलाइये ? कौन वेदों की बात पर विश्वास रक्खेगा ? एक स्थान पर तो कहदिया कि असत् से सत् हुआ और सत से दिशा हुई इत्यादि व दूसरे स्थल पर कहदिया कि तप से सत्य इत्यादि फिर एक जगह पर कह दिया कि प्रथम जल था उस के ऊपर पृथ्वी हुई—और फिर अन्य स्थल पर लिख दिया कि जल के पीछे वायु व तदनंतर पृथ्वी फिर एक जगह ऐसा भी लिख दिया कि उस आत्मा से आकाश व उस से वायु तदनंतर अग्नि, जल,

पृथ्वी इत्यादि, और फिर दूसरों की तर्कताप से बचने के लिए ऐसा भी लिख दिया कि प्रत्यक्ष में सृष्टि की उत्पत्ति जाननेवाला व कहनेवाला कोई भी नहीं है और सृष्टि किसकी रची हुई है यह भी किसे मालूम ? देखिए जिनको संशय शत्रु ने पग पग पर घेरा है उनके विचारों को कौन स्वीकार करेगा !

सृष्टि के कर्ता को मानने वालों का कहना है कि-चराचर जगत् का निर्माण और संहार अर्थात् उत्पत्ति और विनाश, ईश्वर स्वतः अपनी अचिन्त्य शक्ति के माहात्म्य से करता है, यदि केवल सृष्टि रचा ही करे तो असंख्य प्राणिगण त्रिभुवन में भी न ठहर सकें अर्थात् कहीं स्थानही न मिले इसलिये साथ ही साथ संहार भी करना पड़ता है। पृथ्वी, पर्वत, सुधाकर, दिनकर, महासागरादि जो जो वस्तु हैं वे संपूर्ण किसी बुद्धिमान् की रचित अवश्य हैं। जैसे घट, पट;—कुम्भकार, सूत्रकार के रचे हुए हैं वैसे पृथ्वी पर्वतादिक के लिये भी रचयिता होना आवश्यक है। ऐसा विभु, नित्य, एक, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, परमेश्वर के विना अन्य दूसरा कोई भी नहीं है, इस संसार में प्राणिमात्र जो चलनादि व्यवसाय करते हैं वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से करते हैं, ऐसा, सृष्टि ईश्वरकृत मानने वालों का कहना है, इस बात को **जैनधर्म** अस्वीकार करता है, और **बौद्ध** व प्राचीन **सांख्य** जो इस बात को अस्वीकार करते हैं तो प्रायः इन्होंने जैनधर्म का अनुकरण किया हो ऐसा **हमारा** मत है क्योंकि जैनधर्म बहुत **प्राचीन** है और इस धर्म के तत्त्व विश्वास करने योग्य हैं, यह कहना हमारा पक्षपात या हठ से नहीं, किन्तु **सत्यता**पूर्वक है और सत्यदर्शी जनों को भी स्वीकार करना ही होगा कि प्राचीन से प्राचीन जो संसार में धर्म है तो **जैनधर्म** ही है जिसकी आद्य व्यवस्था किसी भी **इतिहासकार** ने युक्तियुक्त वर्णन नहीं की यदि एक आधे ने द्वेषबुद्धि से कहीं लिख भी दिया हो तो इससे प्राचीनता नष्ट नहीं हो सक्ती। कई विद्वानों की ऐसी भी समझ है कि **बौद्ध** व **वैदिक** मत बहुत प्राचीन है। परंतु **जैनधर्म** इनसे भी प्राचीन धर्म है क्योंकि बौद्धशास्त्रों में और **वैदिकशास्त्रों में** जैनधर्म विषयक **खण्डन-मण्डनादि**

दृष्टिगत होते हैं देखिए बौद्ध पीठिका में लिखा है कि "निग्गन्थनाथ पुत्र और अग्गी वैशायन गोत्र का सुधर्मा अपने पक्के शत्रु हैं" इधर वेदव्यास जी के रचित व्यास सूत्र में "नैकस्मिन्नसंभवात्" (वेदा० सू० २।२।३३) इस सूत्र पर शङ्कराचार्य का रचित भाष्य है, उसमें उन्होंने जैनों की स्याद्वाद-सप्तभङ्गी का खण्डन करने का साहस किया है। इत्यादि प्रमाणों से कह सक्ते हैं कि बौद्ध से और वैदिक धर्म से जैनधर्म प्राचीन है यदि उस समय जैन धर्म नहीं होता तो बौद्धों के शास्त्रों में और वैदिक शास्त्रों में खण्डन मण्डन कहां से हो सक्ता? अतः इस विषय में पूर्वोक्त प्रमाण पर्य्याप्त है और जैनों का जो यह कहना है कि सृष्टि किसी की भी रचित नहीं है यही बात बहुत ठीक मालूम होती है !

सृष्टि को ईश्वररचित मानने से अनेक दोष आते हैं और अनादि मानने से एक भी दोष नहीं आता इस बात को इस ग्रन्थ में अच्छे प्रकार से दिखाया जायगा, पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ें।

जगत्कर्ता माननेवालों का कथन है कि "सृष्टि ईश्वर ने निर्माण की है वह विदेह ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वेद उसी परमात्मा के रचे हुए हैं" इसके प्रत्युत्तर में विदित हो कि विदेह ईश्वर देह के विना सृष्टि कैसे रच सका? अर्थात् कारण विना कार्य नहीं होता, फिर बतलाना होगा कि उस विदेह ईश्वर को सृष्टि रचने से क्या प्रयोजन था? विदेह ईश्वर के लिये जगत् के रचना करने में प्रवृत्ति अनुचित व असंभव है, यदि कहा जाय कि ऐश्वरीय माया से जगत उत्पन्न हुआ है तो वह माया ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न? और वह जगन्नियन्ता प्रभु भी स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र कहोगे तो जगत् माया से उत्पन्न हुआ है यह कहना झूठा होगा, और परतन्त्र कहोगे तो विभु सर्वशक्तिमान्-पना कहां रहा, वह तो परतन्त्र ठहरा? यदि यह कहोगे कि ईश्वर ने कौतुक में आके खेल किया है तो इस से आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर राजकुमारवत् रागवान् सिद्ध होता है और जहां राग है

वहां द्वेष भी है इससे आपका ईश्वर; रागी, द्वेषी कहा जायगा और राग, द्वेष होना ईश्वर के लिए दूषण है अतएव उस ईश्वर को कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सक्ता, यदि कहोगे कि कृपा से सृष्टि निर्माण की है तो संपूर्ण जीव जन्तुओं को सुखी बनाना था ? संसार में दुःख, दुर्गति, दरिद्रता; सूकर, मार्जारादिक दुष्ट योनि, जन्म, मरण, जरा, क्लेश इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित असंख्यात प्राणिगण दिखाई देते हैं बतलाइये ! आप के कृपालु ईश्वर ने जीवों को दुःखी क्यों रचा ? इससे आप के जगत्कर्ता ईश्वर को कृपालु कहना नितान्त असत्य है यदि आप ऐसा कहोगे कि जिस जीव के जैसे शुभाशुभ कर्म थे तदनुसार वे रचे गये तो इस कथन से आप के जगन्नियन्ता की स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी क्योंकि जैसे हम तुम कर्माधीन कार्य करते हैं तैसे ईश्वर भी कर्मवस हुआ। तो अब कहिये ईश्वर ने कर्म विना स्वतः क्या रचा ? यदि जैसा कर्म जिसका था तैसा उसने रच दिया कहोगे तो आप लोगों का जो यह कहना है कि "संपूर्ण कार्य ईश्वराधीन ही होते हैं" इस जगह पर कर्माधीन होते हैं यह कहना होगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वराधीन कुछ भी नहीं है और ईश्वर को भी कर्माधीनही मानना पड़ेगा। और सुख दुःखादि तथा जगत् की विचित्रता कर्मजन्य है तो फिर आप के विश्वकर्मा शिखंडी ने क्या विश्व की रचना की ! यदि आप कहोगे कि उसकी रचना समझ में नहीं आ सक्ती है तो क्या आपने विनाही समझे विश्वकर्त्ता मान लिया ? और जो आप के शास्त्रों में सृष्टि निर्माण के लिये जितना लिखा गया है वह विना समझे ही लिखा गया है ? वेदों मे सृष्टिरचना का क्रम जो है वह हम प्रथम लिख ही चुके हैं और उन मंत्रों से सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं और न वेदों में सृष्टि के लिये एक मत है, धन्य है आप की मान्यता को !

यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान लिया जाय कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है तो प्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर देहधारी है या अदेहधारी ? यदि कहा जाय कि देहधारी है, तो देहधारी के पुण्य पाप भी होना संभव है क्योंकि पुण्य पाप विना शरीर (पुद्गल) नहीं बनता, यदि

कहा जाय कि ईश्वर देहरहित है तो शारीरिक अवयव (हाथ-पाव-मुख-नासिका-करण-नेत्रादि) विना किसी प्रकार की भी रचना बन नहीं सक्ती। जो लोग कहते हैं कि "**जैसे कुम्भकार ने घट बनाया तद्वत् ईश्वर ने भी सृष्टि की रचना की है**" यह उदाहरण ईश्वर की अदेहित्व नष्ट करने वाला है क्योंकि कुम्भकार तो अपने हस्त पादादि अवयव द्वारा कुम्भादिक पात्र की रचना करता है और ईश्वर तो हस्त पादादि अवयवों से रहित है अतएव आप के ईश्वर ने किन अवयवों के द्वारा सृष्टि निर्माण की है। **कुम्भकार** का दृष्टान्त तो आपका यहां निरर्थक है क्योंकि देहधारी का दृष्टान्त अदेहधारी पर नहीं लग सक्ता, यदि आप कहोगे कि ईश्वर देह धारण भी कर सक्ता है तो निराकार–नित्य–निरंजन–निर्लेपादि उपमा देना अयुक्त है और देहधारी होने से ईश्वर तुह्मारे हमारे सदृश मनुष्य होना चाहिए और सब को नेत्रों से दिखाई देना चाहिए।

जिन ईश्वरवादी जनों के हृदय में ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो कि जगत्-कर्ता ईश्वर ही है उनसे हम प्रश्न करते हैं कि यदि सृष्टि का निर्माणकर्ता ईश्वर है तो **उपादान कारण** कौन रहा? यदि कहेंगे कि **ऐश्वरीय शक्ति** है तो वह शक्ति ईश्वर से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि अभिन्न है तो बतलाना उचित है कि जड़ है या चेतन? यदि जड़ है तो बतलाइये वह नित्य है या अनित्य? यदि भिन्न और नित्य है तो सब से प्रथम, एक नित्य पदार्थ ईश्वर ही है, यह कथन नितान्त असत्य हुआ, यदि कहोगे कि वह शक्ति अनित्य है तो उसका उपादान कारण कौन है? और यह नियम है कि नित्य से अनित्य वस्तु का उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है, यदि शक्ति ईश्वर से अभिन्न है तो ईश्वर और शक्ति यह पृथक् पृथक् नाम से मानना ही वृथा ठहरा और संपूर्ण पदार्थ ईश्वर रूप ही है ऊंच–नीच–राजा–रंक–नरक–स्वर्ग–अधर्म–धर्म सब को ईश्वर ही कहना कोई दोष नहीं और इससे तो आप के ईश्वर ने सृष्टि क्या रची किन्तु **अपना स्वरूप ही बिगाड़ लिया,** धन्य हैं महाशय! आप का ईश्वर हो तो ऐसा ही हो!

बड़ा आश्चर्य है कि सृष्टि को ईश्वररचित स्वीकार करनेवाले अपने हृदय में यह नहीं विचार करते कि जब ईश्वर ने सृष्टि रची उस समय उपादान

कारण रूप पदार्थ क्या था ? अर्थात् सामग्री कहां से लाए कि जिस से सृष्टि निर्माण की जैसे कुम्भकार (कुँभार) घट की रचना मृत्तिका, जल, चक्रादि पदार्थ की सहायता विना नहीं कर सक्ता, तद्वत् जगन्नियन्ता ईश्वर को सृष्टिनिर्माण करते समय सामग्री अवश्य चाहिये; यदि कोई कहे कि सामग्री तो अनादि से है तो यह सिद्ध हो चुका कि सामग्री ईश्वर रचित नहीं है तो महाशय ! आपके ईश्वर ने क्या रचना की ? और यह कथन भी नितान्त असत्य हो चुका कि "सब से प्रथम ईश्वर ही था, और ईश्वर ने ही संपूर्ण पदार्थों की रचना की है" क्योंकि सामग्री ईश्वरकृत न होने से संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं हो सक्ते, फिर ईश्वर ने क्या रचना की।

कितने कहते हैं कि ईश्वर निराकार होकर भी सृष्टि रचना करने की सामर्थ्य न रक्खे तो वह सर्वशक्तिमान् किस रीति से हो सक्ता है ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि सर्वशक्तिमान् वह कदापि नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि वह स्वतः अपना स्वरूप विगाड़ चराचर में विद्यमान होकर सर्वशक्तिमान् बनना चाहे तो नहीं बन सक्ता। सृष्टि रचना करने से ईश्वर में रागद्वेष रूप दोष प्राप्त होते हैं और जिसमें राग द्वेष रूप दोष है उसको सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है।

अरूपी ईश्वर से रूपी पदार्थों की उत्पत्ति मानना प्रमाण से बाधित है, क्योंकि आप का अरूपी सर्वशक्तिमान् ईश्वर संसार की रचना करते समय सामग्री कहां से और किन हाथों से लाया ? यदि क्षण भर जीव का कर्त्ता ईश्वर को मान भी लें तो यह विरोध आता है कि कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं हो सक्ता, यदि जीवों का उपादान कारण ईश्वर ही है तो बतलाना होगा कि जीव-ईश्वर की ऐक्यता में अंतर क्यों मानते हो ? और ऐश्वरीय इच्छा से जीव प्रतिकूल क्यों दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर ने जो जो आज्ञाएं दी हैं उन आज्ञाओं से विपरीत क्यों चलते हैं ? अनेक मनुष्य प्रसंगवस ऐसा उद्गार निकाला करते हैं कि "अमुक मनुष्य को दुर्बुद्धि उत्पन्न होने का

कारण केवल ईश्वरीय इच्छाही है" हम पूँछते हैं कि ईश्वरीय इच्छा ईश्वर की आज्ञा से प्रतिकूल भी हो जाती है? अर्थात् ईश्वर जीवों को दुर्बुद्धि भी देता है? इससे तो ईश्वर ने जीवों को दुर्बुद्धि दे के जान बूझ कर नरक को भेजने का प्रयत्न किया, धन्य है आप के **सृष्टि कर्ता दयालु ईश्वर को !** दयालु हो तो ऐसा ही हो।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से बध कराना व उस घातकी मनुष्य को राज्यद्वारा प्राणनाशक कठोर दंड दिलाना यह कार्य ईश्वर के लिए कितनी बहादुरी का है ! धन्य है आप के ईश्वर को व ईश्वरीय इच्छा को ! यदि कहा जाय कि एक कार्य तो ईश्वर ने किया और दूसरा कार्य जीव ने किया यह ठीक नहीं है क्योंकि जीव ईश्वरीय इच्छा के सिवाय कुछ करही नहीं सक्ता तो फिर जीव ने कैसे किया और यह दिखाना अनुचित नहीं होगा कि सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ता ईश्वर को किस युक्ति से मानते हैं ! एक स्थल पर तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से कर्म किया और दूसरे स्थल पर जीव ने स्वकर्मानुसार किया यह भी खूब पूर्वापर विरुद्ध वचन है !

एक स्थान पर लिखा है कि परमेश्वर ने अपने आप में विचार किया कि मैं सकल संपूर्ण पदार्थों को उत्पन्न करूं; इस विचार के पूर्ण करने को तपस्या की, तदनन्तर सकल पदार्थों के मूल कारण को उत्पन्न किया और उनको अपना आत्मा दिया इस प्रकार से संपूर्ण पदार्थ उत्पन्न हुए। अब यह परामर्श करने का स्थान है कि निराकार ईश्वर ने किस शरीर से तपस्या की और अपना आत्मा कैसे दिया ? सकल पदार्थों के मूल कारण को किस सामग्री से बनाया ! तपस्या किसके प्रीत्यर्थ की ? क्योंकि तपस्या का फल कोई देनेवाला होगा, तभी तो ईश्वर को तपस्या करनी पड़ी होगी ! जैसे हम तुम किसी भी देवता के आराधन के लिये तपस्या करते हैं तो वह देवता उस तपस्या का फल देता है तद्वत् **ईश्वरने** तपस्या की तो उसका फल देनेवाला भी कोई होना ही चाहिए। और यहाँ पर यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि प्रथम अकेला निराकार ईश्वर ही था और सकल पदार्थ तो ईश्वर ने पीछे से रचे फिर ईश्वर ने किस स्थान

पर बैठ के तपस्या की होगी और उसका फल किस द्वारा प्राप्त हुआ होगा ? जो लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् जगत् का कर्ता हर्ता मानकर भी कोर्ट कचेहरियों में पुलिस कानष्टेबलों के हाथों के धक्के खाते फिरते हैं उस समय उनका सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने रचे जीवों की रक्षा करने में क्या असमर्थ है ? क्या उस समय ईश्वर का **सर्वशक्तिमान्पना नष्ट हो जाता है ?** उत्पन्न करने की शक्ति रखना व पालन करने में अशक्त हो जाना क्या यह बात सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ता ईश्वर को उचित है । सत्यग्राही जन तो तब आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर स्वीकार करेंगे कि जब ईश्वरवादियों के लिए प्रत्यक्ष में सर्व जीवों के सन्मुख (जो नहीं मानते उनके भी सामने) आकर कहे कि **हे मेरे उत्पन्न किए हुए** प्राणिगणों ! मैं तुह्मारे लिए उपस्थित हूं, और जो मेरे को सर्वशक्तिमान् जगत् कर्ता ईश्वर नहीं मानते उनके लिए मैं उपस्थित नहीं हूं । परंतु ऐसा तो दृष्टिगत नहीं होता जो लोग जगन्नियन्ता ईश्वर स्वीकार करते अथवा नहीं करते हैं उन दोनों के लिए सांसारिक संपूर्ण बातें एक समान दृष्टिगत होती हैं फिर आपके जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वशक्तिमान् हम किस न्याय से कहें। कितने कहते हैं कि **ईश्वर अखण्ड ब्रह्माण्ड में व्यापक है ।**

"जले विष्णुः स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनी ।
विष्णुमालाकुले लोके नास्ति किंचिदवैष्णवम्" ॥

भावार्थ—जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, आकाश में विष्णुं, जो कुछ है वह विष्णु ही की पङ्क्ति माला अर्थात् सर्व लोक विष्णु ही की माला (पङ्क्ति) करके भरा हुआ है अतएव ऐसी कोई भी वस्तु संसार में नहीं है कि जो विष्णु का रूप नहीं है ।

ईश्वर को ऐसा संपूर्ण घट पटादि पदार्थों में व्यापक स्वीकार करने से ईश्वर की **अखण्डता नष्ट हो जायगी** और ईश्वर खंड खंड हो जायगा व ईश्वर को सर्वव्यापी मानने से अनेक दोष आते हैं जीवों में व्यापक होने से निर्लेपता नष्ट होकर कर्मरूपी मैल ईश्वर को लगना

उचित है व जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख का भी भागी होना होगा, निरावरणता नष्ट होकर सावरणता प्राप्त होगी इत्यादि अनेक दोष प्राप्त होने का संभव है, ऐसा कौन मूढ़ है कि जो उत्तम पद को त्याग अधम पद प्राप्त करने की इच्छा करेगा ! ईश्वर संपूर्ण सुखमय होकर उसको संसार के दुःखों में आकर फसने की क्या बुद्धि हुई ! क्योंकि जीव स्वतः परम पद अर्थात् ईश्वरपदाभिलाषी होकर ज्ञान भक्ति आदि करता रहता है और सांसारिक बन्धन से मुक्त होना चाहता है, परंतु आपके बचन तो बडे ही आश्चर्यजनक हैं, धन्य है ! आप के कर्ता हर्ता ईश्वर को कि जो स्वतः सांसारिक दुःखो में भाग लेने को विभक्त होता है !

कितनेक कहते हैं कि यह संसार ईश्वरीय विभूति है अर्थात् जीव ईश्वर का अंश है इस वाक्य से यह ध्वनित होता है कि जीव और ईश्वर में अंशांशी भाव संबन्ध है। यदि क्षण भर के लिए कदाचित् ऐसा ही मान लिया जाय तो जीव ईश्वर के सदृश होना चाहिए ! क्योंकि अशांशी में भेद नहीं हो सक्ता। सारांश यह कि ईश्वर के तुल्य जीव को भी निर्मल होना चाहिए ? यदि जीवों को निर्मल स्वीकार करेंगे तो कर्म रूप मल लगाने का क्या प्रयोजन हुआ ? ईश्वर जीव को अपना अंश जानते भी कर्म रूप मल लगाता है यह कितना आश्चर्य है और जीव ईश्वर का अंश होने से नरकगामी ईश्वर भी हुआ। सुखी हो वह भी ईश्वर और दुःखी हो वह भी ईश्वर, संसार परिभ्रमण करै वह भी ईश्वर, इससे तो सिवाय ईश्वर के कोई भी स्थल शून्य नहीं ठहरा। यदि ऐसा है तो वैर, विरोध, कलह, सुख, दुःख, दीन, दरिद्री, पापी, हत्यारा इत्यादि सब ईश्वर ही ठहरा, कर्ता भी वही और भोक्ता भी वही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्रादि में ईश्वर व्यापक है तो फिर ब्राह्मण को उत्तम और चाण्डालादिक को नीच मानने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि ईश्वर तो सर्व जीवों में व्यापक है। आश्चर्य है कि अपने अंश को घात करनेवाला ईश्वर आपही है ! यह विचारने का स्थान है कि स्वतः अपने अंशो को घात करने से घातकी ठहरा, और घातक रूप कलंक युक्त स्वतः ही है तो दूसरों के कलंक दूर करने की सामर्थ्य

कहां से आई, स्वतः दरिद्री होकर अन्य को धनाढ्य किस प्रकार कर सक्ता है ? कभी नहीं कर सक्ता । तद्वत् आपका ईश्वर भी अन्य का कलङ्क दूर नहीं कर सक्ता । ऐसे कलङ्की और अन्यायियों को ईश्वर कहना भी अयुक्त है । अविनाशी को विनाशी, निराकार को साकार, निर्दोषी को दोषी इत्यादि संपूर्ण दोष जगत्कर्त्ता ईश्वर के मानने में प्राप्त होते हैं।

कितने लोगों की यह समझ है कि **सृष्टि का कर्त्ता कोई होना ही चाहिए** क्योंकि संसार की अद्भुत रचना दिखलाई पड़ती है इसका स्वाभाविक होना असम्भव है और कर्मादि जड़ पदार्थों से जगदुत्पत्ति होना संभव नहीं है अतएव जगत् ईश्वरकृत कृत्य होना संभावित है । इसके प्रत्युत्तर में यह कहना चाहिये कि यदि आपके कथन से क्षण भर ऐसा मान भी लेवें तो ईश्वर प्राणियों का **कारण** हुआ और सब पदार्थ ईश्वर के **कार्य** हुए अतएव ईश्वर **पिता** और सब पदार्थ **पुत्ररूप** मानना पड़ेंगे यदि ईश्वर को पिता मानें तो सब पदार्थों पर ईश्वररूप पिता का **प्रेम होना** उचित है और सब संसार के प्राणियों को सुखी रखना पिता का धर्म है परन्तु संसार में तो अनेक **दुःखी भी** दिखाई पड़ते हैं, कितनेही पापी, कितनेही पुण्यवान्, कितनेही धर्मी अधर्मी, मनुष्य हैं यह किस प्रकार हो सक्ता है ? क्या यह बात पिता के योग्य है कि पुत्रों को दुःख दे ? यहां पर यदि कोई यह कहे कि **लायक** पुत्रों को सुख देता है और **नालायकों** को दुःखी करता है तो इसके प्रत्युत्तर में कहना चाहिये कि लायक नालायक होने की बुद्धि का दाता भी तो आप ईश्वर को ही मानते हैं फिर एक को लायक बुद्धि देना और दूसरे को नालायक बुद्धि देना यह ईश्वर के लिए कितना अनुचित है ? ईश्वर प्रवर्तक होकर कई जीवों को कुबुद्धि देकर नरक का भागी बना देता है और कई जीवों को सुबुद्धि देकर स्वर्ग का भागी बना देता है इसमें दुर्गति में जानेवाले जीवों ने ईश्वर की क्या **हानि** की थी और सुगति में जानेवालों से ईश्वर को क्या **लाभ** हुआ ? यदि इसका उत्तर देने को असमर्थ होते भी अपना हठ नहीं त्याग सक्ते तो धन्यवाद है आपको ! आपके ईश्वर हों तो ऐसेही हों ।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के स्वीकार करनेवाले सज्जन यह नहीं परामर्श करते कि ईश्वर को संसार की रचना करते समय ऐसी क्यों दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई कि संसार की रचना के करने के साथ ही अनेक मत मतान्तर भी रच दिए, क्या उसने यह नहीं जाना था कि अनेक मत मतान्तर रचने से मुझे कोई अच्छा कहेगा और कोई बुरा। अनेक मनुष्य शिव-विष्णु की पूजा अर्चा करते हैं और अनेक यवनादि मनुष्य उन्हीं शिव-विष्णु की निन्दा करते हैं। संसार में अनेक शाक्त और अनेक शैव तथा अनेक लौकिक मत धारी हैं, कोई गाणपत और कोई वैदिक हैं इस प्रकार अनेक मत मतान्तर रचकर संसार में निरर्थक परस्पर कलह, कदाग्रह बढ़ाकर ईश्वर ने क्या लाभ उठाया ? क्या सृष्टि रचयिता इस बात से अज्ञ था ? कि अनेक मत मतान्तर रचने से कोई मेरे को धिक्कार देंगे और कोई अच्छा भी कहेंगे। अतः सिद्ध हुआ कि जगत् ईश्वर का रचा हुआ नहीं है किन्तु अनादि है।

सृष्टिकर्ता ईश्वर स्वीकार करनेवाले यह भी कहते हैं कि बुद्धि ईश्वरदत्त है इस पर हम पूछते हैं कि एक गौ की पूजा करता और दूसरा अर्थात् यवनादिक गाय का बध करता है यह दोनों को बुद्धि ईश्वर ने दी या दूसरे ने ? बतलाइए जब बुद्धि का प्रेरक ईश्वर है तो एक को सुबुद्धि देना और दूसरे को नष्टबुद्धि देना क्या ईश्वर के लिए न्याय है ? इसलिये उपर्य्युक्त आपका कहना भी अयुक्त है।

जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का अधिपति ईश्वर ही है और जगत् उसका ऐश्वर्य है इसीसे ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, जो ऐश्वर्यवान हो वही ईश्वर कहा जा सक्ता है, इसके प्रत्युत्तर में विदित होकि जगत् का आधिपत्य लेने से ईश्वर को क्या प्रयोजन था ? जगत्रूप ऐश्वर्य ईश्वर को किस लिए चाहिए था ? क्या जगदुत्पत्तिरूप ऐश्वर्य को जगन्नियन्ता ईश्वर ने भूतपूर्व कभी प्राप्त नहीं किया था ? जगदुत्पत्ति के प्रथम ईश्वर के समीप ऐश्वर्य नहीं था ?

प्राप्त होने के प्रथम अनीश्वर था ? क्या सृष्टि रचने से ही ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ? जो ईश्वर को ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह किसी का दिया हुआ है या स्वतः उत्पन्न हो गया ? यदि ऐश्वर्य किसी का भी दिया हुआ मान लिया जाय तो देनेवाला कौन ? यदि स्वतः उत्पन्न होना मानोंगे तो किस रीत्यनुसार और किस स्थान पर प्राप्त हुआ ? यदि जगन्नियन्ता स्वीकार करनेवाले ऐसा कहें कि द्रव्य से मनुष्य धनाढ्य कहलाता है और प्रजा से राजा कहलाता है तद्वत् जगत्‌रूप ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है इसके उत्तर में आप स्वतः विचार करें कि जब जगत् के ऐश्वर्य से ईश्वर कहलाता है तो सृष्टि के प्रलय हो जाने पर ऐश्वर्य नष्ट भी होजाना चाहिए ? जैसे धनाढ्य का धन चले जाने से धनाढ्यता नष्ट हो जाती है अर्थात् फिर वह धनाढ्य के स्थान पर दीन दरिद्री कहलाता है तद्वत् ईश्वर को भी **अनीश्वर** स्वीकार करना होगा ? और साथ ही साथ यह भी कहना होगा कि **कभी ईश्वर है और कभी अनीश्वर है**, अतः सिद्ध हुआ कि जगन्नियन्ता ईश्वर जगत् का **अधिपति नहीं है**।

कितने लोगों का कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति के प्रथम ईश्वर ने ऐसा **सङ्कल्प** किया कि मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूँ—

"एकोऽहं बहु स्याम"

भावार्थ—मैं एक से अनेक बनूं। ईश्वर को सृष्टि रचना करने का यही प्रयोजन था इसलिये सृष्टि निर्माण की, यदि ऐसा है तो स्मरण रहै जहाँ **संकल्प** है तहाँ **विकल्प** भी है, अतः आपका **ईश्वर संकल्प विकल्प सहित** ठहरा ? संकल्प विकल्पमय सिद्ध होने से उसको सर्वथा **ईश्वर नहीं कह सक्के**। जो ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य प्रकट की वह किसको बतलाने को की ? और "**मैं अपनी सामर्थ्य प्रकट करूं**" ऐसी इच्छा जीवबुद्धि को होना उचित है अतः आपका ईश्वर जीवबुद्धि ठहरा, और जीवबुद्धि होने से उसको **सर्वज्ञ कहना अयुक्त है**, क्योंकि ईश्वर होकर सामर्थ्य प्रकट करना न करना इत्यादि कार्य तो देहधारी

को होना चाहिए ! किन्तु आप तो अदेहधारी मानते हैं। जिसको संशय शत्रु ने घेरा है और संकल्प विकल्प करता है उसको जो मनुष्य सर्वज्ञ कहता है वह केवल हठवाद के सिवाय कुछ नहीं करता ! ईश्वर को सामर्थ्य दिखाकर किसी के पास से इनाम प्राप्त करना था ! यदि कहोगे कि नहीं; तो वृथाही आपके परमेश्वर ने इतना परिश्रम क्यों किया ? एकसे अनेक रूप होने में ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? **क्या सांसारिक जीवों मे प्रशंसापत्र** (Certificate) प्राप्त करना था ? और जो यह कहना है कि सामर्थ्य प्रकट करने के लिये जगदुत्पति की है तो यह कथन भी नितान्त असत्य है क्योंकि किसको बतलाने के लिये सामर्थ्य प्रकट किया और किसको बतलाने को सृष्टि उत्पन्न की ! क्या उस समय कोई दूसरा ईश्वर का मित्रादि विद्यमान था ! जिसको बतलाने के वास्ते इतना भारी खेद उठाना पड़ा, आपलोगों का मन्तव्य तो यह है कि संपूर्ण पदार्थ ईश्वर के रचे हुए हैं, फिर सामर्थ्य बतलाने के लिए सृष्टि निर्माण की यह कथन आप का पूर्वापर विरोध से भरा है या नहीं ? ईश्वर को सामर्थ्य बतलाने की इच्छा कभी नहीं होना चाहिए अतएव यह भी आप का हेतु ठीक नहीं है।

कई महाशयों का यह भी अभिप्राय है कि **ईश्वर का जगत् रूप शृंगार है,** यह उसने अपना रूप विस्तार किया है, संसार रूप अपना मुख देख अपने ही मन में आप आनंदित होता है। इसका प्रत्युत्तर यह है कि इस कथन से तो ईश्वरवादी जी ! आप के ईश्वर ने अपना स्वयं ही स्वरूप विगाड़ लिया, क्योंकि **मार्जार, बराह, अज, महिषादि,** नाना प्रकार के रूप जितने हैं सभी उसीके रूप जानने चाहिए ?

कितने कहते हैं कि–

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥

भावार्थ–एक ही भूतात्मा अर्थात् ईश्वर, प्राणीमात्र में पृथक् पृथक्व्यवस्थित होता है, जैसे जलभरे पात्रों में चंद्र के प्रतिबिम्ब

पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ते हैं तद्वत् ईश्वर भी घट घट व्यापी है। तात्पर्य-ईश्वर **बिम्ब** है और जीव **प्रतिबिम्ब** है। परंतु यह कहना भी अज्ञता से भरा है क्योंकि बिम्ब के सदृश प्रतिबिम्ब होता है, जैसे द्वितीया का **चंद्रमा** धनुषाकार छोटा होता है तो जल में भी उसका वैसाही धनुषाकार छोटा ही प्रतिबिम्ब दीखता है और **पूर्णिमा का चंद्र** स्थाली के आकार गोल होता है तो जल में भी प्रतिबिम्ब वैसाही गोल दृष्टि गत होता है, अथवा कांच के भवन (आदर्श भवन) में जो कोई मनुष्य प्रवेश करे उसका जैसा बिम्ब होगा वैसाही प्रतिबिम्ब चारो ओर नजर आवेगा तद्वत् ईश्वर का प्रतिबिम्ब संसार को स्वीकार करने से स्पष्ट विरोध आता है, क्योंकि कोई सुखी कोई दुःखी, और कोई पापी कोई धर्मी इत्यादि नाना प्रकार की विचित्रता संसार में दिखलाई पड़ती है, अतएव संसार को ईश्वर का प्रतिबिम्ब किस हेतु से माना जाय क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि बिम्ब की सादृश्य प्रतिबिम्ब में होना ही चाहिए जैसे ईश्वर को अविनाशी मानते हो तद्वत् संसार को भी अविनाशी स्वीकार करना योग्य होगा। जैसा ईश्वर कर्मरहित है तैसे जीवों को भी कर्मरहित होना चाहिए ? तो ऐसा तो दिखाई नहीं देता इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर का प्रतिबिम्ब जगत् नहीं है। ईश्वर सुखमय है और संसार दुःखमय है, देखिये ? यह प्रत्यक्ष विरोध आता है इस से आपका कहना असत्य हुआ।

कई महाशयों का यह अभिप्राय है कि **चराचर में आत्मा (ईश्वर) एकही है** और पुद्गल भिन्न भिन्न हैं।

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१॥

भावार्थ—जिसके सब जगह पर हाथ, पग, आंख, शिर, और मुख है और सब स्थान पर जिसके कान हैं सब ओर संपूर्ण पदार्थों में व्यापक हो के रहता है सब ओर संपूर्ण वृत्तियों (व्यवहारों) का स्थान हो के ठहरा हुआ है। तात्पर्य-गरुड से आदि लेकर कीटिका पर्यन्त सब ओर संपूर्ण पदार्थों में

आत्मा एकही है । यदि ऐसा हो तो एक व्यक्ति के पाप करनेपर सारे संसार को लगना चाहिए ? और एक जीव मुक्त हो जाने से संपूर्ण संसार का मोक्ष हो जाना चाहिए ! एक प्राणि के बंधनयुक्त होने से सारे संसार को बंधयुक्त होना चाहिए ? भिन्न भिन्न, जीवों का अनुष्ठान (क्रिया) भी निष्फल होना चाहिए । परंतु यह बात तो दिखाई नहीं देती और पापी धर्मी, देव, नरक, ऊँच, नीच, चाण्डाल, ब्राह्मण, राजा, प्रजा, चोर, साहूकार, पिता, पुत्र, माता, स्त्री, पुरुष, भाई, बहिन इत्यादि भिन्न भिन्न कैसे दिखाई पड़ते हैं अतः सिद्ध हुआ कि सब संसार में **आत्मा एक नहीं किन्तु अनेक है।**

कितने कहते हैं कि जितने कार्याकार्य होते हैं वे सब ईश्वरीय इच्छा से होते हैं—

"ममेच्छा कापि नास्ति ईश्वरेच्छा प्रवर्त्तते"

यदि ईश्वरीय इच्छा से ही कार्याकार्य का होना मान लिया जाय तो विष खाने से मृत्यु, और धान्य भक्षण करने से क्षुधा की शान्ति, जल से तृषा की निवृत्ति, अग्नि से शीतहरण, ताप से खेदोत्पत्ति, वर्षा से धान्योत्पत्ति, द्वेष से वैरोत्पत्ति, नम्रता से स्नेहोत्पत्ति, चोरी से ताडन, पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग इत्यादि **कारण और कार्य** निरर्थक हो जायँगे, और जितने पदार्थ हैं वह सब अपने गुण दोषों से रहित मानना होगा, क्योंकि ऐश्वरीय इच्छा से ही संपूर्ण कार्याकार्य मान लिए जायँ तो राग करनेवाला स्नेही और द्वेष करनेवाला शत्रु यह कहना अनुचित होगा, क्योंकि राग द्वेष भी ईश्वरीय इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं । संपूर्ण कार्य करने का मूल कारण एक ईश्वरीय इच्छा होने से पाप पुण्य का करनेवाला, और भोगनेवाला ईश्वर ही ठहरा ? यदि ऐसा है तो किसी को पापी, किसी को धर्मी कहने से क्या प्रयोजन है ? और आपका शुद्ध, जगन्नियन्ता ईश्वर कार्य के साथ में अकार्य भी जब करता है तो डाकू लुटेरे आदि की उपमा उसको देना भी अनुचित न होगा, और उसके उत्पन्न किए हुए जीव अकार्य करने में प्रवृत्त हों तो उस में

आश्चर्य ही क्या ! धन्य है आपके ईश्वर को और आपको ! परंतु याद रखिये ईश्वर कभी अकार्य सुकार्य नहीं करता वह निरन्तर निर्दोष है अतएव सिद्ध हुआ कि कार्याकार्य होते हैं वे ईश्वर की इच्छा से नहीं। किन्तु शुभाशुभ कर्मों से होते हैं।

कितने सज्जन यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सृष्टि के आदि में जीव के शरीर और सांचे को बनाना ईश्वराधीन है पश्चात् पुत्रादि सन्तति उत्पत्ति करना जीव का कर्तव्य है देखिए ! क्या जगत्कर्ता स्वीकार करनेवाले सज्जन ! इतने में ही थक गए !! और फिर ऐसा भी कहते हैं कि नाना प्रकार के कर्म जीव किया करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है अतः ईश्वर की प्रेरणा विना जीवों से कर्म नहीं हो सक्ते। देखिए ! यह कथन कितना पूर्वापर विरोध से भरा हुआ है एक स्थान पर कहना कि सृष्टि के आदि में जीव के शरीर का सांचा बनाना ईश्वराधीन है और दूसरे स्थल पर कहना कि नाना प्रकार का जीव कर्म करता है उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है और दूसरे के तर्क-ताप से बचने के लिये किसी स्थल पर यह भी कह देते हैं कि जीव जैसा करता है वैसा पाता है देखिए ! ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों के आप्त वाक्य में कैसा न्याय भरा है ? यदि नाना प्रकार के जीव कर्म करते हैं उन कर्मों का करानेवाला ईश्वरही है तो कर्मों का कर्ता भी ईश्वरही ठहरेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ही कर्ता हो सक्ता है और जो कर्ता हो वही भोक्ता होना चाहिए, कर्ता के सिवाय भोक्ता अन्य नहीं ठहर सक्ता, और कर्ता भोक्ता ईश्वर को मानने से पाप पुण्य भी ईश्वर ही को लगना उचित है, जैसे किसी एक मनुष्य ने यष्टिका (लकड़ी) से किसी एक पुरुष को मारा, उसका पाप लकड़ी को कभी नहीं लग सक्ता, बल्कि मारनेवाले को ही लगा यह कहना होगा; तद्वत् जीव के किए हुए पाप पुण्य का प्रेरक ईश्वर होने से पाप पुण्य का भागी ईश्वर को ही मानना होगा, क्योंकि कर्म का कर्ता जीव तो यष्टिका के तुल्य है "कर्ता भोक्ता महेश्वरः" इस बात से सिद्ध हुआ कि जीव कुछ करता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं जब कर्ता भोक्ता जीव नहीं है

तो स्व स्व धर्मानुसार जो जो मनुष्य स्नान, सन्ध्या, मद्य मांस परित्याग, तप, जप, नियम, ध्यान, दान इत्यादि अनेक प्रकार के अनुष्ठान, पाप निवारण के लिए करने का कष्ट क्यों उठाते हैं और प्रायश्चित्तादि भी लेना वृथा ही होगा ? और सज्जन दुर्जन भी किसी को कहने की आवश्यकता नहीं है ? और कर्ता भोक्ता ईश्वर को कहने से हर्ष, शोक भी जीव को नहीं किन्तु ईश्वर ही को होता समझना चाहिए ! और जो यह कहावत है कि "**जैसा करेगा वैसा पावेगा**" यह सत्य नहीं है क्योंकि जब कर्ता भोक्ता ईश्वर है तो जीव क्योंकर पावेगा क्योंकि क्रिया का प्रेरक ईश्वर है। अनेक मनुष्यों के वृन्द हाथ जोड़ के भक्तिपूर्वक ईश्वर की प्रार्थना करते हैं कि "**हे प्रभु ! हमारे पाप आप निवारण करो !**" ऐसी प्रार्थना के स्थान पर ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि "**हे परमेश्वर तुम ही कर्ता और तुमही भोक्ता हो तुम्हारे किए पाप तुमही भोगो और तुमही अपने दूर करलो**" और कर्ता भोक्ता ईश्वर के होने से प्राणिगण को प्रार्थना करने की भी आवश्यकता नहीं है। जगत् का कर्ता स्वीकार करने वालों के आप्त ग्रन्थों में कहा है कि पाप दूर करने के लिये ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिये और कर्ता भोक्ता ईश्वर को कहकर एक प्रकार से मनुष्यों को भ्रमजाल में फसाने का साहस करना है, अतएव सिद्ध हुआ कि कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं किन्तु जीवही है।

जगत् कर्ता ईश्वर स्वीकार करने वालों का कहना है कि—

"सर्वज्ञ ईश्वरः"

वेदादि शास्त्रों में जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ माना है, यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर सर्वज्ञ है तो अपने प्रतिपक्षी रावण, वक्रदन्त, शिशुपालादि राक्षसों को क्यों उत्पन्न किया, यदि कहा जाय कि राक्षसयोनि **ईश्वर की अज्ञता में** उत्पन्न हुई है तो इस वाक्य से आप का जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता किन्तु **असर्वज्ञ** हुआ, जो संपूर्ण पदार्थों को निरन्तर और संपूर्ण रीत्या जानताही रहे उसी को सर्वज्ञ कहना उचित है परंतु आपके ईश्वर ने तो राक्षसयोनि अज्ञता में उत्पन्न की इससे आप

के ईश्वर में अज्ञता का दूषण आया या नहीं ? यदि ऐसा कहेंगे कि ईश्वर ने रावणादि राक्षसों को जान बूझ कर उत्पन्न किया था तो इस पर इस प्रश्न का उद्भव होता है कि राक्षसयोनि के उत्पन्न करते समय क्या ईश्वरने यह नहीं जाना था कि जो राक्षसलोग उत्पन्न होंगे वे मेरे प्यारे देवताओं को दुःखी करेंगे, और फिर देवतालोग मेरा स्मरण करेंगे और मुझे उनकी भक्ति के बश होकर राक्षसों को संग्राम [युद्ध] करके मारना पड़ेगा तथा देवताओं की रक्षा करनी होगी ? अब विचारिये कि ईश्वर को राक्षसयोनि उत्पन्न करने से लाभ के स्थान पर हानि भोगनी पड़ी या नहीं ? इससे तो राक्षसयोनि को नहीं उत्पन्न करते तो श्रेय था, क्योंकि ईश्वर को अवतार धारण करने का और युद्ध में अतुल बल देखाने का परिश्रम नहीं करना पड़ता । दूसरी बात यह है कि प्रथम उत्पन्न किया और फिर उनसे युद्ध करके उन्हें मार डाला इससे ईश्वर को क्या लाभ हुआ ?

महदाश्चर्य है कि विचारा जगत्कर्त्ता ईश्वर उत्पन्न करने का और मारडालने का निरर्थक परिश्रम रात दिन करताही रहता है। उपर्युक्त बातों को विचार करने से विदित होता है कि जगन्नियन्ता ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है किन्तु असर्वज्ञ है।

"ये ये हताश्चक्रधरेण दैत्या-
स्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन ॥
ते ते गता विष्णुपुरीं नरेन्द्राः !
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" ॥

श्लो॰ २३ पाण्डवगीता.

भावार्थ— चक्रधारी त्रैलोक्यनाथ जनार्दन ने जिन जिन दैत्यों को मारा वे सब विष्णुपुरी [मोक्षपुरी] को गए अतएव ईश्वर का क्रोध भी वर के तुल्य है ।

देखिए ! ईश्वर ने जितनों को मारा उतने सब मुक्त होगए ! तो अपने प्यारे देवताओं और भक्तजनों से भी शीघ्र राक्षसों को विष्णुपुरी देता है। जगत्कर्ता कैसा न्यायशील है इस बात का यह एक नमूना है कि

जो प्रतिपक्षी होकर ईश्वर से युद्ध करते हैं वे शीघ्र मुक्तिपद को चले जाते हैं और जो जीव ईश्वर की भक्ति करनेवाले हैं, अर्थात् भक्तजन हैं उनको मोक्ष देने में ईश्वर विलम्ब करता है अतः इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले सज्जनों को उचित है कि **ईश्वर से भक्ति के बदले शत्रुता करें** कि जिससे शीघ्र मुक्ति हो जाय और जो जो इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवाले मित्र भक्ति करते होंगे वे बड़ीही भूल करते हैं, यदि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करना हो तो ईश्वर से प्रतिपक्षी होने का प्रयत्न करें, कदाचित् इसीलिए राक्षसों ने यह सरल मार्ग स्वीकार किया होगा? और जो कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने हमको आज्ञा दी है कि **"मेरी भक्ति करो"**। इसपर यह कहा जा सकता है कि सायत तुमको ईश्वर ने वञ्चित करके शीघ्र मुक्त न होने का उपाय बतलाया हो! यदि बुद्धिमान् हो तो अपने ईश्वर का कथन कदापि स्वीकार नहीं करना जिससे तुम शीघ्र मुक्त होजाओ। देखिए! सृष्टिकर्ता स्वीकार करनेवालों ने मोक्षप्राप्ति का कैसा उत्तम उपाय शोचा है।

जगत्कर्ता स्वीकार करनेवालों का कहना है कि ईश्वर जब संहार करता है उस समय (ईश्वर) स्वतः पहिले प्रागूवट वृक्ष के पत्ते पर जाके **सो जाता** है और जब सृष्टि रचने का विचार होता है तब जागता है। हम पूछते हैं कि जब सृष्टि का प्रलय हुआ उस समय प्राग्वट किस स्थान पर जा ठहरा था? प्रागूवट सृष्टि में है कि बाहर! यदि सृष्टि के बाहर प्रागूवट मानोगे तो यह सिद्ध हुआ कि **सृष्टि के बाहर भी कई पदार्थ** हैं, यदि सृष्टिही में मानते हो तो सृष्टिप्रलय के साथ प्रागूवट का प्रलय क्यों नहीं हुआ और प्रलय के समय किस स्थान पर जा ठहरता है? और आप लोगों का यह जो फरमाना है कि पृथ्वी जलमयी हो जाती है फिर उसके ऊपर केवल प्रागूवट ही दृष्टिगत होता है यदि ऐसा है तो यह स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी, जल, वट, महाप्रलय के अनन्तर भी रहते हैं, यदि ऐसा आप मंजूर करेंगे तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि ईश्वर ने संहार किन २ पदार्थों का किया? और महाप्रलय किस न्याय से हुआ।

अतः सिद्ध हुआ कि संपूर्ण पदार्थ शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के प्रथम पृथ्वी, जल, प्राग्वट जीव और परमाणु कायम थे तो फिर आपके ईश्वर ने क्या सृष्टि रची। जगत्कर्ता तो जब सिद्ध हो कि बिना किसी पदार्थों की सत्ता से स्वतः ईश्वर का सब पदार्थ उत्पन्न करना सद्धेतुद्वारा सिद्ध कर दिया जाय। परन्तु असत्य बात कहां तक सत्य हो। और जो यह कहना है कि महाप्रलय में सो जाता है तो क्या ईश्वर को निद्रा भी आया करती है ? क्या ईश्वर सोता जागता भी है ? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आहार, विहारादि दशा देहधारियों को होती है, और आपलोग तो ईश्वर को अदेही मानते हैं इससे आपका मन्तव्य निरर्थक हुआ क्योंकि अदेही का जागना और सोना नहीं बन सक्ता और बिना शरीर के प्राग्वट पर जाना आना सोना भी नहीं हो सक्ता, इसलिए अदेही ईश्वर के लिए यह एक दूषण है और इससे ईश्वर सृष्टि का कर्ता, हर्ता है यह कहना भी असत्य हुआ।

कितनेक लोग कहते हैं कि **ब्रह्मा, विष्णु,** और **शिव** यह त्रिमूर्ति सर्वज्ञ है और संसार में जो कुछ पदार्थ है सो यही है, परंतु हमारी समझ से तो वे सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि शिव ने अज्ञान से पार्वतीपुत्र गणेश का शिरच्छेदन किया। यदि सर्वज्ञ होते तो क्या यह नहीं जान सकते थे कि यह मेरी प्राणवल्लभा पार्वती से उत्पन्न हुआ मेरा पुत्र है ? इत्यादि अनेक दृष्टान्त शैव मत के शास्त्रों में मिलते हैं उनके देखने से हम शिव को सर्वज्ञ नहीं कह सक्ते।

इधर जब रावण ने सीता का हरण किया उस समय रामचन्द्रजी विष्णु के अवतार और साक्षात् परमेश्वर सर्वज्ञ होकर भी वन के वृक्षों से पूछते फिरे कि—

"भो वृक्षाः पर्वताग्रे बहुकुसुमयुता वायुना धूयमानाः,
सा सीता केन नीता मम हृदयप्रिया कोमला क्वापि दृष्टा,,

मेरी सीता, किसीने देखी ? मेरी सीता, किसीने देखी ? ऐसा जब पूँछते फिरते थे उस समय उनकी सर्वज्ञता कहाँ जाती रही थी ? कि वे वृक्षादिकों से पूछने लगे ?।

और ब्रह्माजी की ओर देखा जाय तो विदित होता है कि जिस समय ब्रह्मा के समीप से राक्षस वेदों को चोरा ले गए उस समय ब्रह्मा की सर्वज्ञता कहाँ गई थी ? यदि ब्रह्मा सर्वज्ञ होते तो वेदों की चोरी कैसे होने देते ? उक्त बातों की ओर निरीक्षण करने से यही प्रतीत होता है कि **ब्रह्मा-विष्णु-शिव सर्वज्ञ नहीं** हो सकते किन्तु उन्हें असर्वज्ञ ही कहना होगा।

कितने महाशय यह फरमाते हैं कि "**ईश्वर ने जल में अपना वीर्य छोड़ा**" उसका अंडा हुआ, उस अंडे के फिर दो विभाग हुए, एक विभाग का नाम **पृथिवी** और दूसरे का नाम **स्वर्ग** पड़ा" देखिये! जगत्कर्त्ता माननेवालों की लीला, कि जब ईश्वर के वीर्य से पृथिवी आदि पदार्थ उत्पन्न हुए तब तो ईश्वर के शरीर भी होना उचित है क्योंकि विना शरीर के वीर्य नहीं हो सक्ता और जो ईश्वर का शरीर सिद्ध हो जाय तो ईश्वर को अदेह निराकार कहना झूठा हुआ यह कितना पूर्वापर विरुद्ध है। जगत्कर्ता ईश्वर मानने वालों में भी **एक मत नहीं है**, कोई ईश्वरवादी कहता है कि हमारा ईश्वर अवतार धारण करता है और अन्य कहता है कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता किन्तु विना शरीर ही सब कार्य कर सकता है। इन बातों को कहाँ तक लिखें यदि ईश्वरवादियों के मन्तव्य का परस्पर विरोध लिखने बैठें तो एक बड़ा ग्रन्थ हो जाय इसीलिए उनकी तर्कों का ही किंचित् परामर्श करना युक्त समझा गया है।

कोई ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ही जगत् में व्याप्त होकर **क्रीडा** कर रहा है। और कितनेक कहते हैं कि मनुष्यों को जब उद्धार होने का मार्ग नहीं मिला इसलिये वे रोदन करने लगे तब करुणानिधान विश्वपिता उनका रोदन सुनकर **एक ऋषि के हृदय में प्रकट हुए** और वह ऋषि ईश्वरीय शक्ति में बलवान् होकर खड़ा हुआ और विश्ववासियों को कहने लगा, हे विश्ववासीजनों! श्रवण करो! मैंने उस अनादि पुरातन परमपुरुष को जाना है। आदित्य के समान तो उसका वर्ण है, और अज्ञानी लोग उसका स्पर्श नहीं कर सक्ते। उसके जानने से तुम

लोग मृत्यु के हाथ से छूट जाओगे, इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। धन्य है ईश्वरवादियों की तर्कों को! कोई २ ईश्वरवादियों ने ऐसा विचार किया कि यदि हम कहेंगे कि हमारे शास्त्र ईश्वर के रचे हुए हैं तो लोग इस बात को तोड़ देंगे कि **"अदेह ईश्वर ने किस मुख से शास्त्र रचे?"** इस लिये यह कहना चाहिये कि ईश्वर ने ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश किया। ईश्वरवादी यह खूब उत्तम पाठ पढ़े हैं? ईश्वर ऋषियों[1] के आत्मा में प्रकाश करे अर्थात् भूत प्रेत की तरह प्रकाश करे किंवा बोले यह ईश्वरवादियों के घर का ही न्याय है इस बात को पाठक! सोचें।

कितने लोग ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को ईश्वरीय अवतार मानते हैं, और यह भी कहा करते हैं कि यही साक्षात् ईश्वर हैं क्योंकि ब्रह्मा **जीवों की उत्पत्ति करता है, विष्णु पालन-पोषण करता है और शिव संहार करता है इसलिये संसार त्रिगुणात्मक [त्रिगुण-मय] है।** अब प्रथम तो इन देवताओं के वारे में इनके ही मत के परम विद्वान् महर्षि भर्तृहरि क्या फरमा रहे हैं उसे सुनिये:—

"शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते! कुसुमायुधाय"॥१॥

भावार्थ—जिस **कामदेव ने शंभु, विष्णु, ब्रह्मा को स्त्रियों का दास** बना दिया है ऐसे अगोचर चरित्र वाले कामदेव को नमस्कार हो अर्थात् मैं (भर्तृहरि) नमस्कार करता हूँ।

---

१ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः-सामलक्षणम्॥ मनु० इस श्लोक का कितनेक यह अर्थ करते हैं कि परमात्मा ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि, वायु, सूर्य, अंगिरा, इन चार ऋषियों के आत्मा में प्रकाश किया और उक्त ऋषियों के द्वारा वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये। परन्तु यह अर्थ इस श्लोक में से नहीं निकलता।

महाशय ! आप के जगत्कर्ता हर्ता त्रिगुणात्मक अवतारों के संबन्ध में भर्तृहरि जी का अभिप्राय तो आप को उक्तश्लोक से विदित हुआ होगा। आश्चर्य है कि जगत् के कर्ता हर्ता होकर भी जब कामदेव के वशीभूत होगए, तो जो कामी क्रोधी होगा वह दोषरहित कैसे हो सकता है ?

दैत्यों की छाती पर पग रख कर **रौद्र** रूप से सशस्त्र खड़े हैं ऐसे देवों को शान्त, दान्त, समाधिस्थ कौन कह सकता है ! यदि तटस्थ होकर देखा जाय तो उक्त देव सर्वज्ञ किंवा राग द्वेष रहित नहीं कहे जासकते । और सृष्टि के कर्ता हर्ता भी उनका मानना सर्वथा अनुचित होगा । पक्षपाती जन चाहे बेशक ! मान लें क्योंकि मानना अपने २ मन पर निर्भर है । परंतु न्यायशील मनुष्य तो न्याययुक्तही बात को स्वीकार करेगा । प्रस्तुत भारतवर्ष में अनेक धर्म दिखाई देते हैं । कोई लोगों की यह समझ है कि, **वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म** प्राचीन है और दूसरे सब धर्म इन दोनों से पीछे स्थापित हुए हैं और जैन धर्म बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान होने से **बौद्ध के** समकालीन माना जाय तो कुछ हर्ज नहीं। इस बात में हमारी समझ से ऐसे ज्ञान रखनेवालों की पूरी भूल है क्योंकि **जैनधर्म** इन दोनों (वैदिक बौद्ध) धर्मों से भी बहुत प्राचीन है यह बात हम सप्रमाण प्रथम लिख आये हैं इसलिये यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है । जैनधर्म को बौद्धों की शाखा किंवा बौद्धों के समान समकालीन मानना अज्ञता का सूचक है। हाँ, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि द्वैतवादी, वेदान्ती, सांख्य,[१] पातंजल, जैमिनीय, काणाद, गौतमीय, रामानुज, वल्लभ, माध्व, गुरु नानक, कबीर, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, स्वामीनारायण इत्यादि मतों की गणना विशेष करके वैदिक मत में ही हो सकती है और उक्त पंथो को वेदों की शाखारूप किंवा वैदिक धर्म के पीछे के कहने से कोई हर्ज नहीं । यद्यपि उक्त पंथों का मन्तव्य वेदों से कुछ कुछ नहीं भी मिलता और ग्रंथ भी प्रत्येक पंथ वालों ने

---

१ प्राचीन सांख्य आदि कोई २ दर्शन वाले ईश्वर को नहीं भी मानते हैं

अपने अपने अलग २ बना लिये हैं, तथापि अंत में वेद, उपनिषद, श्रुति, स्मृति इत्यादि ग्रंथों के ही शरण जाते हैं इसलिये उक्त पंथों को वेदानुयायी धर्म कहा जाय तो कुछ क्षति नहीं है। क्योंकि वैदिकों ने सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना है और उक्त पंथ वालों ने भी सृष्टि का कर्ता ईश्वर कोही माना है परंतु सृष्टि रचना के संबंध में थोड़ा बहुत परस्पर मत भेद सभी में है। वेदों में ही जब सृष्टि रचना का एक मत नहीं है (और यह बात हम प्रथम सप्रमाण लिख भी आये हैं) तो वेदों के अनुयायी मतों में सृष्टि निर्माण का परस्पर मत भेद हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उक्त पंथों में परस्पर कितनी ही बातों का जो मत भेद है, उस ओर हम इस समय विचार करना नहीं चाहते, बल्कि हम इस जगह इस बात की विशेष जरूरत ही नहीं समझते क्योंकि यहां पर तो हम केवल जगत्कर्ता के संबन्ध में, अथवा जगत् कर्ता मानने वाले दर्शनों के संबन्ध में उचित शब्दों से ही विचार करना योग्य समझते हैं। दूसरों पर झूठा आक्षेप करना अपनी लेखनी को कलङ्कित करना है, अपशब्द लिखने से लेखक कभी बहादुर नहीं कहा जासकता, और न हम यह पद्धति पसंद करते हैं। परंतु जब जिस बात की समालोचना की जाती है तो उस बात में (अर्थात् प्रतिपक्षी शास्त्रों में) जो जो शब्द अथवा वाक्य आयें वे यदि कारण वश हमे लेने पड़ें तो इस बात में हम सर्वथा दोषी नहीं ठहराये जासकते, क्योंकि हम अपनी ओर से लिखें तो दोषी बनें। यदि प्रतिपाक्षियों के वाक्य न लेवें तो आलोचना में त्रुटि मालूम हो इसलिए यदि ऐसी सम्हाल करने पर भी पाठकों को कहीं अनुचित मालूम हो तो क्षमा करें।

जिनको सृष्टि ईश्वर रचित मानने का हठ है उनके लिये सर्वशक्तिमान् ईश्वर के संबन्ध में, और ईश्वरीय अवतारों के संबन्ध में, थोड़ा लिखना उचित समझा गया है:—

"वेदैः पुराणैः स्मृतिभिश्च येषां,
मनांसि नित्यं परिगर्वितानि।
पृच्छामि संदेहपदानि तेषां,

समीपतः शास्त्रविरोधभाञ्जि" ॥१॥

भावार्थ—वेद, पुराण, और स्मृतियों के कथनों से जिनका मन गर्वित हुआ हो उनसे ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं कि जो विचार करने के योग्य हैं।

"ब्रह्माऽपि पुत्रीमवसम्वदात्मा,
वृद्धोऽपि किं स्वां चकमे न मोहात्;
पीनस्तनीभिः सह गोपिकाभिः
लक्ष्मीपतिः सोऽपि चिरं चिखेल" ॥२॥

भावार्थ–देखिए! "ब्रह्माजी ने विकारवश होकर अपनी पुत्री की ओर कुदृष्टि से देखा"। यहां बिचार करने का स्थान है कि ब्रह्माजी ऐसे सृष्टिकर्ता महार्षि को अथवा ईश्वरीय अवतार को ऐसा अयोग्य कर्तव्य करना क्या उचित था? कितने लोग इस बात को छिपाने के लिये ऐसा भी कहते हैं कि प्रजापति नाम सूर्य और सूर्य की पुत्री उषा है। वेदों में जिस जिस स्थान पर ऐसा लिखा है उस स्थान पर ऐसा समझना चाहिए कि सूर्य उषा के पीछे चलता है। हमारी ओर से वे चाहे जैसा अर्थ क्यों न करें इसमें हमारी यत्किंचित् भी क्षति नहीं है परन्तु उक्त श्लोक से क्या भावार्थ ध्वनित होता है यह पाठक समझ लें! इधर विष्णु अथवा विष्णुअवतार षोडशकलापरिपूर्ण श्रीकृष्णजी की लीलाओं की ओर देखा जाय तो गीतगोविन्दादि काव्यों में और भागवतादि पुराण ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि गोकुल ग्राम की गोपियों के अधरामृत से और उनके उतुङ्ग स्तनकलशों को आलिङ्गन करने की क्रीडा से कृष्णजी का मन हर्षित होता था। इधर शिवजी के वृत्तान्त की ओर अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि:–

"स नीलकण्ठस्त्रिपुरस्य दाहं,
कोपाद्दितेने गगनस्थितस्य;

पूषाऽन्धकादींश्च मृधे जघान,

मुक्तिप्रदः स्यात् कतमस्त्वमीषु" ॥३॥

भावार्थ—नीलकण्ठ [शिवजी] ने क्रोध में आकर, जो राक्षसों के आकाश में तीन नगर (त्रिपुर) थे उन्हें जला दिया (भस्म कर दिया) और पूषान्धकादि दैत्यों को युद्ध में मार डाला । बतलाइए ! उपर्युक्त गुणवाले आपके त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मुक्ति पद को कैसे दे सकते हैं ? नहीं दे सकते और जगत्कर्ता भी नहीं कहे जा सकते । इसलिये आपलोग ईश्वर को जगत्कर्ता मानकर बड़ी भूल में पड़े हैं। क्योंकि जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त हो वह किस न्याय से ईश्वर कहा-जासकता है ? कभी नहीं। देखिए आपके मत के महर्षि भर्तृहरि ने भी कर्म को प्रधान मान कर समस्त देवताओं को उसके वशीभूत माना है:-

"नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः

विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना,

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति" ॥९५॥

भावार्थ-हम इन्द्रादिक देवताओं को नमस्कार करते हैं परन्तु देवता विधि के वश हैं इस से विधि को नमस्कार करना उचित है किन्तु विधाता भी पूर्व कृत कर्म के अनुसारही फल देता है । यदि विधि स्वतन्त्र नहीं है और फल कर्म के आधीन है तो देवता और विधि से हमें क्या प्रयोजन है, इससे मैं कर्म को ही नमस्कार क्यों न करूँ क्यों कि विधाता का भी कर्म पर सामर्थ्य नहीं है ॥

"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,

विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे ।

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" ९६॥

भावार्थ—जिस कर्म ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रचने में कुम्भकार की तरह लगाया, और विष्णु को दशावतारग्रहण रूप बड़े संकट में डाला और शिव को कपाल हाथ में लेके भिक्षा माँगने में रक्खा, और सूर्य को नित्य आकाश में भ्रमाया, ऐसे कर्म को मेरा नमस्कार है ॥

उपर्युक्त दो श्लोकों में भर्तृहरि क्या कह रहे हैं ख्याल कीजिए ! कर्मों का फल देनेवाला जिसे आप मानते हैं उसको भी कर्म के आगे भर्तृहरि ने निरर्थक बतलाया। आश्चर्य है कि ऐसे परतन्त्र को सर्वशक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहने में लोग कुछ विचार नहीं करते !

फिर भी थोड़ा हाल सुन लीजिए ! :—

"तपस्विशापान्न कथं विनष्टा,
पूर्द्वारिका यादवमण्डिताऽपि ।
हरिर्भ्रमन् काननमध्यदेशे,
बाणप्रहारान्न कथं विनष्टः" ॥१॥

भावार्थ—बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि कृष्णावतार विद्यमान रहते भी द्वारका पुरी तपस्वी के शाप से नष्ट हो गई अर्थात् अग्नि से जल कर भस्म हो गई। जो औरों की आपत्ति दूर करने को तो अवतार धारण करे परन्तु अपनी आपत्ति दूर न कर सके वह कैसा ईश्वर है। अन्त में द्वारका से निकल कर कृष्ण जी वन में गये, और वहाँ पर भी एक वधिक के बाण के लगने से दुःखी होकर जल के प्यासे ही उन्हें देहत्याग करना पड़ा ऐसे अल्पशक्तिमान् मनुष्यों को सर्वशक्तिमान् ईश्वरावतार कहना बड़ी खेद की बात है !

और भी थोड़ा अवतारों का हाल सुन लीजिए ! :—

"चकर्त शीर्षं स्वकरेण मातुः,
निःक्षत्रियां यः पृथिवीं चकार ।

स्नाति स्म तेषां रुधिरैस्त्रिकालं,

सोऽप्युच्यतेऽन्यैर्मधुसूदनांशः" ॥१॥

भावार्थ-परशुराम ने अपनी माताजी (रेणुका) का मस्तक अपने हाथ से छेदन किया, और क्षत्रियों को मारकर पृथिवी निःक्षत्रिया की, और उनके रुधिर से दिन में तीन तीन वार स्नान किया। ऐसे घृणाकारक कृत्य करनेवालों को सर्वशक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहना बड़ेही दुःख की बात है क्या यह निर्दयता नहीं है ? परन्तु यह बात वैदिकों के स्वभाव ही में दाखिल हो गई है क्योंकि ये लोग हिंसा को उत्तम मानते हैं इसीलिए यागादि में ये बड़ी भारी हिंसा करते हैं। कई वैदिक यागादि में जो इस समय हिंसा नहीं करते हैं, यह जैनधर्म का ही प्रभाव समझना चाहिये और इस बात को वैदिक विद्वान् कबूल भी करते हैं।

अब थोड़ा वैदिक ऋषियों का भी हाल सुन लीजिए :—

"पराशरः कामवशान्न कन्यां,

दिवा निषेवे यमुनाजलस्थः ।

व्यासस्तु बन्धोर्दयिताद्वयस्य,

वैधव्यविध्वंसकरो न जज्ञे" ॥१॥

भावार्थ—पराशर ऋषि, यमुना नदी में धीवर की कुमारी कन्या में आसक्त हो गये। क्या पराशर सरीखे नामी ऋषि को यह कार्य करना उचित था ! क्या ऋषियों को ऐसा काम करना अनुचित नहीं है ? और उनके पुत्र **व्यास जी ने अपने भ्राताओं (चित्राङ्गद, चित्रवीर्य) की स्त्रियों का वैधव्य विध्वंस किया,** अब जरा इस ओर ख्याल कीजिए ! क्या इन कामों को आप लोग अयोग्य नहीं कहेंगे ? विद्वान लोग तो ऐसे काम करनेवालों को बेशक बुरा ही कहेंगे !

ऐसेही ईश्वर को जगत्कर्ता-माननेवाले वैदिकलोगों के और भी ऋषियों की कथाओं को तरफ ख्याल कीजिये। इस समय भी कितनेक

वैदिक जो पुनर्लग्न (नियोग) के पक्षपाती हैं वह वेद व्यासजी की ही कृपा का फल मानना चाहिए। और जो जो वैदिक मित्रों ने पुनर्लग्न का निषेध किया है उनको शतशः धन्यवाद देना चाहिए क्यों कि वे लोक कुछ सत्यग्राही बने हैं।

पाठक! आप लोग सर्व शक्तिमान् जगत्कर्ता ईश्वर को माननेवाले महाशयों के नेताओं की आख्यायिकाओं की ओर विचार करें। हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि श्री कृष्णचन्द्रजी, रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी अत्यन्त प्रभावशाली राजा हुए और नीतिमान्, श्रद्धावान् तथा आस्तिक थे, परंतु इनको सर्व शक्तिमान् ईश्वरीयावतार कहना उनके भक्तों की इच्छा पर निर्भर है, ब्रह्मा, विष्णु, शिव को सृष्टि के कर्ता, हर्ता मानना उनके अनुयायी जनों की श्रद्धामात्र है, वैदिक ऋषियों को दयावान् अथवा अहिंसा के पक्षपाती मानना उनके प्रेमियों के मन की बात है, परन्तु युक्ति तथा प्रमाण और आचरणों से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त बातें उनमें नहीं थीं?

ईशामसीह का यहूद देश में उत्पन्न होना, और शूली पर चढ़ाकर शत्रुओं द्वारा उनका प्राण लेना यह ऐतिहासिक बात है; परंतु ईश्वर का पुत्र कहना और संसार का त्राणकारक मानना अर्थात् संसार की भलाई के लिये शूली पर चढ़ना यह ईशाई लोगों के निश्चय की बात है, परन्तु अन्य मतावलम्बी महाशय इस बात को विना प्रमाण सत्य नहीं मान सकते। इसी तरह मुसल्मान लोगों के पैगम्बर (नबी) महम्मद साहेब का मक्के में उत्पन्न होना और मदीने में परलोक (मृत्यु) होना यह भी एक ऐतिहासिक बात है, परन्तु अल्लाह के द्वारा इनके लिये आसमान से कुरान शरीफ़ की किताब का भेजना और उस किताब में लिखी बातों पर विश्वास लाना यह मुसल्मानों के ऐतकाद की बात है, परंतु सत्यग्राही बुद्धिमान् मनुष्य सत्यासत्य का विचार कर सकते हैं। ईशाई और मुसल्मानी किताबों के बारे में मैं इस जगह विशेष लिखना इसलिए ठीक नहीं समझता कि इसी ग्रन्थ के दूसरे या तीसरे भाग में इन मतों की अवश्य समीक्षा करना है और यह ग्रन्थ किसी एक धर्म को अच्छा और दूसरे को बुरा कहने

के लिये नहीं लिखा गया है, और न किसी को अच्छा बुरा कहने की हमारी इच्छा है किन्तु सृष्टि किसी की बनाई हुई है या अनादि है ? इसी बात के वारे में यहां लिखा जा रहा है । इस प्रथम भाग में विशेष करके हमारे भारत के आर्य (हिन्दू) धर्मों में से जितने जगत् कर्ता ईश्वर को मानते हैं उन्हीं के मन्तव्यों पर विचार किया गया है और दूसरे या तीसरे विभाग में हिन्दुस्तान के बाहर के धर्मों के वारे में विचार किया जायगा ।

जिस देव की मूर्ति ही शान्त वस्तुगत्या दिखलाई नहीं देती वह किस युक्ति से सर्व शक्तिमान् कहा जा सकता है ! कितनेक लोग मूर्ति को नहीं भी मानते और ईश्वर को निराकार कहकर भी उसको संसार की रचना करने का दोष देते हैं यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि निराकार से साकार पदार्थों का उत्पन्न होना किसी रीति से भी सिद्ध नहीं हो सकता !

कोई यह भी कहते हैं कि यह शरीर और इस के भीतर जो बोल रहा है यह सब पांच तत्त्वों का खेल है । अर्थात् पृथिवी से हड्डी, जल से रुधिर, अग्नि से जठराग्नि, वायु से श्वास और आकाश से शून्यता (पोलापन) हुआ है । एवं उक्त पांच तत्त्वों से ही सव संसार है अर्थात् पञ्चतत्वमय ही संसार है । हम पूछते हैं कि चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति किस तत्त्व में है ? क्यो कि तत्त्व तो पाचों ही जड हैं फिर जड से चैतन्य की उत्पत्ति किस रीति से होसक्ती है । और यह कहना कि पञ्चभूतों के परस्पर सम्मेलन से जीव की उत्पत्ति है तो यह नितान्त असत्य है क्योंकि जैसे शुष्क वृक्ष में पत्र, पुष्प, फल लगने का संभव नहीं है तद्वत् पञ्चभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हैं । अतएव यह मन्तव्य वृथा है । कितनों का यह भी कथन है कि पंचभूतों से विश्व उत्पन्न हुआ करता है और जब महाप्रलय होने का काल (समय) आता है तब उस समय सृष्टि पञ्चभूतों में लीन हो जाया करती है और पंचभूत ईश्वर में लीन हो जाते हैं । इस मन्तव्य को स्वीकार करने वाले यह नहीं विचार करते कि पञ्चभूत का ईश्वर मे लीन होना

मानने से आप लोगों का **ईश्वर जडमिश्रित** होना सिद्ध होता है और जडमिश्रित होने से **समल** और **निर्मल** दोनों अवस्था प्राप्त होनी ही चाहिए। दूसरी बात यह है कि जडमिश्रित ईश्वर होने से आपका ईश्वर ज्योतिःस्वरूप निराकार नहीं हो सक्ता। और पांच भूतों से जगदुत्पत्ति मानियेगा तो पांच भूत अनादि शाश्वत पहिले सिद्ध हो चुके हैं, और अनादि सिद्ध होने से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांचो भूतों को अपने अपने धर्मानुसार स्वाभाविक कार्य करते ही रहना चाहिए फिर बतलाइये प्रलय कैसे हुआ! और किस पदार्थ का प्रलय होना आप मानते हैं? यदि इस पर कोई यह कहे कि पञ्चभूत जगत् निर्माण की क्रिया नहीं कर सकते, तो द्रव्यरूप ही नहीं हैं बल्कि कथनमात्र के ही ठहरेंगे? क्योंकि पदार्थ अपना गुण (धर्म) नहीं त्याग कर सकता, यह स्वाभाविक दृढ नियम है। और जो यह मान लिया जायगा कि पांच भूत अनादि और अनंत काल से चले आये हैं इनका रचयिता कोई नहीं है तो फिर संसार भी अनादि और अनन्त काल का सिद्ध हो चुका। और जब विश्व अनादि अनन्त काल का सिद्ध हो चुका तो फिर उसकी उत्पत्ति-करनेवाला अथवा नाशकरनेवाला किसी को मानना भ्रम में पड़ना है। कई लोग **ईश्वर, जीव, प्रकृति (स्वभाव-काल-दिशा)** इत्यादि को अनादि कहकर फिर भी जगत् का कर्ता ईश्वर (निरञ्जन-निराकार-सर्वज्ञ-नित्य उपमावाले) को कहते हैं, क्या यह पूर्वापर विरोध से भरा वाक्य नहीं है? जब **ईश्वर, जीव, प्रकृति** अनादि सिद्ध हैं तो रचना ईश्वर ने किन पदार्थों की की? यदि इसके उत्तर में यह कहेंगे कि सूक्ष्म रूप में से स्थूल रूप किया, इसलिये हम ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं, तो सर्व शक्तिमान् कहाँ रहा? क्योंकि सर्व शक्तिमान् तो जब माना जाय कि जब वह नवीन भी कोई पदार्थ उत्पन्न कर सके। नवीन पदार्थ तो उत्पन्न करने की उसमें शक्तिही नहीं है तो वह एक प्रकार की शक्ति से रहित है इससे। उसका सर्व शक्तिमत्त्व धर्म नष्ट हो चुका। जगत्कर्ता मानने में कई दोष आते हैं तथापि हठी और कदाग्रही इस बात को नहीं त्यागते। अस्तु! उनके पूर्वकृत कर्मों की बात है,

परन्तु एक बार सत्यमार्ग को दिखादेना हमारा कर्तव्य है ।

जगत्कर्ता-माननेवालों का कहना है कि विना ईश्वर के संसार में सब पदार्थ शून्य है, अर्थात् ईश्वर सर्व व्यापक है और ईश्वर के विना दूसरा पदार्थ ही नहीं है, यदि ऐसाही है तो दान-पुण्य करनेवाला भी ईश्वर हुआ और लेनेवाला भी ईश्वर ही हुआ? अतएव लेने देने में कुछ अन्तरही नहीं रहा ? ईश्वर ने अपना दान आपही ले लिया ! फिर अमुक व्यक्ति ने दिया और अमुक ने लिया, और देनेवाले को बहुत पुण्य हुआ इत्यादि कहनाही असत्य ठहरेगा ? इससे तो दान पुण्य करनाही वृथा हुआ। ऐसेही मारनेवाला भी ईश्वर है और मरनेवाला भी ईश्वर है अतः ईश्वर ने ईश्वर को मारा ! इसमें किसी का कोई भी शत्रु मित्र न रहा क्योंकि दोनों में व्यापक ईश्वर है । एवं द्रव्य का स्वामी भी ईश्वर है और उस द्रव्य का चोरानेवाला भी ईश्वर है इससे तो अपना द्रव्य आपनेही चोराया ! दूसरे को चोर कहने से क्या गरज ? क्यों कि जो ईश्वर द्रव्यवाले पुरुष में व्यापक है वही चोर में भी तो व्यापक है । तथा स्वर्ग में भी ईश्वर है और नरक में भी ईश्वर है इससे स्वर्ग के सुखों का भी आनन्द ईश्वर को होना और नरक के रौरव दुःख की वेदना भी उसकोही होना मानना चाहिए ! पुण्यवान् स्वर्ग जाता है और पापी नरक जाता है यह कहना भी झूठा होगा । परन्तु स्मरण रहे कि आपका मन्तव्य उपर्युक्त दृष्टान्तों से असत्य हो चुका। घट घट में (पुद्गल पुद्गल में-शरीर-शरीर में) जीव अलग अलग है और उनके कर्म भी पृथक् पृथक् हैं । जो लोग सारे संसार में ईश्वर को व्यापक कहते हैं उनकी पूरी भूल है । इतने पर भी जिनको इस बात की हठ हो उनसे हम पूछते हैं कि यदि एक ईश्वर सर्व व्यापक है तो चंडाल, राजा, आदिकों को उच्च, नीच कहने से क्या गरज ? एक पुण्य करे तो उसका फल सारे संसार को क्यों नहीं मिलता ? एक के नरक भागी होने से सारा संसार ही नरक का भागी क्यों नहीं होता? एक श्रीमान् होने से सारी सृष्टि श्रीमान् क्यों नहीं होती ? और एक भिक्षुक होने से सारी सृष्टि भिक्षुक क्यों नहीं हो जाती किन्तु उक्त बातें तो नहीं होतीं, फिर सब पदार्थो में एकही परमात्मा व्यापक हम

किस न्याय से मानें ? इससे सिद्ध हुआ कि एक आत्मा सर्वव्यापक नहीं है।

जो जो सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को कहते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि सृष्टि ईश्वर की रची हुई है तो जितने जगन्नियन्ता ईश्वर की भक्ति करते हैं उन सब को और जो जो ईश्वर को जगत्कर्त्ता स्वीकार करते हैं उनको भी सुखी रखना जगन्नियन्ता को उचित है ! परन्तु जगन्नियन्ता को माननेवाले बहुत से लोग महान् दुःखी भी दिखलाई पड़ते हैं। जगन्नियन्ता ईश्वर को उचित था कि जो जो लोग जगत्कर्ता को नहीं मानते हैं उनके संमुख आकर स्पष्ट कहते कि सृष्टि का कर्ता हर्ता मैं हूँ ! तुम सृष्टिकर्ता को नहीं मानते इस लिए मैं तुम्हारे समीप आया हूँ ! ऐसा क्यों नहीं किया ? क्या इस काम को करने की उसमें शक्ति नहीं थी ? क्या सर्व शक्तिमान् में हम लोगों को समझाने की सामर्थ्य नहीं है ? क्या वृथा ही सर्व शक्तिमान् कहलाने का दावा रखता है ? क्या सृष्टि उत्पन्न करते समय यह नहीं सोचा था कि ये मेरे को जगत्कर्ता नहीं माननेवाले मेरा खण्डन करेंगे इसलिए इनको न बनाऊँ ? जब संसार का कर्ता कोई हैही नहीं तो उपर्युक्त बातें कहाँ से हों। ईश्वर को जगत्कर्ता मानना ही भ्रम है। इस समय भी सृष्टि को अकर्तृ-जन्य अनादि अनन्त मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। जैन, बौद्ध, और प्राचीन सांख्यकार इत्यादि सृष्टि के कर्ता को नहीं मानते, तो इन धर्मावलम्बियों को आपके ईश्वर ने क्यों रचा ? इसका उत्तर दीजिये। जगत् का कर्ता माननेवाले जब अपना पक्ष निर्बल देखते हैं तब यह भी कहने को तैयार हो जाते हैं कि हम ईश्वर से निर्माण किये गये हैं परन्तु जैसा हमारा शुभाशुभ कर्म होगा वैसाही हमको फल ईश्वर द्वारा प्राप्त होगा। देखिए पाठक ! प्रथम तो एक ईश्वर कोही पकड़ कर बैठे थे परन्तु फिर दूसरे की तर्कताप से बचने के लिये कर्म की ओर झुके, कर्मों का फल ईश्वरद्वारा प्राप्त होना मानने में न मालूम ईश्वरवादियों को क्या लाभ होता है ? जब ईश्वर अपनी ओर से कुछ नहीं दे सकता तो फिर कर्ता हर्ता वह किस न्याय से सिद्ध हो सक्ता है। यदि केवल ऐसाही मान लिया जाय कि सुख, दुःख स्वस्वकर्मानुसार प्राप्त

होते हैं और कर्ता भोक्ता ईश्वर नहीं है किन्तु स्वतः जीव ही है और इसमें ईश्वर से कुछ सम्बन्ध नहीं है तो विवाद करने का कारणही नहीं रहता। व्यर्थ ईश्वर को कर्ता, हर्ता, सर्वव्यापक आदि कहकर संसारी दुःखों में विभक्त होने का कलङ्क देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनन्त सुखों को छोड़कर सांसारिक दुःखों में विभक्त क्यों होगा?

कई लोगों का यह मन्तव्य है कि सृष्टि ईश्वर की रचित होने से सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है। यदि यह बात सत्य हो तो विद्वान् और मूर्ख में भेद क्यों माना जाता है? क्या विद्वानों में ही ईश्वरीय कला है और मूर्खों में नहीं है? ऐसा हो नहीं सकता। जब सभी में ईश्वरीय कला है तो नाना प्रकार की विचित्र रचना संसार में क्यों है? मनुष्य, घट पटादि पदार्थ को बना सक्ता है और श्वान, रासभ, शूकर, मार्जार, व्याघ्रादि पशु प्राणी, घट पटादि पदार्थ नहीं बना सकते, यह बात सब कोई जानते हैं। क्या पशुओं में ईश्वरीय कला नहीं है? आप इन पशुओं को कलाहीन कहेंगे, या कला सहित? आपका तो यह मन्तव्य है कि सब पदार्थों में ईश्वरीय कला है फिर पशु मूर्खादि अनेक कार्य करने में और विचारशक्ति में हीन क्यों हैं? यदि यह कहा जाय कि सब में समान कला नहीं है किन्तु न्यूनाधिक है तो आपका ईश्वर अन्यायी ठहरा! एक को विशेष कला देना और दूसरे को न्यून देना यह पक्षपात हुआ या नहीं? क्या ईश्वर का भी कोई शत्रु मित्र है? या उसको किसी की ओर से लाभ या हानि होने का संभव है? कि जिससे किसीको न्यून और किसीको अधिक कलाएँ देनी पड़ीं! यदि उसके शत्रु मित्र नहीं हैं तो यह अन्याय हुआ या नहीं? हमारी समझ से तो पदार्थों में ऐश्वरीय कलाएँ मानना अनुचित है।

कितनेक कहते हैं कि जगन्नियन्ता प्रभु भक्तवत्सल है और स्वेच्छा से अवतार (जन्म) धारण करता है। यदि ईश्वर भक्तवत्सल है तो भक्तजन ज्वर ताप, आधी व्याधी, जन्म जरा मृत्यु वगैरह अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी क्यों दीखते हैं? यदि भक्तवत्सल हो तो अपने भक्तों को बड़े बड़े कष्ट क्यों पाने देता है? असंख्यात

भक्त सज्जन; संबन्धी कुटुम्ब परिवार को दुःखी त्यागकर परलोक चले जाते हैं। यदि आपका प्रभु **भक्तवत्सल** होता तो भक्तों को और भक्तों के परिवार को क्यों दुःखी होने देता? क्या भक्तों की आयु अधिक कर देने की शक्ति सर्वशक्तिमान्-भक्तवत्सल ईश्वर में नहीं है? यदि है तो दुःखी क्यों? इससे यही प्रतीत होता है कि आपका ईश्वर भक्त-वत्सल नहीं है। जब जगत् का कर्ताही ईश्वर सिद्ध नहीं होसक्ता तो फिर दूसरी बातें कहाँ से सिद्ध हो सकेंगी।

ईश्वर को जगत् का कर्ता माननेवालों की यह भी समझ है कि सब पदार्थों का **अधिष्ठान** ईश्वर है, और ईश्वरीय इच्छा से सब **कृत्याकृत्य** होते हैं तो घट पट क्यों नहीं होजाता! जैसे घट का कारण मृत्तिका-पिंड है इसलिये मृत्तिकापिंड से घटोत्पत्ति होती है परंतु मृत्तिकापिंड से पटादिक कार्य नहीं होसकते। वैसे ही पट का कारण तन्तु है इससे पटोत्पत्ति होती है परंतु तन्तु से घटादि पदार्थ कभी नहीं बन सकते। यदि आप इसबात को स्वीकार नहीं करेंगे तो **कारण से कार्योत्पत्ति** होना मिथ्या कह देना चाहिए! यदि आपको जगन्नियन्ता ईश्वर पर इतना पक्षपात है तो आपका अधिष्ठान ईश्वर, घट को पट और पट को घट क्यों नहीं करादिया करता? जो लोग ईश्वर को जगत् का कारण **अधिष्ठान** बतलाते हैं वह उनकी भूल है। जगत् का कारण ईश्वर किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं होसक्ता। अतएव सिद्ध हुआ कि ईश्वर अधिष्ठान नहीं है और ईश्वरीय इच्छा से कृत्याकृत्य मानना युक्ति या प्रमाण से नहीं सिद्ध होता।

सृष्टि को ईश्वररचित माननेवाले यह भी मानते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, **भुजाओं** से क्षत्रिय, **जंघाओ** से वैश्य और पावों से **शूद्र** उत्पन्न हुए। मुख भुजा जंघाओं से उत्पन्न होने के कारण इन तीनों की द्विज संज्ञा है और शूद्र पावों से उत्पन्न हुआ इस से द्विज नहीं है। अर्थात् शूद्र नीची जाति की संज्ञा है। देखिए! महाशय! यह कैसा पूर्वापर विरुद्ध है! एक जगह कहना कि ईश्वर ने सभी पदार्थ की रचना की है और दूसरी जगह कहना कि ब्रह्माजी ने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

और शूद्र को रचा। यदि तर्कताप से वचने के लिए ऐसा कहें कि ब्रह्मा कहने से ईश्वर ही को यहाँ लेना चाहिये; हम ईश्वर को ब्रह्मा भी कहते हैं तो क्या निराकार ईश्वर के भी हाथ पाँव मुख आदिक होते हैं ? यदि होते हैं तो उसको निराकार कहना मिथ्या है। निराकार का अर्थ आकाररहित होता है किन्तु हाथ पाँववाला कभी निराकार नहीं कहा जासकता। ब्रह्माजी ने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को-मुख–भुजा– जंघा और पावों से उत्पन्न किया इस कारण ये उत्तम-मध्यम-जघन्य जाति कही जाती हैं ऐसा वैदिक मानते हैं और इसीसे वैदिक लोग ब्राह्मणों को सर्वोच्च मानते हैं। क्षत्रिय उससे कम और वैश्य उससे कम और शूद्र को सबसे नीचे की पंक्ति में गिना है यहां विचार करने का स्थान है कि कर्ता ने ब्राह्मणादि वर्णों के शरीर के चिन्ह (अवयव) ही अलग अलग क्यों नहीं करदिये ? कि जिससे गुण–कर्म–स्वभाव की परीक्षा करने का भी कोई कारण नहीं रहता। क्या सृष्टिकर्ता को वर्णाश्रमों में शारीरक चिन्ह करदेने की कठनाई पड़ती थी ? और दूसरी बात यह है कि गुण-कर्म-स्वभाव–से वर्णाश्रमों की व्यवस्था लगाने से बहुत कुछ विवाद उपस्थित होने का स्थान है। जैसा कि एक मनुष्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के हैं और दूसरा शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ और गुण कर्म स्वभाव ब्राह्मण के हैं, फिर बतलाइये किसको ब्राह्मण कहना और किसको शूद्र। क्योंकि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को शूद्र कहेंगे तो उसका विवाहादि सब व्यवहार शूद्रजाति में ही होना चाहिए ? और शूद्रजाति में उत्पन्न हुए मनुष्य को गुण–कर्म– स्वभाव से ब्राह्मण कहेंगे तो उसका विवाह आदि सब व्यवहार ब्राह्मणजाति में ही होना चाहिए ? और यदि ऐसा होना सब मान लें तो वर्णव्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सक्ती। इस बात को कितनेक वैदिक मानते हैं और कितनेक निषेध भी करते हैं। जो लोग ब्रह्माजी के मुख-भुजा-जंघा और पांवों से चारो वर्णों की उत्पत्ति मानते हैं उन्हीको विचार करना चाहिए कि ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न होनेवाले

ब्राह्मण माताद्वारा जन्म लेते हैं यह क्यों? उनकेलिये ब्रह्माजी को अवश्य ऐसा प्रबंध करदेना था कि वे गुह्यस्थानद्वारा जन्म न लेते! यदि मुखद्वारा जन्म धारण करते तो अवश्य हम मानते कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से है परंतु यह बात तो है नहीं सभी वर्ण माता के उदर में से ही जन्म धारण करते हैं इससे यह स्पष्ट है कि चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुखादि स्थानों से मानना भ्रम है।

कई ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर पृथ्वी का भार उतारने के लिये अवतार लेकर असुर पापी जनों का संहार करता है और देवों की रक्षा करता है। हम पूछते हैं कि ईश्वर ने असुर-पापी जनों को उत्पन्नही किस लिये किया! प्रथम उत्पन्न ही नहीं करता तो पृथ्वी के ऊपर भार होने का कोई कारणही नहीं था और अवतार धारणकर मृत्युलोक में आने का परिश्रम भी नहीं उठाना पड़ता। तथा मत्स्य-कच्छ-वाराह-नृसिंह आदि तिर्यक् योनी में भी जन्म नहीं धारण करना पड़ता। आश्चर्य है कि आपका ईश्वर सुख को छोड़ स्वतः दुःख में आने का उपाय करता है अर्थात् पशुओं का भी रूप धारण करता है। दूसरी बात यह है कि देवताओं की रक्षा करना और असुर याने राक्षसों का संहार करना इससे आपके ईश्वर में राग द्वेष का होना सिद्ध होता है और राग-द्वेषी को ईश्वर कहना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि राग-द्वेष ईश्वर के लिए दूषण है और ईश्वर को हमेशा निर्दूषण होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि आपलोग तो यह मानते हैं कि ईश्वरीय विभूति विना संसार में कोई पदार्थही नहीं है इससे तो देव तथा दानव दोनों में भी ईश्वरीयाविभूति होनीही चाहिए। तथा राक्षसों में ईश्वरीयाविभूति यदि आप मानेंगे तो ईश्वर ने स्वतः अपनी विभूति का नाश (संहार) किया और यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो "ईश्वरीयविभूति विना संसार में कोई पदार्थ नहीं है" यह कहना असत्य हुआ! धन्य है ईश्वरवादी जी आपके तर्कों को।

कोई यह भी कहते हैं कि ईश्वर ने पुतला रचकर स्त्री के उदर में रखदिया। परन्तु हमारी समझ से यह बात तो नितान्त असत्य है क्योंकि

सब जीवों के शरीर की रचना अपने २ पूर्वकर्मानुबन्ध के अनुसार ही होती है। इस बात को जो न माने उससे हम पूछते हैं कि एक श्रीमान्, और दूसरा दीन, एक राजा, और दूसरा रंक, एक रूपवान्, और दूसरा कुरूप, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी, एक पंडित और दूसरा मूर्ख, ऐसी विचित्र रचना जगत् की क्यों दीख रही है ? क्या किसी ने ईश्वर का भला बुरा किया था ?। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा २ जीवों का पूर्वकृत कर्मों का बन्ध होता है वैसा २ रूप-रंग-आकृति-सुख-दुःख-ज्ञान-अज्ञान प्राप्त हुआ करता है। जगत्कर्त्ता मानने वाले निर्दूषण-निराकार परमात्मा को रागी-द्वेषी बनाकर कुम्भकार के समान संसारी जीवों के शरीरों (पुद्गल) को रातदिन अर्थात् बराबर रचने का कलंक (दोष) निरर्थक देते हैं। ईश्वरवादी रागादि के वश से हठ नहीं त्याग करते, तो उनको उचित है कि इस बात को जरा शोचें कि ईश्वर ने जब जीवों को रचा उस समय निर्मल रचा या मलीन ? यदि निर्मल रचा कहियेगा तो धर्मशास्त्र (श्रुति-स्मृति-कुरान-बाइबिल वगैरह जगत् कर्ता मानने वालों के आप्तग्रन्थ) किसको पवित्र (निर्मल) करने को रचे गये ? क्योंकि पवित्र शास्त्र तो मलीन को पवित्र करता है। जब जीवों को आदि से ही निर्मल रचा फिर मलीन होने का क्या कारण हुआ ?। एवं बुद्धि ईश्वरदत्त मानने से जीवों ने मलीनता स्वतः ली यह भी नहीं कह सकते और ईश्वर ने दी यह भी कहना अयुक्त है क्योंकि ईश्वर क्या जीवों को मलीन होने की दुर्बुद्धि देता है ? यदि कहा जाय कि परमेश्वर ने जीवों को मलीन ही रचा था तो क्या जीवों के पाप किये विना ही पापरूप मलीनता लगा दी ? यदि कहोगे हां, तो ऐसे अन्यायी को कौन बुद्धिमान् ईश्वर कह सक्ता है। यदि कहाजाय, कि ईश्वर स्वेच्छा से सब जीवों को सुख दुःख देता है तो मैं पूछता हूं कि इच्छा ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो ईश्वर की इच्छा ही नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न होने से ईश्वर से कुछ संबन्ध नहीं है। यदि कहा जाय अभिन्न है अर्थात् ईश्वर में है तो क्षण भर में उत्पन्न होना और क्षण भर में विनाश होना, यह

नित्य परमेश्वर में व्यापक इच्छा का विरोध आता है । इससे कह सक्ते हैं कि उपर्युक्त बात युक्तियुक्त नहीं मालूम होती।

कई ऐसा भी मानते हैं कि– ईश्वर वायु चलाता है, मेघ वर्षाता है, और जो कुछ होता जाता है, वह सब ईश्वर ही करता है उसकी शक्ति अगाध है, इसके उत्तर में हम पूछते हैं कि ईश्वर को ऐसे कार्य करने में क्या कुछ लाभ है ? कि जो इतना अगाध परिश्रम करता रहता है। यदि कहोगे कि लाभ है; तो क्या अभीतक असली स्वरूप में कुछ न्यूनता रहगई है ! कि जो परिश्रम करके मिलाना चाहता है ? । यदि कहोगे कि ईश्वर को कुछ मिलाना नहीं है तो विचार करने का स्थान है कि फिर उसके समान दूसरा अज्ञानी ही कौन है कि जो विनाही कुछ लाभ के इतना निरर्थक श्रम करता रहता है ।

कई कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि इस वास्ते रची है कि इस विचित्र रचना को देख जीव मेरे पर विश्वास लावें। देखिए-महाशय ! यह कैसी तर्क है!। संसारी जीवों को विश्वास कराने की अभिलाषा ईश्वर को क्यों हुई? क्या संसारी जीवों से किसी प्रकार का ईश्वर को व्यापार (रोजगार) करना था ? कि जिससे प्रथमही यह बन्दोबस्त करलिया कि मेरा विश्वास होगा तो मेरी हुंडी-पत्री संसार में चलेगी। क्या आपका जग-न्नियन्ता प्रभु इतना लालची है? जो संसारी जीव आपके ईश्वरपर विश्वास न रक्खें तो क्या इसमें ईश्वर की कुछ हानि है ? यदि कहोगे कि न तो लाभ है और न हानि है तो फिर सृष्टि को विश्वास लाने के लिये संसार रचना करने का परिश्रम उठाने का क्या प्रयोजन हुआ ! अतएव जगत् ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होता । आश्चर्य है कि ईश्वरवादी ऐसी ऐसी कमजोर तर्क करते हुए कुछ विचार ही नही करते हैं !

जगत् का कर्ता ईश्वर को माननेवाले जैसा मन्तव्य जगत्कर्त्तृत्व के संबन्ध में रखते हैं वैसाही आश्चर्यजनक मन्तव्य मुक्ति के भी संबन्ध में रखते हैं । संसारी जीवों के लिए अन्तिम साध्य मुक्ति है। जितनी क्रिया जीव धार्मिक बुद्धि से करता है वह संसार से मुक्त होकर आध्यात्मिक

सुख की प्राप्ति के लिए करता है। इससे इस स्थानपर मुक्ति के बारे में भी थोड़ा लिखना अप्रासंगिक और अरोचक न होगा। सृष्टि का कर्ता माननेवाले कई सज्जन तो जैसा ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं वैसा मुक्ति का भी स्थान किसी भी एक जगह निश्चित नहीं मानते। उनका कहना है कि मुक्तात्मा संकल्पमय शरीर होकर ब्रह्म में विचरा करते हैं। क्या मालूम इस मन्तव्य को स्वीकार करनेवालों के ब्रह्म का कौनसा स्थान है! हमारी समझ से तो मुक्ति का स्थान अनियत मानने से मुक्त आत्मा का पवित्र और अपवित्र स्थानों में भी विचरना इन लोगों को मानना चाहिए! क्योंकि स्थानही जब नियत नहीं है तो अपवित्र स्थान में मुक्तात्मा जावे इस में आश्चर्यही क्या है? ऐसी मुक्ति उनका ईश्वर उन्हीं को दे। मुक्तजीव स्थूल शरीर त्यागकर संकल्पमय शरीर से आकाश द्वारा परमेश्वर में विचरते हैं और ब्रह्म में आनन्द, नियत समय तक भोगते हैं कि पुनः महाकल्प के पश्चात् संसार में आते हैं अर्थात् [1]परांत काल तक मुक्ति में रहते हैं फिर मुक्त आत्मा पीछे संसार में लौट आते हैं। वाह! ईश्वरवादीजी!! आपकी मुक्ति भी खूब है! मुक्त आत्मा को पीछे संसार में लौट आने का कारण क्या है? क्या मुक्तात्मा जीव मुक्ति से नाराज होकर स्वतः चले आते हैं या आपका सर्वशक्तिमान् ईश्वर उनको मुक्ति में से धक्का देकर गिरा देता है? यदि स्वतः संसार में आना कहोगे तो यह बतलाना होगा कि आध्यात्मिक सुख को छोड़ सांसारिक दुःखों में क्यों आते हैं? यदि कहोगे कि परमेश्वर उनको आज्ञा देता है तो फरमाइये उनको सुख से दुःख में लाने का क्या कारण हुआ? देखिये यह कैसी विचित्र मुक्ति है! जैसे किसी स्त्री का श्वशुरगृह और मातृगृह। मन की इच्छा हुई जब स्त्री सासर चली जाती है और मन की इच्छा होती है जब पीहर चली आया करती है ऐसी आप लोगों की मुक्ति है।

---

१ तैंतालिस लाख, बीस हज्जार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हज्जार चतुर्युगी का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्र का एक महीना, ऐसे बारह महीने का एक वर्ष ऐसे सौ वर्षों का परान्त काल होता है। ऐसा सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में लिखा है। कहीं ऐसा भी माना गया है कि इकतीस निखर्व, दश खर्ब, चालीस अर्ब वर्षों का एक परान्त काल होता है।

कईलोग मुक्ति पांच प्रकार की मानते हैं–१सालोक्य-२-सामीप्य-३-सायुज्य-४सार्ष्टि-५एकत्व। किन्तु यहभी ठीक नहीं है; अब हम मुक्ति का सच्चा स्वरूप लिखते हैं, पढिए !:–

(स्रग्धरावृत्तम्)

नात्यन्ताभावरूपा, नच जडिममयी, व्योमवद्यापिनी नो,
न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेक्ष्यते सर्वविद्भिः।
सद्रूपाऽऽत्मप्रसादा दृगवगमगुणौघा न संसारसारा,
निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवसतिरनिष्पातिनी मुक्तिरुक्ता १

भावार्थ– बौद्धों की मानी हुई **अत्यन्ताभाव** स्वरूपवाली मुक्ति नहीं है, नैयायिक और वैशेषिकों की मानी हुई **जडस्वरूपवाली** भी मुक्ति नहीं है, आजीवक और आर्यसमाजियों की मानी हुई **आकाश की तरह व्यापक** और अन्य से **व्यावर्तन स्वभाव** को धारण करने वाली भी मुक्ति नहीं है, यवनों की मानी हुई **विषय सुख से व्याप्त** भी मुक्ति नहीं है, किन्तु सर्वज्ञों ने इससे विपरीत अर्थात् **भावस्वरूप वाली** आत्मा की **प्रसन्नतावाली ज्ञान दर्शनादि अनेकगुण समूह वाली** सांसारिक सुखों से रहित और **निःसीम अतीन्द्रिय सुखवाली उदय का** स्थान और फिर जिससे **पतन नहीं** (नित्य) है ऐसी **मुक्ति** है। मुक्त हुए बाद लोकाग्र भाग में अशरीरी होकर "**जलतुम्बिका न्यायेन**" स्थिर रहना माना है, आत्मा का मुक्तहुए बाद पुनः संसार में लौट आना मानना अयुक्त है। लोकाग्र भाग में आध्यात्मिक सुखो में मग्न रहना मानना युक्त है। **पाठकवर्ग !** विचार करें, कि मुक्ति का स्वरूप कौन सा युक्त है और कौन सा अयुक्त ? मुक्ति के संबन्ध में

---

१ विष्णुलोक में जाके रहना। २ ईश्वर के नजदीक जाके बैठना। ३ ईश्वर में युक्त होजाना अथवा ईश्वर से परस्पर मिलजाना। ४ ईश्वर के समान ऐश्वर्यवान् होजाना। ५ ईश्वर के रूप में मिलजाना अथवा एक होजाना।

यहाँ पर इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम होती, अवसर मिला तो फिर किसी स्थानपर इस विषय की मीमांसा की जायगी। ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवालों ने सृष्टि की तरह मुक्ति के बारे में जो २ कल्पनाएँ की हैं उसका यह नमूना है :—

कई लोक यह दलील करते हैं कि:—"शंकराचार्य ऐसे विद्वानों का यह मत है कि सब संसार ब्रह्मरूप है और नाना प्रकार का जो प्रपञ्च दिखाई देता है वह सब मायाजन्य[1] है। इसीलिए द्वैत मानना ठीक नहीं, अर्थात् अद्वैत है। जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है। जगत् सत्य अपनेको भास होता है इसका कारण माया है और माया का स्वरूप अनिर्वाच्य है। माया को "सत्" याने, 'है' भी नहीं कह सकते, अथवा "असत्" याने 'नहीं' भी नहीं कह सकते हैं। है ऐसा कहें तो माया परमार्थ दृष्टि से भ्रमात्मक है, नहीं ऐसा कहें तो व्यवहार दृष्टि से माया सत्य है। शंकरस्वामी के मत से जीव और परमात्मा दो नहीं हैं अर्थात् एकही है" इस पर श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यजी महाराज का जो कथन है वह सुनिए :—

"माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धि-
रथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ?।
मायैव चेदर्थसहा च तत् किम्,
माता च वन्ध्या च भवेत् परेषाम्" ॥ १ ॥

भावार्थ-यदि माया सत् रूप है तो दो तत्त्व की सिद्धि हुई—एक ब्रह्म और द्वितीया माया (इससे तो ब्रह्माद्वैतवाद के मूलमेंही कुठार मारना हुआ) यदि असत् रूप है तो आकाशपुष्पवत् अवस्तु रूपहोने से नाना प्रकार के प्रपञ्च को मायाजनित कहना किस रीति से संभव हो सकता है अर्थात् असंभव है। जिसको माता कहना और उसीको बन्ध्या

---

१ अविद्या.

भी कहना, यह किस युक्ति से सिद्ध होसक्ता है ? यदि माताही है तो बन्ध्या कैसे हो सकती है और यदि बन्ध्याही है तो माता कहना अयुक्त है। **ब्रह्माद्वैतवादी जी !** आपके वचनों में यह प्रत्यक्ष विरोध आया या नहीं ? और जब आपके मत से जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्मही है तो फिर माया को व्यवहारदृष्टि से सत् और पारमार्थिक दृष्टि से असत् कहना यह दूसरों की तर्कताप से बचने का उपाय है या नहीं ? किन्तु इस वागूजाल को, समझनेवाले तुरन्त समझ सकते हैं। जब जीव और ईश्वर दो नहीं हैं तो अविद्या (माया) के भ्रम में जीव क्यों फसते हैं। क्या जीव ईश्वर होकर भी माया से वंचित नहीं रहता ? **शंकरस्वामी मंडनमिश्र की स्त्री से कामचर्चा में हार गये थे** इससे तो वे स्वतः माया के फांस में फसे सिद्ध होते हैं। आपलोग जिस शंकराचार्य को सर्वज्ञ मानते हैं जब वेही माया के फांस में फसे तो उनके रचे शास्त्र अमायिक कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । अत एव वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद युक्ति विकलही ठहरा। जब जीव और परमात्मा में भेद नहीं है तो फिर व्यवहार दृष्टि से माया सत् और परमार्थ दृष्टि से असत् कहना अयुक्त है। भला कहीं ब्रह्म अर्थात् परमात्मास्वरूप जीव के भी दो दृष्टि होती हैं ? धन्य है आपकी प्रतिभा को !

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली[1] की भूमिका में लिखा है कि–"दर्शनकारों के परस्पर विरोध के मूलभूत भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद श्री १०८ शंकराचार्यही हैं। इनसे प्रथम, सांख्य योगादि उत्तम सिद्धान्तों के निराकरण करने में किसी आस्तिक विद्वान् का साहस न हुआ था किन्तु सांख्यसिद्धान्तों के सहित उसके कर्त्ता को अप्रामाणिक ठहराने में तथा गौतम, कणाद को वैनाशिकतुल्य बतलाकर उनके सिद्धान्तों को धूली में मिलाने में एवं धर्ममीमांसा के मूलोच्छेदन में यह प्रथम २ भगवती भगवत्पादही की लेखनी प्रवृत्त हुई है" आगे फिर लिखा है कि–

१ बंबई में क्षेमराज श्रीकृष्णदासजी के वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस में छपी है।

"विचारे कपिल को लथेड़ना आरम्भ किया और यहांतक लथेड़ा कि श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्य सर्वज्ञ कपिलदेव वासुदेवांश रूप में जो अवतीर्ण हुए थे वे और ही हैं और यह द्वैतवादी सांख्य शास्त्र का कर्ता कोई अवैदिक कपिल है इत्यादि सभी कुछ कहा।" आगे फिर लिखा है कि— "कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, तथा जैमिनि ये पांचो दर्शनकार तो नानात्मवादी होने से अवैदिकही हैं। शेष रहे व्यासदेव सो इनका भी योगसूत्रों के भाष्य में तो नाना चिदात्मवादही सिद्धान्त है इन को भी चाहे आप वैदिक माने या अवैदिक"। आगे फिर लिखा है कि— "अब हमको यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कपिलादि षट् महर्षि अवैदिक हैं या एक भगवत्पाद श्री १०८ शंकरस्वामीही अवैदिक हैं? परस्पर विरुद्ध लेख है इसलिये दोनों में एक कोटी अवश्य निर्बल होनी चाहिये। 'कौन होनी चाहिये?' इसको विद्वान लोग स्वयं सोचें"। फिर आगे लिखा है कि–"गौतम और कणाद के सिद्धान्त पर जो आपने मिथ्या आक्षेप किया है वह हमको सर्वथा असह्य है।" उसके आगे लिखा है कि—"शंकर स्वामी ने सांख्यादि सर्व दर्शनों से विरुद्ध एक अपनी ढाईपाव जुदाही पकाई है"। इत्यादि बहुत कुछ परामर्श किया है। जिसको देखना हो वह न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की भूमिका देखले। कईलोक कहते हैं कि 'शंकर स्वामी ने जैन मत का मूल उखाड़ा और वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की, इस पर हमारा यह उत्तर पर्याप्त है कि उपर्य्युक्त भूमिका के लेखक ने शंकर स्वामी को 'अवैदिक थे' ऐसा स्पष्ट लिखा है फिर उन्हींको वैदिक हम किस आधार से कह सकते हैं, और जब अपने पूर्वज कपिलादि महर्षियों की निन्दा करते जिनको विचार न हुआ तब वे दूसरों को यदि भला बुरा कहें तो इसमें आश्चर्यही क्या? परन्तु ऐसे कहने से क्या होसकता है। शंकर स्वामी की क्या शक्ति थी कि वे जैन धर्म को मूल से उखाड़ सके हों। जैनदर्शन अविच्छिन्न रूपसे आजतक चला आया है और आजभी जैन दर्शन के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं इससे ऐसा कहनेवाले प्रत्यक्ष ही झूठे ठहरते हैं। घर में बैठकर अपने हाथ से अपनी रचित

पुस्तकों में कोई चाहे जैसा क्यों न लिखे क्योंकि लेखनी अपने हाथ की होती है। वेदव्यास जी के और शंकर स्वामी के लेखोंपर चाहे उनके मतानुयायी विश्वास रक्खें, किन्तु अन्य नहीं रख सकते। विचारने का स्थान है कि कई वैदिकों ने भी आपको अवैदिक बतलाया है और अद्वैतवाद पर कटाक्ष किया है। यह बात पाठक उपर्य्युक्त लेख से भली भाँति समझ सकते हैं। **आनन्दागिरि कृत शंकरदिग्विजय** और **माधवकृत शंकरदिग्विजय** में जैनमत के खण्डन में जो जैन साधुओं के उपकरण और जैन साधुओं से वादानुवाद लिखे हैं वह नितान्त झूठ और कल्पित हैं क्योंकि ज़ैनशास्त्रों में जो बातें नहीं हैं वैसी कल्पित बातें प्रश्नोत्तर रूप में लिखकर जैनधर्म को खण्डन करना समझलिया है परन्तु ऐसा करने से क्या होसकता है ? जिसको इस बात के संबन्ध में सत्यासत्य का निर्णय करना हो वह **जैनशास्त्र और शंकर दिग्विजय** यह दोनों को मिलाकर देखे तो मालूम होजायगा। व्यासजी से और शंकर स्वामी से **स्याद्वाद न्याय का खंडन न होसका**, क्योंकि दो चार शब्द या वाक्य अपने रचे पुस्तको में लिख देनेसे खंडन नहीं कहा जा सकता, खंडन उसका नाम है कि जिस युक्ति और प्रमाण से दूसरे की दलीलें तोड़ी जावें ? बस इसीसे कह सकते हैं कि स्याद्वाद न्याय का खंडन उनसे न हो सका। खंडन तो दूरही रहा परंतु वे स्याद्वाद न्याय को पूरा पूरा समझभी नहीं सके और कितनी बातों में जो **शंकर स्वामी ने स्याद्वाद न्याय का गुप्त सहारा लिया है** वह स्पष्ट दिखाई देता है देखिए ?। अद्वैत[1]मीमांसा में लिखा है कि:— औपनिषद् सिद्धान्तों के व्याख्याता ने विषय भेद से चार वर्ग बनाये हैं (१) ब्रह्म (२) जगदुत्पत्ति (३) आत्मा और (४) मुक्ति (जगदुत्पत्ति के ओर निरीक्षण करने से स्पष्ट विदित होता है कि शंकराचार्य ने कुछ जैन सिद्धान्तों का आधार लिया है और कुछ वेदादि अपर सिद्धान्तों का) 'जगदुत्पत्ति के संबन्ध में पर और अपर विद्या के नाम से दो विभाग

१—यह पुस्तक महादेव राजाराम बोडस एम्. ए. नें केसरी पत्र के एक लेख के आधार से लिखी है और आर्यभूषण प्रेस पूना में १८९३ ई. में छपी है।

शंकर ने माने हैं। अविद्यामूलक संसार अपर विद्या का विषय है। सर्व बाह्य सृष्टि के स्थान पर केवल व्यावहारिक सत्यत्व होने से वह माया के योग से ब्रह्म पर आभास रूप से भासमान होता है तथापि संसार को बीजाङ्कुर न्याय से अनादिही[1] मानना चाहिये। इसके सिवाय ईश्वर ने सृष्टि निर्माण क्यों की ? इस प्रश्न का योग्य उत्तर लोगों को कभी भी देना आताही नहीं। जगत् उत्पन्न करने में कर्ता का कुछ भी हेतु होना चाहिये परन्तु वैसा हेतु शुद्ध ब्रह्म के स्थान पर कदापि संभवित नहीं होता। वृक्ष सूख गया तो भी बीज रहता ही है और उससे दूसरा वृक्ष उत्पन्न होता है उसी रीति से मनुष्य मरा तो भी उसका कर्म बीज पुनर्जन्म का कारण होता है इस रीत्यनुसार यह उत्पत्ति और नाश की अनादि परंपरा निरन्तर चल रही है।' देखिये महाशय ! आप के शंकर ने इधर उधर फिरफिराकर अन्त में जगत् को अनादिही माना है। यद्यपि शंकर स्वामी ने संसार को अनादि योग्य रीति से जैसा चाहिये वैसा नहीं माना तथापि अन्त में उनको यह तो कहना ही पड़ा कि सृष्टि अनादि है। "शंकराचार्य[2] व ज्ञानेश्वर" नामक महाराष्ट्र भाषा के पुस्तक में लिखा है कि:-"सर्व शास्त्रादि और प्रत्यक्षादि[3] प्रमाण अविद्यात्मक है" आगे फिर इसी पुस्तक में पृ. ३२, पं. १९ में लिखा है कि:-"शंकराचार्य ने जो अज्ञान का ग्रहण किया है इसका कारण ऐसा है कि वेदान्त, कर्म उपासना इत्यादि विषयक हैं और इन सभों की व्यवस्था लगाने का काम आचार्य पर आके पड़ा था

१—शंकराचार्य जी ने सृष्टि को जो अनादि कहा है वह तत्त्व उपनिषदों का नहीं है किन्तु जैन सिद्धान्तों का है इससे कह सकते हैं कि शंकर ने जैन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है। और जो मनुष्य जिन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर चलता है वह मनुष्य उन सिद्धांतों का क्या खण्डन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता।

२—यह निबंध, रा. रा. बाला शास्त्री हुपरीकर ने लिखा है और विष्णु गोविंद विजापुरकर, एम. ए. सम्पादक ग्रंथमाला ने कोल्हापुर श्री समर्थ प्रसाद छापाखाने में छपवाया है।

३—आदि शब्द से वेदादि शब्दप्रमाण भी अविद्यात्मकही समझना चाहिए।

और इनके भी पूर्व काल से अज्ञान के ग्रहण करने की रीति चली आई थी। यह योगवासिष्ठ पर से और उनके ग्रन्थों पर से समझ सकते हैं। इसलिये पीछे से चला हुआ अज्ञान का ग्रहण करके उन (शंकराचार्य) को भाष्यों को लिखना पड़ा, और उससेही श्रुतियों की व्यवस्था लगी। कर्म, उपासना अज्ञानी को है, ज्ञानी को कुछ नहीं ऐसा स्थल २ पर आचार्य का कथन है। और एक अज्ञान को ग्रहण करने के लिये आभासवाद, ईश्वरवाद, इत्यादि वाद और तत्वमसि आदि वाक्यों की सार्थकता होने लगी, और श्रुति का भार अपने मस्तकपर लेने के कारण श्रुति के व्यवस्था के लिए उन्होंने सर्व पक्ष लिए हैं। अब कितनेक लोग आचार्यपर ऐसा आक्षेप करते हैं कि, झूठा अज्ञान लेकर सब व्यवस्था की सही; परंतु उन्होंने (शंकर ने) इस रीति से जगत् को फसाया है। एक दृष्टि से यह आक्षेप यद्यपि सच्चा मालूम होता है तथापि विचार करने से आचार्य ने जो किया वह ठीक किया है ऐसा मालूम होता है।" देखिए ब्रह्माद्वैतवादीजी! आपके शंकर तो सब शास्त्रों को और प्रत्यक्षादि शाब्द पर्यन्त प्रमाणों को अविद्यात्मक बतलाते हैं और उनके अनुयायी यह स्वीकार भी करते हैं कि शंकराचार्य ने अज्ञान का ग्रहण किया। भला कहीं अज्ञान के ग्रहण करने वालों को भी कोई ज्ञानी कह सक्ता है! कभी नहीं। और जो अज्ञान का ग्रहण करके भाष्य लिखने पड़े तभी तो जैनलोग शंकर के कथन को अज्ञानी रचित कहते हैं। और जो आपका यह मानना है कि शंकराचार्य के पूर्व काल से ही अज्ञान ग्रहण करने की रीति चली आई थी तो इससे यह भी सिद्ध हो चुका कि वेद-वेदान्त दर्शन प्रथमसेही अज्ञान को ग्रहण करते चले आये हैं इसीसे सच्चे ज्ञान के ग्रहण करनेवाले जैन आपके अज्ञान के वाक्य नहीं मानते। भला कहीं अज्ञान को ग्रहण करने सेभी सार्थकता हो सकती है! अज्ञान का ग्रहण करना अज्ञानियों का काम है, न कि ज्ञानियों का। ज्ञानीलोग अज्ञान का ग्रहण करना बुरा समझते हैं इस लिये वे अज्ञान को नहीं ग्रहण कर सकते। शंकर के अनुयायी इस बात को कबूल करते हैं कि:-"उन्होंने इसरीति से जगत् को फसाया है, एक दृष्टि से यह आक्षेप सच्चा मालूम होता है" यदि यह आक्षेप सच्चा

है तो क्या शंकर स्वामी ऐसा मार्ग नहीं सोध सके कि ज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ की वृद्धि करते ! इससे यह सिद्ध होता है कि शंकर ने अज्ञान मार्गसेही अपने पन्थ को बढ़ाया है, और यह भी कहसक्ते हैं कि अज्ञानीलोगही शंकर के अज्ञान में फसे होंगे ! यदि वे पूरे ज्ञानी होते तो ऐसा मार्ग कभी न लेते ! जब आप सब शास्त्र अज्ञानात्मकही मानते हैं तो शुद्ध ब्रह्म के लक्षण अज्ञानात्मक शास्त्रों में कहाँसे हो सकते हैं ! कहीं अज्ञान से ज्ञान प्राप्त होसक्ता है ! कदापि नहीं । इससे यह सिद्ध हो चुका कि आप के वेद वेदान्तादि शास्त्रों से सच्चा ब्रह्म का स्वरूप नहीं मिल सक्ता । और जैनों के शास्त्र पूर्ण ज्ञानात्मक हैं इससे सच्चा ब्रह्म का स्वरूप इनसे बराबर मिल सकता है । जैनलोग श्रुति स्मृति आदि वेद-वेदान्त शास्त्रों को न तो प्रमाण मानते थे और न अब मानते हैं । कहीं अज्ञान मार्ग से ज्ञान मार्ग की स्थापना हो सकती है; कभी नहीं। जैन लोगों के प्रश्नों के समाधान करने की शक्ति शंकर में नहीं थी क्यों कि शंकर स्वामी जैन शास्त्रों का रहस्य ही नहीं जानते थे ऐसा उनके ग्रन्थों से मालूम होता है । मण्डनमिश्र जैन नहीं थे किन्तु द्वैतवादी थे और उनकी स्त्री के साथ कामचर्चा में शंकरस्वामी को निरुत्तर होना पड़ा था । यदि पूर्णज्ञानी होते तो उसी समय उत्तर दे के समाधान कर देते ! जैनों के किसी भी ग्रंथ में शंकराचार्य की स्तुति की हुई हमारे देखने में नहीं आई; यदि कोई बहादुर हो तो बतलावे हम स्वीकार कर सकते हैं । परन्तु हमारी समझ से यह केवल झूठ है । जैन किसी का भी उत्कर्ष देखकर नाराज नहीं होते । परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जैन शंकर के मत को अच्छा समझे हैं, बल्कि जैन श्वेतांबराचार्य श्रीमान् हेमचंद्राचार्यकृत ब्रह्माद्वैतवाद का खंडन दिखाई दे रहा है । आप लोग जगत् का कारण ईश्वर अर्थात् ब्रह्म को मानते हैं यह भी आप की निरी भूल है हम इसी ग्रंथ के पृष्ठ १७ पर सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर जगत् का कारण सिद्ध होही नहीं सकता, इसलिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है । यह ग्रन्थ किसी एक के सिद्धान्तों पर टीका करने के लिए नहीं लिखा गया है किन्तु जगत् के अनादि और अकर्तृजन्य सिद्ध करने के लिये रचा गया है । इस

लिए हम इसके संबन्ध में इस जगह अधिक लिखना नहीं चाहते। शंकराचार्य जी के संबंध में इस ग्रंथ में परामर्श करने का प्रयोजन यह हुआ कि आपने भी ब्रह्म को सर्वव्यापी और जगत् का कारण माना है इस लिए इनके संबन्ध में लिखना अप्रासंगिक नहीं समझना चाहिए। और अनेक बातें प्रसंगत: जो जो लिखी गई हैं वह देखकर विषयान्तर नहीं समझना चाहिये। यदि समय मिला तो शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवाद के संबंध में अपने विचार फिर किसी समय में अन्य स्थल पर प्रकट करने की चेष्टा करूंगा।

वेद–वेदान्तादि दर्शन के अनेक विद्वानगण जैनदर्शन को बौद्ध चार्वाक, नास्तिक कहकर अथवा उक्त मतों के तुल्य बतलाकर केवल आपही सच्चे आस्तिक बनने का दावा करते हैं, परंतु इस बात को कहनेवाले अपनी अज्ञता पूरी पूरी झलकाते हैं। जैनधर्म अनादि काल से ही अविच्छिन्न प्रवाह रूप से चला आया है और आस्तिक शिरोमणि धर्म है। और यह बात वेदमतानुयायी काशी (बनारस) निवासी साक्षरवर्य सर्वतंत्रस्वतंत्र सत्सम्प्रदायाचार्य स्वामी [1]राममिश्र शास्त्री जी ने अपनी वक्तृता में सिद्ध करदी है पाठक! इस व्याख्यान का सारांश गौर के साथ पढ़िये कि वैदिक विद्वान जैन धर्म के संबन्ध में क्या फरमा रहे हैं जरा ध्यान दीजिए:–

"सज्जन महाशय!

आज बड़ा सुदिन और मांगलिक समय है कि हम भारतवर्षीय, जिनके यहाँ सृष्टि के आदि कालही से सभ्यता, आत्मज्ञान, परार्थे आत्मसमर्पण, आत्मा की अनाद्यन्तता ज्ञान चला आया है बल्कि समय के फेर से कुछ पुरानी प्रतिष्ठा पुरानी सी पड़ गयी है, वे इस

१—स्वामी राममिश्रशास्त्री जी ने काशी में यशोविजय जी जैनसंस्कृत पाठशाला के भवन में जैन धर्म विषय पर जो व्याख्यान दिया था, वह व्याख्यान (भाषण) 'सुजनसम्मेलनम्' नाम से पुस्तक रूप में मुंबई निवासी सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आई. ई. जे. पी. और सेठ गोकुल भाई मूलचंद द्वारा बनारस चंद्रप्रभा प्रेस में छप कर प्रकाशित हुआ है। और यह शास्त्रविशारद-विजयधर्म सूरि जी की कृपा का फल है।

स्थान में एकत्र हुये हैं अवश्य ही इसे सौभाग्य मानना और कहना चाहिये, क्योंकि वैदिक मत और जैन मत सृष्टि की आदि से बराबर अविच्छिन्न चले आये हैं और इन दोनों मजहबों के सिद्धान्त विशेष घनिष्ठ समीप संबन्ध रखते हैं जैसा कि पूर्व में मैं कह चुका हूँ और जैसा कि सत्कार्य वाद, सत्कारण वाद, परलोकास्तित्व, आत्मा का निर्विकारत्व, मोक्ष का होना और उसका नित्यत्व, जन्मान्तर के पुण्य पाप से जन्मान्तर में फल भोग, व्रतोपवासादि व्यवस्था, प्रायश्चित व्यवस्था, महाजन पूजन, शब्द प्रमाण इत्यादि समान हैं, बस तो इसी हेतु मुझे यहाँ यह कहते हुए मेरा शरीर पुलकित होता है कि आज का यह हमारा जैनों के सङ्ग एक स्थान में उपस्थित होकर संभाषण वह है कि जो चिरकाल के बिछुड़े भाई भाई का होता है। सज्जनों ! यह भी याद रखना जहाँ भाई भाई का रिस्ता है वहाँ कभी कभी लड़ाई की भी लीला लग जाती है परन्तु याद रहे उसका कारण केवल अज्ञानही होता है।

इस देश में आजकल अनेक अल्पज्ञ जन बौद्ध मत और जैन मत को एक जानते हैं और यह महा भ्रम है। जैन और बौद्धों के सिद्धान्त को एक जानना ऐसी भूल है कि जैसे वैदिक सिद्धान्त को मान कर यह कहना कि वेदों में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है अथवा जाति व्यवस्था नहीं है।

आगे फिर लिखा है कि "अज्ञों की दन्तकथा है कि जैन और बौद्ध एक समान हैं; सज्जनो ! बुरा न मानो और बुरा मानने की बात ही कौन सी है जब कि खाद्यखण्डनकार श्रीहर्ष ने स्वयं अपने ग्रन्थ में बौद्ध के साथ अपनी तुलना की है और कहा कि हम लोगों से [याने निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तियों से] और बौद्धों से यही भेद है कि हम ब्रह्म की सत्ता मानते हैं और सब मिथ्या कहते हैं, परन्तु बौद्धशिरोमणि माध्यमिक सर्व शून्य कहता है तब तो जिन जैनोंने सब कुछ माना उनसे नफरत करनेवाले कुछ जानतेही नहीं और मिथ्या द्वेष मात्र करते हैं यह कहना होगा। सज्जनों ! जैन मत से और बौद्ध सिद्धान्त से जमीन आस्मान का अन्तर है। उससे एक जान

कर द्वेष करना यह अज्ञ जनोंका कार्य है सबसे अधिक वे अज्ञ हैं कि जो जैन सम्प्रदाय सिद्ध मेलो में विघ्नडालकर पापभागी होते हैं"।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो! ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षान्ति, अदम्भ, अनीर्षा, अक्रोध, अमात्सर्य अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टिता इत्यादि गुणों में एकेक गुण ऐसा है कि जहाँ वह पाया जाय वहाँ पर बुद्धिमान् पूजा करने लगते हैं तब तो जहाँ ये पूर्वोक्त सब गुण निरतिशयसीम होकर विराजमान हैं उनकी पूजा न करना अथवा गुणपूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इनसानियत का कार्य है?"

फिर आगे लिखते हैं कि "सज्जनो! अज्ञता ऐसी चीज है उसके कारण अनेक बेर अनेक लोक बिना जाने बूझे दूसरे की निन्दा कर बैठते हैं। थोड़ेही दिन की बात है कि किसी नये मजहबी ने जोसमें आकर जैनमत में मिथ्या आरोप किये और अन्त में हानि उठाई। मैं आपको कहां तक कहूँ बड़े बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है कि जिसे सुन देख कर हँसी आती है।

मैं आप के सन्मुख आगे चलकर स्याद्वाद का रहस्य कहूँगा तब आप अवश्य जान जाँयगे कि वह एक अभेद्य किला[1] है उसके अन्दर मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

आगे फिर लिखते हैं कि "सज्जनो! एक दिन वह था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्यों के हुंकार से दशो दिशाएं गूंज उठती थीं, एक समय की वार्ता है कि हमारे ही (याने वैदिक सम्प्रदायी वैष्णव ने) किसी साम्प्रदायिक ने हेमचंद्राचार्य जी को देखकर कहा—

'आगतो हेमगोपालो, दण्डकम्बलमुद्वहन्।

बस तो फिर क्या था उन्होंने मन्दमुसकान के साथ उत्तर दिया कि—

१ किला-दुर्ग-गढ-कोट-इत्यादिक कहते हैं।

'षड्दर्शनपशुप्रायांश्चारयन् जैनवाटके'

सज्जनो ! इस श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को सुनकर आप लोग खूब जान गये होंगे कि पूर्व समय पर आपस में विद्वानों के हँसी ठठोल भी कैसे होते थे । ये महानुभाव हेमचन्द्राचार्य व्याकरण से लेकर दर्शन शास्त्र पर्यंत सर्व विषय में अप्रतिम आचार्य थे । सज्जनो ! जैसे कालचक्र ने जैनमत के महत्व को ढांक दिया है वैसे ही उसके महत्व को जानने वाले लोग भी, अब नहीं रहगये । **'रज्जब साचे सूर कों वैरी करे बखान'** । यह किसी भाषाकवि ने बहुत ही ठीक कहा है । सज्जनो ! आप जानते हो मैं वैष्णवसम्प्रदाय का आचार्य हूं यही नहीं है मैं उस सम्प्रदाय का सर्वतोभाव से रक्षक हूं और साथ ही उसकी तरफ कड़ी नजर से देखने वाले का दीक्षक भी हूं तौ भी भरी मजालिस में मुझे कहना सत्य के कारण आवश्यक हुआ है कि जैनों का ग्रन्थ समुदाय, सारस्वत महासागर है । उसकी ग्रन्थ-संख्या इतनी अधिक है कि उन ग्रन्थों का सूचीपत्र भी एक महा निबंध हो जायगा ।"

फिर आगे लिखा है कि—"सज्जनो ? जैन मत का प्रचार कब से हुआ इस वारे में लोगों ने नाना प्रकार की उछल कूद की है और अपने मनो नीत कल्पना की है । और यह बात ठीक भी है जिसका जितना ज्ञान होगा वह उस वस्तु को उतनाही और वैसाही समझेगा" ।

आगे लिखा है कि—"इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व का है तब ही तो भगवान् वेद व्यास महर्षि ब्रह्म सूत्रों में कहते हैं:—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सज्जनों ! जब वेद व्यास के ब्रह्मसूत्रप्रणयन के समय पर जैन मत था तब तो उसके खण्डनार्थ उद्योग किया गया, यदि वह पूर्व में नहीं था तो वह खण्डन कैसा और किस का ? सज्जनों ! समय अल्प है और कहना बहुत है इससे छोड़ दिया जाता है नहीं तो बात यह है कि वेदों में अनेकांत वाद का मूल मिलता है । सज्जनों ! मैं आप को वेदान्तादि दर्शन शास्त्रों का और जैनादि दर्शनों का कौन मूल है यह कह-

कर सुनाता हूँ। उच्चश्रेणी के बुद्धिमान् लोगों के मानस निगूढ विचार ही दर्शन हैं। जैसे अजात वाद, विवर्त वाद, दृष्टि-सृष्टि वाद, परिणाम वाद, आरम्भ वाद, शून्यवाद इत्यादि दार्शनिकों के निगूढ विचार ही दर्शन हैं। बस तब तो कहना होगा कि सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचलित है। सज्जनो! अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिए विष्णु पुराण में लिखा है:—

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम!
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्या जमाय च
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः?

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इसका अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है, जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण हो जाती है; और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुख की कारण हो जाती है। सज्जनो! आपने जाना होगा कि यहां पर स्पष्ट ही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनों! एक बात पर और भी ध्यान देना जो "सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत्" कहते हैं उनको भी विचार दृष्टि से देखा जाय तो अनेकान्तवाद मानने में उज्र नहीं है, क्योंकि जब वस्तु सद् भी नहीं कही जाती और असद् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् होकर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु न वह सत् कही जा सक्ती है और न तो असत् कही जा सक्ती है, तो अब अनेकान्तता मानना सिद्ध हो गया। सज्जनों! नैयायिक तम को तेजोऽभाव स्वरूप कहते हैं और मीमांसक और वेदान्तिक बड़ी आरभटी से उसका खंडन करके उसे भाव स्वरूप कहते हैं तो देखने की बात है कि आज तक इसका कोई फैसला नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है। तब

तो दो की लड़ाई में तीसरे की पौ बारा है याने जैन सिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं और किसी रीति पर अभावरूप भी कह सक्ते हैं। किसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधार स्वरूप बोलते हैं तो बस कहनाही क्या अनेकान्त बाद ने पद पाया। किसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई बादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भाव स्वरूप कहते हैं और कोई शून्य स्वरूप तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध हो गया।

कोई कहते हैं कि घटादि द्रव्य हैं और उनमें रूप स्पर्शादि गुण हैं। परंतु दूसरी तरफ के वादी कहते हैं कि द्रव्य कोई चीज नहीं है वह तो गुणसमुदाय स्वरूप है। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण इत्यादि का समुदाय ही तो घट है इसे छोड़ कर घट कौन वस्तु है। कोई कहते हैं आकाश नामक शब्दजनक एक निरवयव द्रव्य है। परंतु अन्य वादी कहते हैं कि वह तो शून्य है।

सज्जनो ! कहाँ तक कहा जाय कुछ वादियों का कहना है कि गुरुत्व गुण है। परन्तु दूसरी तरफ़ वादी लोगों का कहना है कि गुरुत्व कोई चीज नहीं है पृथ्वी में जो आकर्षण शक्ति है उसे न जान कर लोगों ने गुरुत्व नामक गुण मान लिया है।

मित हित वाक्य पथ्य है, उसीसे ज्ञान होता है वाग्जाल का कोई प्रयोजन नहीं है इस हेतु यह विषय यहाँ ही छोड़ दिया जाता है और आशा की जाती है कि जैन मत के क्रमिक व्याख्यान दिये जायँगे।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

स्वामी राममिश्र शास्त्री—अगस्त्याश्रमाश्रम-काशी.

मि० पौष शुक्ल प्रातिपत्—बुधवार सं० १९६२

आपलोग प्रसिद्ध वैदिक विद्वान श्रीमान् राममिश्र शास्त्री जी के व्याख्यान पर से भली भाँति जान सक्ते हैं कि जैनमत आस्तिक है या नास्तिक ? और जैन दर्शन का स्याद्वाद न्याय कितना पुख्त है यह भी आप अच्छी तौर से समझ सक्ते हैं। जैन श्वेताम्बर कानफरन्स के बड़ोदे का अधिवेशन तारीख ३० । १२ । १९०४ ई० में हुआ था उस वक्त जगत्प्रसिद्ध देशभक्त माननीय पण्डित श्रीयुत बालगङ्गाधर तिलक महोदय ने अपनी वक्तृता में कहा था कि "ब्राह्मणों और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा-पान बन्द हुआ यह भी जैनधर्म[1] का ही प्रताप है " इत्यादि बहुत कुछ कहा था। देखिए ! जैन दर्शन की तारीफ अन्यमतों के बड़े बड़े विद्वानगण कर रहे हैं। सच्ची बड़ाई वह है कि जिसकी तारीफ दूसरे लोग करें। जैन दर्शन की प्रशंसा अनेक पूर्वदेशीय और पाश्चात्य विद्वानों ने की है और करते ही चले जाते हैं विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन दर्शन के तत्त्व सब दर्शनों से अधिक श्रेष्ठ हैं, इससे विश्वास करने योग्य है । जैन दर्शन जगत्का कर्ता ईश्वर को नहीं मानता और यह बात बहुत ठीक है।

जगत् ईश्वर का रचा हुआ मानने वाले वेदादि धर्मावलम्बियों से जब पूछा जाता है कि ईश्वर को जगत्का कर्ता आपलोग मानते हैं इस संबंध में आप के पास क्या दृढ़ प्रमाण है ? तो प्रत्युत्तर में जोर देकर कहते हैं कि इस बात का साक्षी वेद है। और वेद ईश्वर के रचे हुए हैं इसलिए विश्वास करने के योग्य हैं इससे बढ़ कर क्या प्रमाण चाहिए ?। वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय, अथवा मनुष्यनिर्मित ? सद्मार्गदर्शक है या नहीं ? और विश्वास करने योग्य है या अयोग्य? अब हमे इन उक्त बातों पर परामर्श करना अवश्य है । परन्तु हमारे ओर से लिखने की भी कोई जरूरत नहीं मालूम होती । क्योंकि कितनेक वेद मतानुयायी विद्वान् महाशयही वेदों को क्या समझ रहे

---

१ जैन धर्म के प्रताप से ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा पान बंद हुआ इस उपकार के बदले में कितनेक मनुष्य जैनों को नास्तिक किंवा-नास्तिकों की श्रेणी में कहने का साहस करते हैं, धन्य है ऐसे साहसियों को ?

हैं और लेखनी द्वारा क्या व्यक्त कर रहे हैं यह बतलाना विशेष लाभ दायक होगा इस लिए हम एक वैदिक विद्वान महाशय केही बिचार यहां पर देना उचित समझते हैं। पाठक इसे पढ़ कर इस बात पर बिचार करें:—

वेद

"वेद शब्द "विद्" धातु से निकला है। इस धातु से जानने का अर्थ निकलता है।" आगे लिखा है कि—"वेद पर सनातन धर्मावलम्बी हिन्दुओं का अटल विश्वास है। वेद हम लोगों का सब से श्रेष्ठ[२] और सबसे पुराना ग्रन्थ है।"

आगे लिखा है कि—"कोलब्रुक साहब ने भी वेद-प्राप्ति की चेष्टा की थी, पर किसी दाक्षिणात्य पंडित ने वैदिक छन्दों में लिखी हुई देवी-देवताओं की स्तुतियों से पूर्ण एक ग्रंथ उन्हें दे दिया और कहा कि यही वेद है। भला म्लेच्छों को कहीं दाक्षिणात्य पंडित वेद दे सक्ते हैं? ऐसाही धोखा एक और साहब को भी दिया गया था। मदरास के किसी शास्त्री ने सत्रहवीं शताब्दी में एक कृत्रिम यजुर्वेद की पुस्तक फादर राबर्ट डि नोबिली नामक पादरी को देकर उससे बहुतसा रुपया लिया। यह ग्रन्थ १७६१ ईसवी में पेरिस के प्रधान पुस्तकालय में पहुँचा, वहाँ पहले इसकी बड़ी कदर हुई। पर सारा भेद पीछे से खुल गया।"

आगे लिखा है कि—वेदों की "त्रयी" संज्ञा है। त्रयी कहने से ऋक्, यजु और साम इन्हीं तीन वेदों का ज्ञान होता है। अथर्व वेद एक प्रकार का परिशिष्ट है। ऋग्वेद में तीन ही वेदों का उल्लेख है।

---

१ यह लेख विनायक विश्वनाथ वेद विख्यात जी की सही से इलाहाबाद (प्रयाग) की सरस्वती नाम की मासिक पत्रिका के भाग ९ वें की संख्या ९ पर अर्थात् १९०८ के सप्तेम्बर की संख्या में पृष्ठ ३८९ पर छपा है।

२ कैसा श्रेष्ठ और कैसा पुराना ग्रंथ है यह इस लेख को पढ़ने से मालूम हो जायगा। ग्रन्थकर्त्ता

यथा:-

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय त्रयमृषयस्त्रयी वेदा
विदुः ऋचो यजूँषि सामानि"

मनुस्मृति में भी मनु ने-" दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम लक्षणम्" कहकर तीन ही वेदों का नाम लिया है। परंतु पीछे से चार वेद माने जाने लगे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदि पुराणों में तो सर्वत्र ही चार वेदों का उल्लेख है-लिखा है कि ब्रह्मा के एक एक मुँह से एक एक वेद निकला है।" सनातन धर्म्मावलम्बियों का पक्का विश्वास है कि वेद नित्य हैं और वे ईश्वरप्रणीत हैं। कपिल ने सांख्य दर्शन में ईश्वर की स्थिति में तो सन्देह किया है "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" पर वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में किसीने सन्देह नहीं किया। यथा:-न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्यासम्भवात्"। न्याय दर्शन के कर्त्ता गौतम को छोड़कर सब दर्शनकारों की यही राय है। सब वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। अकेले गौतम ही ने उन्हें पौरुषेय अर्थात् पुरुषकृत लिखा है।अब नहीं कह सकते कि इस "पौरुषेय" से उनका क्या मतलब था। वे वेदों को साधारण हम तुम सदृश पुरुष के रचे हुए मानते थे, या पुरुष प्रकृतिवाले "पुरुष" (ईश्वर) से उनका मतलब था। यदि उन्हें पिछली बात अभीष्ट थी तो यह कहना चाहिये कि सभी दर्शनकारों की इस विषय में एकता है। किसी किसी मुनि की तो यहाँ तक राय है कि वेद नित्य हैं और उन्हीं के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है? सो वेद ईश्वर के भी पथ[1] प्रदर्शक हुए! वेद नित्य हैं, इससे कल्पान्त में वे हिरण्यगर्भ

---

१ वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से वेद ईश्वर के रचे सिद्ध नहीं होते और अनादि भी सिद्ध नहीं हो सकते इससे यही मालूम होता है कि वैदिक ऋषियों ने वेद रचे हैं। और दूसरी बात यह भी है कि वेदों को ईश्वर के पथदर्शक मानने से ईश्वर से भी वेदो की योग्यता विशेष हुई इससे ईश्वर न्यूनगुण हुआ और वेद पूर्णगुण हुए, देखिए यह कैसा आश्चर्य है!।

(ब्रह्मा) को आप ही आप आ जाते हैं। सृष्टि की आदि में हिरण्यगर्भ ही पहले पहल पैदा होते हैं। वेद उनके पूर्वाभ्यस्त रहते हैं। इससे स्मरण करते ही उन्हें वे आप ही आप याद हो जाते हैं। सो कर जगने पर क्या पूर्वाभ्यस्त बातें किसीको भूल भी जाती हैं? फिर हिरण्यगर्भ को वेद कैसे भूल सकते हैं? इस तरह के शास्त्रार्थ से कितने ही प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं"।

"इस समय आर्य्य-समाज में वैदिक बातों पर बहुधा विचार हुआ करता है। इस समाज के कोई कोई अनुयायी वेद का यथार्थ अर्थ जानने की चेष्टा भी करते हैं। "**त्रिवेद निर्णय**" नामक पुस्तक इसका प्रमाण है। पर वे भी वेदों को ईश्वरोक्त मानते हैं? परंतु वेदों को विचार पूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पायी जाती। इसीसे इस समय के अच्छे अच्छे विद्वान् वेदों के कर्तृत्वविषय में वाद विवाद नहीं करते। वे इसकी जरूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं कि वेद मनुष्यनिर्मित हैं। परंतु सर्व साधारण ऐसा नहीं मानते। इससे जो कोई वेदों के ईश्वरप्रणीत होने में शङ्का करता है उसे वे घोर पापी और घोर अधर्मी समझते हैं। इसे हम बखूबी जानते हैं। तिस पर भी जो हम सर्व साधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं उस का कारण यह है:—"**सत्ये नास्ति भयं क्वचित्**"

"वेदाध्ययन नहीं, वेद पाठ से ही यह मालूम होता है कि वैदिक ऋषिही वेद[1] प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तोंही में प्रणेता ऋषियों के नाम विद्यमान हैं। इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छन्दों में स्तोत्र आदि बनाकर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होंने अपने अपने [2]अभीष्ट साधने के लिए किया था। लिखा भी है:—

१ इन वचनों से भी स्पष्ट मालूम होता है कि न वेद पौरुषेय है और न अपौरुषेय किन्तु मनुष्यनिर्मित है। हां यदि पौरुषेय कहने वाले हमारे तुम्हारे समान साधारण मनुष्यों के अर्थात् ऋषियों के रचे मानते हों तो ठीक है। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ अपने २ अभीष्ट साधन के लिए किये हुए मंत्र सर्व साधारण को मान्य किस न्याय से हो सकते हैं? और मुक्ति भी कैसे दे सकते हैं! नहीं, इससे ही वेदों को अनेक विद्वान् अमाननीय कहते हैं।

" अर्थं पश्यन्तु ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन् " । जैसे पीछे के संस्कृत-कवियों ने गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियों से पूर्ण स्तोत्र बनाये हैं वैसेही अग्नि, सोम, वरुण, सविता इन्द्र आदि की स्तुतियों से परिपूर्ण स्तोत्र वैदिक ऋषियों के बनाये हुए हैं। यहां पर कोई यह कह सकता है कि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक [1]मन्त्र प्राप्त किये हैं। यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया ? ये मंत्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए ? ऋग्वेद का कोई ऋषि कूँए में गिरजाने पर उसीके भीतर पड़े पड़े स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है कि आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिये। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइए। कोई बहुत सी गाएं मांग रहा है, कोई बहुत से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मन्त्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भलाबुरा कहरहा है कि ये हमें आगे बढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं [2]सुरा का है, कहीं द्यूत

---

१ यह बात महम्मदी कुरान के लिये और इसाई अपनी बाईबल के लिये भी कहते हैं किसका कहना सत्य है और किसका झूठ है और इस बारे में तीनोंही के समीप क्या प्रमाण है ?

२ जिन वेदों में अथवा वेदाङ्ग में दारू पीने का, मांस काम में लेने का, द्यूत को उत्तेजन देने का, दिल्लगी करने का, भला बुरा कहने का, देवताओं से स्वार्थ के लिये प्रार्थना करने का, मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण स्त्रीवशीकरण द्यूत में जीत होने इत्यादि कुकार्यों के करने का मंत्र तथा वर्णन है और ऐसा अनीति का जिन वेदों में उपदेश है उन घृणित शास्त्रों को कौन बुद्धिमान् अपौरुषेय अथवा विश्वास करने योग्य और सद्मार्गदर्शक कह सकता है ? कई लोगों की यह राय है कि खास वेदों में ऐसी अनुचित बातें नहीं हैं किन्तु मांस मदिरादि के सेवन करने वालों ने ब्राह्मणादि वेदाङ्ग शास्त्रों में पीछे से मिलादी हैं, अस्तु। किन्तु वेद अथवा वेदाङ्ग शास्त्रों में यह बातें देखने में आती हैं तभी तो कई विद्वान् ऐसा लिखते हैं। 'ग्रन्थकर्ता'

का है। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठ-रत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंडकों से दी है। ये सब बातें वेद के ईश्वरप्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही मांगने की कोई जरूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मन्त्र में तो कुछ अंश को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो वह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुवे में जीतने तक के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की जरूरत नहीं। न ईश्वर जूवा खेलता है और न वह स्त्रैणही है। न वह ऐसी बातें करने के लिये औरों को प्रेरणाही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं; जिन्होंने वेदों की रचना की है।"

"[1]परन्तु ईश्वर-प्रणीत न होने से वेदों का महत्त्व कुछ कम नहीं होसकता। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से देखिए, चाहे धार्मिक दृष्टि से देखिए, चाहे विद्या विषयक दृष्टि से देखिए, वेदों की बराबरी और किसी देश का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। प्राचीन समय की विद्या, सभ्यता और धर्म का जैसा उत्तम चित्र वेदों में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे—इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदोंही में मिल सकता है। अतएव वेदाध्ययन करना हम लोगों का बहुत बड़ा कर्त्तव्य है।"

---

१ नहीं कह सकते कि जिन ग्रन्थों के विषय में द्यूत, स्त्रैणादि घृणाकारक विचार 'वेद विख्यात जी' कर आये हैं फिर उन्हीं के संबन्ध में उन्हें ऐसा लिखने का क्या कारण हुआ! परन्तु अनुमान होता है कि शायद अन्य वैदिक लोगो के भयसे अथवा जैन साहित्य के अवलोकन के अभाव से, बलात् आदरणीय लिखना पड़ा हो!

"जिस[1] रूप में आज कल वेद ग्रन्थ देखे जाते हैं वह उनका आदिम रूप नहीं है। उनका वर्तमान रूप वेद व्यासजी की कृपा का फल है। व्यासजी के पहले वैदिक स्तोत्रसमूह एक जगह एकत्र न था। वह कितनेही भिन्न भिन्न अंशों में प्राप्य था। क्योंकि सारे स्तोत्रसमूह की रचना एकही समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी। किसी की रचना किसी ऋषि ने की है, किसी की किसी ने। उन सब बिखरे हुए मन्त्रों को कृष्ण द्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध करदिया। तभी से वेदों के नाम के आगे "**संहिता**" शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ है– "समूह" "जमाव," "एकत्रीकरण"। वर्तमान रूप में वेदप्रचार करनेही के कारण बादरायण का नाम वेद-व्यास पड़ा। उन्होंने समग्र वेद अपने चार शिष्यों को पढ़ाये। बह्-वृच नामक ऋग्वेद–संहिता पैल को, निगद नामक यजुर्वेद–संहिता वैशम्पायन को, छन्दोग नामक सामवेद–संहिता जैमिनि को, और अङ्गिरसी नामक अथर्व-संहिता सुमन्तु को। इन चार शिष्यों ने अपने अपने शिष्यों को नई प्रणाली के अनुसार वेदाध्ययन कराया। इस प्रकार वेद-पाठियों की [2]संख्या बढ़ते बढ़ते वेदों की अनेक शाखायें होगई, मन्त्रों में कहीं [3]पाठ-भेद होगया। किसी ऋषि के पढ़ाये शिष्य एक तरह का पाठ पढ़ने लगे, किसी के और तरह का। यह पाठ-भेद यहांतक बढ़गया कि सामवेद की सौ तक शाखायें होगईं! परन्तु अब ये सब शाखा पाठ नहीं मिलते। कुछही मिलते हैं।"

---

१ वेद, व्यासजी के पहले वेद ग्रन्थ के रूप में ही नहीं थे। ग्रन्थ का रूप व्यासजी नेही वेदों को दिया और वेदों का महत्वभी तब से विशेष बढ़ा इससे कह सकते हैं कि वेदों पर जितना अब वैदिकों का विश्वास है उतना व्यासजी के पहले नहीं था। ईश्वरप्रणीत शास्त्रों का रूप सर्व काल एक समान चाहिए। "ग्रन्थकर्त्ता"

२ इससे यह भी प्रतीत होता है कि व्यासजी के पहले वेद जाननेवाले कम थे? जभी तो शाखाओं का अभाव होगया?

३ ईश्वरप्रणीत शास्त्रों मे भी कहीं पाठ भेद होसकता है? इसलिये जो वेद विख्यातजी की राय है कि वेद ईश्वरप्रणीत नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित हैं यह ठीक मालूम होता है।

"वेदों के व्याख्यान अर्थात् टीका का नाम "**ब्राह्मण**" है। वहुत लोग संहिता और ब्राह्मण दोनों की "वेद" संज्ञा मानते हैं। वे कात्यायन के "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का मतलब समझाया गया है। और भी कितनीही बातें हैं। अतएव उनकी रचना वेदों के साथही हुई नहीं मानी जा सकती। वैदिक मन्त्रों के आशय समझने में जब कठिनाई पड़ने लगी होगी तब "ब्राह्मण" बनाये गये होंगे, पहले नहीं। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में विशेष करके होता के कामों का विधान है और यजुर्वेद के ब्राह्मणों में अध्वर्यु के और सामवेद के ब्राह्मणों में उद्गाता के कामों का विधान है। यज्ञसंबन्धी बातों को खूब समझाने और यज्ञ कार्य का सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों से अच्छी तरह बतलानेही के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। संहिता पद्य में है, ब्राह्मण गद्य में। गद्य के बीच में कहीं कहीं "गाथा" नामक पद्यभी ब्राह्मणों में है।"

"ब्राह्मण—ग्रन्थों के अन्त में "आरण्यक" हैं। जो घर छोड़ कर बन चले गये हैं, अतएव जिन्होंने यज्ञ करना बन्द करादिया है, ये "आरण्यक" ग्रन्थ उन्हींके लिए हैं। उन्हीं के काम की बातें इनमें हैं। "आरण्यक" से उतरकर उपनिषद् हैं। वे सब ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं।" "यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकलाप अर्थात् कर्मकाण्ड का विषय जब बहुत पेचीदा होगया और साधारण आदमी ब्राह्मण ग्रन्थों का ठीक ठीक मतलब समझने अथवा तदनुसार क्रिया निर्वाह करने में असमर्थ होने लगे तब श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इन ग्रन्थों में सब बातें थोड़े में समझाई गई हैं। श्रौत-सूत्रों में श्रुति-(यहां 'ब्राह्मणों' से मतलब हैं) में उल्लिखित बड़े बड़े यज्ञों के विधान आदि हैं; गृह्य-सूत्रों में जनन, मरण, विवाह आदि संस्कारों की विधि हैं; और धर्म-सूत्रों में धर्म-सम्बन्धी, अर्थात् धर्मशास्त्र या स्मृतियों की बातें हैं"

"इनके सिवा "अनुक्रमणी" नामक ग्रन्थों की गिनती भी वैदिकसाहित्य में की जाती है। इन ग्रन्थों में वेदों के पाठ आदि का क्रम

लिखा है। यह इसलिये किया गया है जिसमें वेदों को कोई अंश खो न जाय, अथवा उसमें पाठान्तर न हो जाय। एक अनुक्रमणी में तो ऋग्वेद के सूक्तों की, मंत्रों की, शब्दों की, यहां तक कि अक्षरों तक की गिनती भी दी है ? ।"

"प्रातिशाख्य, परिशिष्ट, बृहद्देवता, निरुक्त आदि भी वैदिक साहित्य के अङ्ग हैं।"

"ऋग्वेद सब वेदों से पुराना है। वही सबसे अधिक महत्त्व का भी है। मंडल नामक १० अध्यायों में वह विभक्त है। कोई १५ प्रकार के वैदिक छन्दों में उसकी रचना हुई है। ऋग्वेद का कोई चतुर्थांश गायत्री-नामक छन्द में है। ऐसे तीन ही छन्द हैं जिनका प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है और छन्दों का कम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न भिन्न समय में हुई है। इस वेद के ऋषि प्रतिभाशाली कवि थे—कवि नहीं, श्रेष्ठ[1] कवि थे। इसके अधिकांश मन्त्रों की रचना वैदिक देवताओं का उद्देश करके की गई है। उनमें उनके बल, वीर्य्य, शक्ति, प्रभुता, औदार्य्य आदि की प्रशंसा है। इन मंत्रों के रचयिता ऋषियों ने देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के द्वारा उनसे लौकिक सुख-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। बहुत से पशु, बहुत से पुत्र पौत्र, बहुत सा ऐश्वर्य, दीर्घायु और शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के लिए उन्हों ने देवताओं की स्तुति की है। लौकिक[2] सुख-प्राप्ति की तरफ उनका

---

१ सुरा मांस द्यूत स्त्रैण आदि की बेहूदी बातें करते थे आप उनको श्रेष्ठ समझते हैं ? धन्य है ऐसे श्रेष्ठ कवियों को।

२ जिन वैदिक ऋषियों को लौकिक सुख की तरफ ध्यान अधिक था फिर उन ऋषियों को तत्त्ववेत्ता कौन कह सकता है ! और जिन वेदों में पारलौकिक अर्थात् मुक्ति सुख प्राप्त करने की बातें कम और लौकिक सुख की बातें विशेष हैं उन ग्रन्थों को कौन बुद्धिमान सद्मार्गदर्शक शास्त्र कह सकता है ? वाममार्गी आदि नास्तिक लोगों का भी लौकिक सुख की तरफ ही ख्याल रहता है और जब वैदिक ऋषियों का यह हाल था तो फिर वैदिक ऋषियों में और वाममार्गियों में अन्तरही क्या रहा !

ध्यान अधिक था, पारलौकिक की तरफ कम । यज्ञों के संबन्ध में अग्नि और सोम आदि देवताओं के लम्बे लम्बे स्तोत्रों से ऋग्वेद भरा हुआ है । बीच बीच में याज्ञिक विषयों के आ जाने से स्तोत्र-जनित रसानुभव में यद्यपि कुछ विघात होता है, तथापि जिस सादगी और जिस भक्ति भाव से पुरातन ऋषियों ने अपने विचार प्रगट किये हैं वह अवश्य [1]प्रशंसनीय हैं । इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वन, सविता, पूषण, ऊषा आदि जितने देवताओं की स्तुति की गई है प्रायः उन सब से मतलब किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ से है । अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं और [2]प्राकृतिक दृश्यों ही को देवता मानकर, या उन पर देवत्व का आरोप करके, उनका स्तवन किया गया है । एक ऋषि आश्चर्य पूर्वक कहता है, यह [3]सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता ?

[4]दूसरा कहता है ये तारे दिन में कहां चले जाते हैं ? तीसरे

---

१ क्यों न प्रशंसनीय हो ! जिन्होंने अपने मतलब को (ऐहिक) ही धर्म मान रक्खा है उनके लिए बेशक प्रशंसनीय है ? परंतु न मालूम वेदविख्यात जी (कि जो वेदों के संवन्ध में घृणित और आश्चर्य जनक बातें लिख कर भी) फिर किस कारण से वैदिक ऋषियों के विचार प्रशंसनीय समझ रहे हैं ? ।

२ प्राकृतिक पदार्थों को देवता समझ अथवा प्राकृतिक वस्तुओं पर देवत्व का आरोपकर स्तवन किये हैं इससे भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता स्पष्ट झलक रही है फिर ऐसे ऋषियों के रचे ग्रन्थ कैसे सर्व मान्य हो सकते हैं !

३ जिन वैदिक ऋषियों को वैज्ञानिक बातों का इतना भी ज्ञान नहीं था उन के रचे ग्रन्थ तत्त्वद्रष्टा कैसे हो सकते हैं ? देखिए ! यह वेदों की योग्यता । आकाश में सूर्य रहता है इस बात को भी वे अच्छी तौर से नहीं समझ सकते थे तभी तो उनकी सूर्य के संबन्ध में ऐसी कल्पना हुई होगी यदि वैदिक ऋषि तत्त्ववेत्ता होते तो इस बात को क्यों नहीं समझ सकते । 'ग्रन्थकर्ता'

४ क्या वैदिक ऋषियों को इतना भी मालूम नहीं था कि 'सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से तारे नहीं दीखते' जो इतना अज्ञताभरा प्रश्न का गंभीर विचार करने लगे । ऐसे अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानियों के रचे वेदों पर कौन बुद्धिमान् विश्वास रख सकता है ।

को यह विस्मय हो रहा है कि बड़ी बड़ी अनेक [1]नदियों के गिरने पर भी क्यों समुद्र अपनी हद से बाहर नहीं जाता ? इसी तरह [2]आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत होकर प्राचीन ऋषियों ने [3]प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानना आरंभ कर दिया। इस आरंभ का अन्त कहाँ जाकर पहुँचा, इसे कौन नहीं जानता ? ऋग्वेद के ३३ देवता बढ़ते बढ़ते ३३ करोड़ हो गये।"

"मीमांसा दर्शन के कर्ता जैमिनि का मत है कि "देवता" नामक कोई सजीव पदार्थ नहीं है। "इन्द्र" कहने से इस शब्द को देवता मान लेना चाहिए। अपने दर्शन के छठे अध्याय में:—"

"फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्"

इस सूत्र से आरम्भ करके आपने देवताविषयक बहुत सी बातें लिखी हैं। आप के कथन का सारांश यह है कि वैदिक देवताओं के न जीव है और न शरीर। यदि ये देवता शरीरी होते तो यज्ञ के समय आकर जरूर उपस्थित होते। सो तो होता नहीं। यदि यह कहें कि वे आते तो हैं पर अपनी महीमा के बल से हम लोगों की आँखों से अदृश्य रहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस दशा में, यदि दस जगह भिन्न भिन्न यज्ञ होंगे तो एक शरीर को लेकर वे कहाँ कहाँ जायँगे ? अतएव मंत्र ही को देवता मान लेना चाहिए। परंतु इस विषय में और अधिक न लिखना ही अच्छा है।

---

१ यह फिर भी वैदिक ऋषियों की अज्ञता अल्पज्ञता का नमूना देख लीजिए कि जिनको संसार की परिस्थितिका का कुछ भी मालूम न था।

२ जिन वेदों की रचना आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत हुए वैदिक ऋषियों ने की है तिन वेदों में पारमार्थिक बातें कहां से हो सकती हैं। पक्षपात को त्याग के देखा जाय तो वेद सम्यक्पथद्रष्टा मालूम नहीं होते।

३ प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है इसका कारण प्रायः यह होना चाहिये कि वैदिक ऋषि सुरापान के वशीभूत होकर उन्मत्तता से चाहे उन पदार्थों पर कल्पना करने लग गये होंगे। क्योंकि सुरा का पान करने वालों के हृदय में शुद्ध विचार की जगह नहीं रहती और उद्गार विचारानुसार होता है इसलिये उन की बातों पर बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास नहीं कर सकते।

वैदिक समय में पशुहिंसा बहुत होती थी। यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे और उनका मांस भी खाया जाता था। उस समय कईएक पशुओं का मांस खाद्य समझा जाता था, उनके नामनिर्देश करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इस विषय के उल्लेख जो वेदों में पाए जाते हैं उन्हें जाने दीजिए किन्तु महाभारत में चर्मण्वती नदी और रन्तिदेव राजा का जो वृत्तान्त है उसेही पढ़ने से पुराने जमाने की खाद्याखाद्य चीजों का पता लग जाता है। सोम रस का पान तो उस समय इतना होता था कि जिसका ठिकाना नहीं पर लोगों को सोम पान की अपेक्षा [1]हिंसा अधिक प्यारी लगती थी। इसी वैदिकी हिंसा को दूर करने के लिए गौतम बुद्ध को "अहिंसा [2]परमो धर्मः" का उपदेश देना पड़ा"।

"सामवेद के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से ही लिये गये हैं, सिर्फ उनके स्वरों में भेद है। वे गाने के निमित्त अलग कर दिये गये हैं। सोम यज्ञ में उद्गताओं के द्वारा गाने के लिये ही सामवेद को पृथक् करना पड़ा है। सामवेद भी यज्ञ से संबन्ध रखता है और यजुर्वेद भी। सामवेद का काम केवल सोम यज्ञ में पड़ता है, यजुर्वेद में सभी यज्ञों के विधान आदि हैं। साम की तरह यजुर्वेद भी ऋग्वेद से

---

१ जिन वेद शास्त्रों में हिंसा का प्रचुर उपदेश है, इतनाही नहीं किन्तु सुरापान याने दारू का भी पीना कुछ कम नहीं लिखा है। ऐसे गर्ह्य और नीच पथपर मनुष्यों को ले जानेवाले शास्त्रों को हम सर्वथा हेय समझते हैं। हमहीं क्या कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार न करेगा। आश्चर्य है कि ऐसे वेदों को माननेवालों के दिल में कुछ विचार भी नहीं आता !

२ यह सिद्धांत बौद्धों का नहीं किन्तु जैनों का मुख्य सिद्धांत है। जैन तीर्थंकर-गणधर अनंत काल से इस सूत्र का उपदेश करते चले आये, और भविष्य में (होने वाले) तीर्थंकर भी करेंगे। ऐसा जैनों का मानना है। गौतम बुद्ध ने इस सिद्धान्त का कुछ अंश लिया परंतु पूरा नहीं इसीसे बौद्धमतानुयायी गौतम बुद्ध के समय में भी मांस खाते थे और आज भी खाते हैं। जैन और बौद्ध धर्म को जो लोग एकही बतलाते हैं अथवा एक को एक की साखा कहते हैं उनकी भूल है किन्तु दोनों धर्म अलग अलग हैं। तीर्थंकर महावीर जी का शिष्य गणधर गौतम और बौद्ध धर्मोत्पादक गौतम बुद्ध के नाम एक होने से दोनों एक नहीं हो सक्ते।

उद्धृत किया गया है; पर हां साम की तरह प्रायः बिलकुलही ऋग्वेद से नकल नहीं किया गया। यजुर्वेद (वाजसनेय-संहिता) का कोई एक चतुर्थांश मन्त्रभाग ऋग्वेद से लिया गया है; शेष यजुर्वेदही के ऋषियों की रचना है । यजुर्वेद में गद्य भी है, सामवेद में नहीं, क्योंकि वह गाने की चीज है। यजुर्वेद के समय में ऋग्वेद के समय की ऐसी मनोहारणी वाक्यरचना कम होगई थी। उस समय स्तुति प्रार्थना की तरफ ऋषियों का ध्यान कम था। यज्ञसंबन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर उसीके द्वारा अपने सौख्यसाधन की तरफ उनका ध्यान अधिक था । इसीसे जरा जरा सी बातों के लिए भी उन्हें विधि विधान बनाने पड़े थे। लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति की कुञ्जी यज्ञही समझा गया था"।

"विनायक विश्वनाथ वेदविख्यात"

पाठक ! वेद विख्यात जी के इस लेख से वेदों के संबंध में आप लोग अच्छी तौर से समझ सकते हैं। वेद ईश्वरकृत अथवा अपौरुषेय नहीं हैं किन्तु मनुष्यनिर्मित हैं वेदविख्यात जी ने भी यही मत प्रकट किया है और और भी इस बात के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

वेद किसके कहे हुए हैं इस संबंध में वैदिकों का भी एक मत नहीं है। कई वेदों को अनादि कहते हैं और कई ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए मानते हैं। कई कहते हैं कि ब्रह्मा के मुखरूप ब्राह्मण हैं और वेद ब्राह्मणों के मुख से कहे हुए हैं इससे ब्रह्मा के ही कहे हुए मानना चाहिए। ऋग्वेद के मंत्र ७ भाग २ पर लिखा है कि वेद परमेश्वर से आये हैं अतएव सब प्रकार से स्तुतियोग्य हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि वेद परमेश्वर[1] के श्वास से निकले हैं । मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक २३ पर लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, और सूर्य से ऋग्-

---

१ ईश्वर तो अदेह है फिर श्वास देह बिना कहाँ से आया ! क्योंकि श्वास देहधारी के होता है। यदि किसी देहधारी मनुष्य का नाम ईश्वर परमेश्वर हो और उसके भी श्वास से वेदों की उत्पत्ति मानें तौ भी असंभाव्य है तो फिर अदेह ईश्वर के श्वास से वेदों की उत्पत्ति माननी नितान्त भ्रमात्मक है।

यजुः और साम आकृष्ट किये और यह भी फिर उसी श्लोक में लिखा है कि तीनों वेद असल में सनातन हैं। वैदिक महाशय चाहे वेदों को सनातन मानें अथवा ईश्वरकृत मानें उनकी श्रद्धा की बात है परंतु तटस्थरीत्या देखने से यह बात नहीं पाई जाती है, क्यों कि:-

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादिरतः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः?" ॥ १ ॥

(श्रीमान्-हरिभद्रसूरिः)

भावार्थ—वर्ण (अक्षर) के वर्गों की सृष्टि तालु आदि स्थान से और जिह्वा के प्रयत्न से है और यह बात प्रकट है कि वेद वर्णात्मक हैं और तालु आदि स्थानप्रयत्न मनुष्य के होते हैं अतएव वेद 'अपौरुषेय' है यह प्रतीत कैसे हो? !

शब्दरूप वाणी का उच्चारण अशरीरी से नहीं हो सकता। निराकार ईश्वर मुख से बोले यह विचारशील मनुष्य कभी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि जब आकारही नहीं है तो मुख कहाँ से आया और मुख के विना उच्चारण कहाँ से हो सक्ता है क्या ईश्वर कोई इंग्रेजी बाजा है? । यदि कोई यह कहे कि ईश्वर ने ऋषियों को प्रेरणा की तो अशरीरी को प्रेरक मानना युक्तिविकल है। वेद शब्दरूप है और जो जो शब्दरूप है वह देहधारी का ही कथन हो सकता है। सत्य पूछो तो वेदों की उत्पत्ति मनुष्योंही से है। वेदों के वारे में इस ग्रंथ में जो जो बातें लिखी गई हैं उन्हें देख वेद के पक्षपाती अवश्य नाराज़ होंगे परन्तु विना प्रमाण कैसे कहें कि वेद अपौरुषेय हैं।

वस्तुतः पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों के आधार पर कह सक्ते हैं कि वेदों की सृष्टि मनुष्यों से ही है। पाश्चात्य विद्वान मोक्षमूलर आदि का अभिप्राय है कि "वेद के वचन ऐसे हैं कि जैसे अज्ञानियों के मुख से

अकस्मात् बोले जाते हों और इनकी रचना अनुमान ३००० वर्ष से हुई है।

अनुमान होता है कि वैदिक ऋषियों ने सुरा पानकर उन्मत्तता से, कौतुक के वशीभूत होकर जैसे प्राकृतिक पदार्थों को देवता माना है वैसेही जगत्कर्त्ता होना भी माना हो ! " विना किये कोई पदार्थ नहीं बनता इसलिये जगत् का कर्ता ईश्वर अवश्य है " ऐसा समाधान करके वेद में लिख दिया हो कि " जगत्कर्ता ईश्वर है " और उनके अनुयायिओं ने इस बात को पीछे से पकड़ रक्खा हो तो भी आश्चर्य नहीं !

कितनेक महाशयों का यह मत है कि–"ईश्वर, प्रकृति, काल, आकाश और जीव के अनादि होने से इस जगत की उत्पत्ति होती है " इसका उत्तर यह है कि जब यह तीन वस्तु अनादि हैं तो फिर ईश्वर ने क्या जगत रचा ? इससे तो सब पदार्थ अनादि सिद्ध हो चुके और सब पदार्थ अनादि होने से ईश्वर का रचा जगत् कभी सिद्ध नहीं हो सकता ? ईश्वर को कर्ता मानने वालों की बहादुरी जब समझीं जाय कि बिना किसी पदार्थ से ईश्वर ने सृष्टि रची है यह न्याययुक्त सिद्ध करदें। यदि ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले पूर्वोक्त तीन वस्तु को अनादि मानेंगे तो यह वेद वाक्यः–

"एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

झूठा होगा, क्योंकि उक्त ऋचा में उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति मानी है। एक जगह पर अनादि कहना और दूसरी जगह उत्पत्ति-मानना यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इससे यह भी आपका तर्क कल्पित है ईश्वर जगत् का कर्ता किसी युक्ति या प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। यह निःसन्देह बात है।

कई महाशय जब सब प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तब यह भी कह दिया करते हैं कि–"जैसा जीव कर्म करता है वैसा पाता है। परंतु शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर है। क्योंकि कर्म

जड है इसलिए स्वतः जीव प्राप्त नहीं कर सक्ता । इससे देनेवाला कोई होना ही चाहिए । कर्म करनेवाला जीव है और फल देनेवाला ईश्वर है।" इसका प्रत्युत्तर यह है कि जैसा जीव करता है वैसा पाता है और यदि देनेवाला ईश्वर है तो प्रथम तो आपसे हमारा यह प्रश्न है कि फिर ईश्वर ने अपनी ओर से क्या दिया ? कुछ भी नहीं। और आप जो यह हेतु देते हैं कि कर्म जड है इसलिए ईश्वरद्वारा फल मिलता है; सो यह भी भ्रम है । जैसे विषमिश्रित भोजन करने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है परंतु विष जड पदार्थ है उसको यह ज्ञान नहीं है कि जो मुझे खाता है उसकी मृत्यु हो जाती है, तथापि उसको खानेवाला अवश्य मृत्यु के मुख में गिरता है । वैसे ही पौष्टिक पदार्थ मृगाङ्क, मकरध्वज, चंद्रोदय आदि मात्राएँ अथवा घृत, दुग्ध आदि भक्षण करने से मनुष्य का शरीर पुष्ट होता है, परंतु उक्त पदार्थों को सर्वथा यह मालूम नहीं कि हमारे सेवन करने वाले की पुष्टि होती है। अथवा जैसे चुम्बक पत्थर, लोहे का आकर्षण करता है तो पाषाण और लोह दोनों ही जड पदार्थ हैं परन्तु चुम्बक पत्थर में ऐसा ही स्वाभाविक गुण है कि वह लोह को आकर्षण किये बिना नहीं रह सकता । इसमें जैसे प्रेरक का कोई काम नहीं तद्वत् कर्म जड़ होने से क्या हुआ ? कर्म फल भोगने में भी ईश्वर का कोई काम नहीं है कर्मो में यह स्वाभाव है कि शुभ कर्म के कर्ता को शुभ सामग्री और अशुभ कर्म के कर्ता को अशुभ सामग्री स्वतः प्राप्त हो जाती है । याद रहे द्रव्य अपना परिणाम नहीं छोड़ता । कर्मों को जड कहकर शुभ कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर सिद्ध करना चाहे तो नहीं हो सकता। जीव शुभाशुभ परिणाम के उपयोग से शुभाशुभ कर्म आकर्षण करके आत्मा को लोलुपीभूत करता है यह अनादि अनंत काल की स्थिति है। सब वस्तुओं का स्व स्व स्वरूप में अस्तित्व है इसमें ईश्वर का कोई काम नहीं। जगत् का कर्ता ईश्वर है इस बात को स्वीकार करनेवाले यह कहा करते हैं कि कर्ता भोक्ता एक ईश्वर है, दूसरा कोई नहीं और जब इस बात में पक्ष निर्बल होता देखते हैं तो शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है ऐसा कहना

शुरू कर देते हैं। हम पूछते हैं कि आपका जगत्कर्ता ही सब कुछ है तो फिर कर्मों को मानने की क्या गरज़ रही ?

जगत्कर्तामाननेवालों का यह हठ है कि विना किये कुछ भी चीज नहीं होती, इससे जितने पदार्थ हैं उनका करनेवाला कोई होना ही चाहिये। उत्तर में ज्ञात हो कि फिर आपके ईश्वर का भी कर्ता कोई होना चाहिए? क्योंकि आपका ईश्वर विना ही किये कैसे हो गया।

यदि कहाजाय कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं है ईश्वर स्वतः सिद्ध है। संसार का रचयिता ईश्वर मानना ठीक है परंतु ईश्वर का कर्ता मानना ठीक नहीं। हम कहते हैं कि क्यों ठीक नहीं ! आप प्रथम कह चुके हो कि विना किये कुछ भी पदार्थ नहीं बनता इससे तो ईश्वर का भी कर्ता कोई होना उचित है और अब कह रहे हो कि ईश्वर का कर्ता कोई नहीं। जैसे आप ईश्वर का कर्ता कोई नहीं मानते तद्वत् जगत् का कर्ता भी कोई नहीं ऐसा मान लिया जाय तो किसी भी तरह का वाद विवाद का कारण नहीं रह सक्ता, और ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानने में ईश्वर में भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। परन्तु ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने में अनेक दोष आते हैं यह हम प्रथम दिखा आये हैं इसलिए यहाँ पर लिखने की जरूरत नहीं।

कितनेक ईश्वर वादियों का मानना है कि जगत् के उत्पत्ति के प्रथम केवल जगत् का कर्त्ता एक शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानंद परमेश्वर ही था और दूसरी कुछ भी सामग्री नहीं थी और सब पदार्थ (वस्तु) ईश्वर के ही रचे हुए हैं और कितनेक ईश्वरवादी जगत् की उत्पत्ति के प्रथम एक ईश्वर और दूसरा जगत्उत्पन्नकरने की सामग्री (काल-दिशा-प्रकृति) और जीव इन तीनों को अनादि माना है इन दोनों ही प्रकार के ईश्वरवादियों के प्रश्नों का उत्तर न्याययुक्त इस ग्रंथ में दिया गया है फिर कोई ईश्वरवादी महाशय तर्क करेगा तो यथासाध्य उत्तर देने में बिलम्ब नहीं किया जायगा। **किसी महाशय के मन में इस विषय पर कुछ लिखने की उम्मेद हो तो बेशक कुछ लिखे,** गौर किया जायगा।

अब ईश्वरवादी सर्व प्रकार से निरुत्तर हो जाते हैं तो यह कहा करते हैं कि जब ईश्वर को सृष्टि का कर्ता वा प्रेरक न मानें तो ईश्वर को कैसा मानें ! और जब ईश्वर कुछ करता ही नहीं है तो ईश्वर को मानने से ही क्या लाभ होगा ? । ईश्वरवादी महाशय ! इसके उत्तर में सुनिए । ईश्वर को सांसारिक बातों का प्रेरक मानने से अथवा जगत् का कर्ता मानने से पूर्वापर विरोध आता है इसीलिए जगत् कर्त्ता ईश्वर को मानने वालों को निरुत्तर होना होता है अतएव ईश्वर को ध्येयरूप मानने से ईश्वर में किसी प्रकार का भी दोष नहीं आता और ध्यान का आधार ध्येयरूप मानना क्या यह लाभ नहीं है ? बल्कि एतावन्मात्र ही महान् और उत्तम लाभ है ।

उपसंहार ।

और

(जैन तत्त्वज्ञान)

"यदि निष्पक्षपात होकर देखा जाय तो सत्य बात यह है कि, जीव और जड अनादि से मिले हुए हैं । इनका रचयिता कोई नहीं है । यौगिक और मिश्र पदार्थों के सूक्ष्म अणु-हजार, लाख, करोड, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध कभी पृथक् २ हो भी सक्ते हैं; परंतु मूल परमाणुओं का विश्लेष कभी नहीं हो सक्ता । तात्पर्य एक परमाणु के दो विभाग नहीं हो सकते । अतएव सिद्ध हुआ कि मिश्र पदार्थ विनाशशील हैं परंतु असली पदार्थ विनाशशील नहीं । जीव अनादि और अमर है । एक शरीर से दूसरा शरीर धारण करना इसका नाम मृत्यु है । वर्त्तमान अवस्था पूर्वकृत कर्मानुसार और आगामी अवस्था वर्तमान में किए हुए कर्मों के अनुसार होती है । आत्मा जबतक सब कर्मों से मुक्त न होगा तब तक जन्म मरण रूप चक्र में भ्रमण करता रहेगा । जैसे मनुष्य मदिरा (सुरा) के पान करने से पराधीन अर्थात् उसके नशा के आधीन हो

जाता है तद्वत् आत्मा सर्व शक्तिमान अर्थात् अनंत शक्तिमान होने पर भी कर्माधीन होने से परिभ्रमण करता है । जो जीव जैसा करता है वैसा फल भोगता है। कर्मों का फल देनेवाला दूसरा मानना भ्रम है । कर्मों का भुक्तभोग पूरा हो जाने से जीव मुक्त[1] हो जाता है । पूर्व संचित कर्मों को दूरकर आगामी कर्मों का बंध पड़ना रोक देवे तभी जीव की मुक्ति होती है। जगत् का कर्ता कोई नहीं स्वतः अनादि काल से प्रवाहरूप चला आता है । मुक्त जीव फिर संसार में लौट के नहीं आते । जो लोग मुक्त जीवों का फिर संसार में लौट आना मानते हैं उनमें वह बुद्धि का दोष है । सर्व पदार्थ स्वतः अपना अपना कार्य करते रहते हैं और काल, स्वभाव, नियति, उद्यम, और कर्म इन पांचों का समवायसंबंध, पदार्थों के संयोग में निमित्त है । जैसा कि सूत्र के तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति होने का समय इसको "काल" जानना और सूत्र के पुंज में पट की उत्पत्ति करने की योग्यता है इसको "स्वभाव" जानना । पट के बनाने का पुद्गल जैसे रूई है इसको "नियति" समझना, भवितव्यता-प्रारब्ध-दैव-अदृष्ट-जीवकृत धर्माधर्म, किंवा पुद्गलादि भी नियति का अर्थ होता है अथवा जिन जिन पदार्थों के जैसे २ स्वभाव हैं उन उन पदार्थों का वैसा वैसा जो परिणाम हो उसका भी नाम नियति है। जिस सूत्र के तंतु के पुंज से जिस पट की उत्पत्ति का जो निमित्त होना वह "पूर्व कर्म" समझना चाहिए । और तंतु के पुंज से पट की उत्पत्ति करने का जो उद्योग करना उसको "उद्यम" जानना चाहिये । इन पांचों के समवाय संबन्ध के योग से सब कार्य होते हैं इसमें ईश्वर का कुछ काम नहीं । जड, चेतन पदार्थ स्वयं अनादि सिद्ध हैं । पुरुष बिना स्त्री नहीं, और स्त्री बिना पुरुष नहीं । बीज बिना बृक्ष नहीं, और बृक्ष बिना बीज नहीं । पृथवी, जल, वायु और आकाश इनके विना, मनुष्यों की अथवा वृक्षों की स्थिति होना प्रायः दुःसाध्य है । जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों के अंतर्गत सब पदार्थों का समा-

---

१ शरीरादि सर्व पदार्थों से आत्मा का आत्यन्तिक वियोग हो जाने का नाम मुक्ति है। जो आत्मिक सुखों में मग्न रहे उसे मुक्तात्मा कहते हैं।

वेश हो सकता है । प्रत्येक पदार्थ में अपना अपना गुण ठहरा हुआ है। मृत्तिका में यह गुण है कि अग्नि में रहने से कठोर और रक्तवर्ण हो जाती है परन्तु कागज़ में उक्त गुण नहीं है । वह न कठोर हो सकता है और न लाल। काष्ठ की लकड़ी दो लेकर और छीलछिलाकर परस्पर दोनों को फसादो और ठोककर चुस्त करदो जोड़ लग जायगा और परस्पर एकमें एक मिलकर एक समान होजायगी। परन्तु धूलिपर धूलि रखने से जोड़ नहीं लगसकता, इसी तरह संसार के सर्व पदार्थों की परीक्षा करने से सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु में पृथक् पृथक् स्वाभाविक गुण रहते हैं। अनेक पदार्थ ऐसे संसार में हैं जिनके मिलने से और पृथक् पृथक् होने से अनेक नवीन स्वभाव उत्पन्न होते हैं। जैसे श्याम[1] और पीत रंग मिलने से हरितभाव होता है। घास का बीज पृथिवी में बोने को कोई नहीं जाता; परंतु बर्षा के पानी का योग पाकर स्वतः अंकुर निकलकर घास उग जाता है । तद्वत् संसार में पदार्थों का ओत प्रोत (उलट-पलट) होकर नाना प्रकार के नवीन भाव सदा उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार की रचना को अज्ञ अथवा अल्पज्ञों ने ईश्वर की रचना समझ रक्खी है। जीव जैसा कर्म करता है तदनुसार उसको फल स्वतः प्राप्त होता है, ईश्वर को इसमें मध्यस्थ होने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोई ऐसा न्यायशील मनुष्य संसार में नहीं दीखता कि जो रागद्वेष-रहित ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता सिद्ध कर दे! जो लोग पक्षपातरूप [2]कंथा ओढ़कर बैठे हुए हैं वे युक्ति प्रमाण को कुछ चीज नहीं समझते। यदि वे कदाचित् लेखनीद्वारा अथवा वक्तृताद्वारा हठात् अपने मन्तव्य सिद्ध करने का प्रयत्न भी करें तो भी बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष, उस दुराग्रह को शीघ्र समझकर उनके मन्तव्य को अपने हृदय में स्थान नहीं देते !

जगत् रचना की ओर लक्ष्यपूर्वक देखा जाय तो इतनी बात अवश्य है कि कारणरूप जगत्; अर्थात् जड, चेतन पदार्थ अनादि से है और

---

१ इस बात पर विशेष देखने की जिसकी इच्छा हो वह भौतिक शास्त्र देखे ।

२ गुदड़ी ।

कार्य रूप जगत्; अर्थात् नाना प्रकार के पदार्थ जो कृत्रिम दृष्टिगत हो रहे हैं उनके बनानेवाले सब संसारी जीव हैं । इसमें ईश्वर का कुछ संबंध नहीं ।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयमेव विनश्यति" ॥१॥
"यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणम्" ॥१॥

आत्मा अज्ञान के उदय से बुरे और ज्ञान के उदय से अच्छे आपही स्वतः कर्म करता है, और स्वयं ही भोगता है, स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही एक गति से दूसरी गति में जाता है, जिसको व्यवहार में मर गया कहते हैं। जब सब कार्यों से निःस्पृही होकर आत्मा का साधन करेगा तब जन्म, मरण से छूटकर सर्व कर्मों से विमुक्त हो जायगा; फिर संसार में परिभ्रमण करना न होगा ।

माता के उदर में जिस समय जीव आता है उस समय पूर्वभव के, पुण्य पाप के बंध के अनुसार अच्छा या बुरा शरीर बनाता है और शरीर संपूर्ण होजानेपर जन्म धारण करता है । यदि आयुः पूर्ण होता है तो अधिक काल उस शरीर में रहता है। शुभ कर्मों से सुख और अशुभ कर्मों से दुःख जीव को होता है यह सरल मार्ग है।

जैन शास्त्रों में अरि[1]हन्त और सिद्ध को देव मानते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु को गुरु मानते हैं। ज्ञान, दर्शन; चारित्र और तप को धर्म का मूल माना है। उक्त शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म इन

---

१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगा: । हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥१॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा च विरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषा-स्तेषामष्टादशाप्यमी ॥२॥ भावार्थ—१ दानान्तराय २ लाभान्तराय, ३ वीर्यान्तराय, ४ भोगान्तराय, ५ उपभोगान्तराय, ६ हास्य, ७ रति, ८ अराति, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ शोक, १२ काम, १३ मिथ्यात्व, १४ अज्ञान, १५ निद्रा, १६ अविराति, १७ राग, १८ द्वेष । इन अठारह दोषों से रहित अरिहन्त होते हैं ।

तीन तत्त्वों को जो पूर्ण जानकार दृढ श्रद्धावान् हो वही विशुद्ध जैनी कहा जा सकता है। जिस देव में अठारह दोष हों अथवा अठारह में से एक भी दोष मिले उसे शुद्ध देव नहीं जानना। और जो गुरु कनक कामिनी का लोलुपी हो वह सुगुरु नहीं हो सकता और जो धर्म हिंसाप्रचुर अज्ञानियों द्वारा प्रणीत हो वह शुद्ध धर्म नहीं हो सकता। इन तीन तत्त्वों का जैन शास्त्रों में खूब विचार किया गया है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ (तत्त्व) माने हैं। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-पुद्गल और जीव यह षट् द्रव्य हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरु लघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, और अमूर्त्तत्व, यह दश द्रव्य के सामान्य गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व, वर्त्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व यह द्रव्य के सोलह विशेष गुण हैं। अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम यह ग्यारह द्रव्य के सामान्य स्वभाव हैं। चेतन, अचेतन, मूर्त्त, अमूर्त्त, एक प्रदेश, अनेक प्रदेश, विभावस्वभाव, शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव और उपचरित स्वभाव यह दश द्रव्य के विशेप स्वभाव हैं। वस्तु के एक एक धर्म पर सप्तभंगी की रचना जानने योग्य है। स्याद्वाद[1] न्याय से जिस वस्तु की परीक्षा की जाय और वह ठीक परिक्षा में उतरे वह सत्य है। सभी वस्तु उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। वस्तु स्व रूप करके अस्तित्व में है और पर रूप करके अस्तित्व में नहीं है, अर्थात् पर रूप करके अस्ति नहीं और स्वरूप करके नास्ति नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने हैं। तीर्थंकरों ने एक श्रावक (गृहस्थ) धर्म और दूसरा यति धर्म कहा है। श्रावकों के लिये दशविध धर्म इस प्रकार जानना:—

---

१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति नास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य, ७ स्यादास्ति नास्ति अवक्तव्य। यह सप्तभंगी अर्थात् स्याद्वादन्याय की मुख्य बातें हैं।

"दया दानं दमो देवपूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा ।
सत्यं शौचं तपोऽस्तेयं, धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्" ॥१॥

१ सर्व जीवों पर अनुकंपा-दया रखना, २ अभय सुपात्रादि दान देना, ३ पंच इन्द्रियों का दमन, ४ जिनेंद्र देव की द्रव्य भाव सहित पूजा, ५ गुरु भक्ति, ६ क्षमा, ७ सत्य, ८ पवित्र रहना, ९ तपस्या करना और १० चोरी नहीं करना । यह दशविधधर्म गृहस्थों का कहा । धर्म कार्य में उद्यमी, आस्तिक, विनयवान्, शास्त्र गुरुमुख से श्रवण करने वाला, परलोक साधन के लिए, शुद्ध मन, वचन, काया से धर्मक्रिया करने वाला, सद्बुद्धियुक्त, संसार को असार समझकर लोभ लालच को घटानेवाला, विषय सुख को क्षणिक समझकर त्याग करनेवाला और कषाय को हटाकर स्वभाव को स्थिर रखनेवाला हो वही शुद्ध श्रावक हो सकता है ।

दूसरा यति धर्म दशविध इस प्रकार जानना:—

"खंति-अज्जव-मद्दव-मुत्ति-तव-संयमो य बोद्धव्वो ।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जई धम्मो" ॥ १ ॥

१ क्षमा, २ निरभिमान, ३ निष्कपट, ४ सर्व सांसारिक कार्यों से मुक्त, ५ तपयुक्त, ६ सत्रह प्रकार के संयम का पालनहार, ७ सत्य-ग्राही-सत्यवक्ता, ८ बाह्य आभ्यन्तर शौच, ९ सुवर्णादिक धातु के त्यागी, १० ब्रह्मचर्यव्रत सहित यह दशविध यतिधर्म कहा । और छ काय के रक्षक, शुद्ध उपदेश के देने वाले, षट द्रव्य की चर्चा के जानकार पंच महाव्रत धारक, पांच इन्द्रिय के २३ विषयों को जीतने वाले, कषायरहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधक, जिनागम स्याद्वाद वाणी के जानकर, अप्रमादी धर्मधुरंधर, मोक्षमार्ग के दर्शक, गृहस्थाश्रम का त्याग, दीक्षा ग्रहणकर तीर्थंकरों के मार्ग को बतलाने वाला जो हो उसी को यतिधर्म का आराधक समझना चाहिए ।

जो गृहवास त्यागकर धर्मक्रिया करना चाहता है उसकेलिये तीर्थंकरों ने यतिधर्म बतलाया और जिनसे सांसारिक चीजों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता उनके लिये श्रावक धर्म बतलाया है।

तीर्थंकरों का यह उपदेश है कि धर्म करो, सुस्त मत बैठो, जिन्दगी के घड़ीभर का भी भरोसा नहीं है। इसलिये सत्यदर्शी बनो, आत्मा परतन्त्रता से छूटे ऐसा मार्ग स्वीकारकरो और स्वतन्त्र बनाओ यही संसार में सार है।

प्रस्तुत भारत के अनेक विद्वान देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये आन्दोलन कर रहे हैं, अथाह परिश्रम व कष्ट उठा रहे हैं उनका यह विचार है कि देश की उन्नति हो और हमारे भारतवर्षीय जनसमूह सुखी सौभाग्यशाली बने! उनसे हमारा निवेदन है कि जैसे आप देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये दत्तचित्त बने हैं वैसेही आप आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थात् स्वाधीनता प्राप्ति करने का भी प्रयत्न क्यों नहीं करते!।

ईश्वर को जगत् का कर्त्ता हर्ता मानने वाले और ईश्वरीय (सङ्केत) इच्छा से कार्य का होना न होना माननेवाले लोग हमारी समझ से हमेशाही के लिए परतंत्र है अर्थात् ईश्वर के अथवा ईश्वरीय इच्छा के आधीन ही हैं। देश की स्वतन्त्रता से मनुष्य प्राणिओं को पौद्गलिक (शारीरक) सुख प्राप्त होने का संभव है परंतु आत्मा की स्वतन्त्रता से आत्मिक सुख क्षणिक नहीं किन्तु हमेशा के लिये है। किंबहुना आत्मा को स्वतन्त्रता प्राप्त करना है अर्थात् जन्म जन्म की परतन्त्रता को नष्ट करना है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति करना है। सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत हुए आत्मा को सब कर्म बंधनों से छुड़ाकर आत्मिक सुखों में मग्न करना। जिसने आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करली है उसकेलिये न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। और स्वदेशी विदेशी भी समान हैं इसीलिये मैं अपने भारतवर्षीय सब मित्रों से यही सूचित करता हूँ कि यदि आप को सच्ची स्वतन्त्रता चाहिये तो ईश्वर को जगत्कर्ता मानना छोड़ दो

और जैन दर्शन के ग्रन्थों का दीर्घ दृष्टि से अवलोकन करो जिससे आपको सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्ति करने का मार्ग मिले।

अन्त में देशी विदेशी स्वधर्मी परधर्मी सब मित्रों से इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ने की प्रार्थना करके मैं इस ग्रंथ को यहाँ ही पूर्ण करता हूँ।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

संवत् १९६५ कार्तिकवदी
षष्ठी गुरुवार
आकोला (बराड)
जैन श्वेताम्बर मन्दिर ताजना पेठ—

☞ सज्जनकृपाभिलाषी—

यति बालचन्द्र



इस ग्रन्थ के छपने में जो अग्रिम मूल्य देकर ग्राहक बने हैं उनकी नामावली.

पुस्तकसंख्या.	नाम.	गाम.
३००	सा. मूलचन्द वाडीलाल ने–स्वर्गस्थभ्राता–सा. मोहनलाल-वाडीलाल के स्मरणार्थ-साधु-साध्वी-श्रावक–श्राविका–पाठ-शाला आदि को भेजदेने के लिये	आकोला
१०	मुहुता–पृथिवीराजजी रतनलालजी	,,
१०	सा. गिरधर हकमचन्द	,,
५	सा. भाणजी सोजपार	,,
५	सा, ठाकरसी देवजी	,,
५	सा. हीरजी कोरसी	,,
५	सा. पेथराज रायसी	,,
५	सा. मङ्गुसा हीराचन्द	,,
५	सा. दोलाजी कुशनाजी	,,
३	सा. देवजी गेला	,,
३	सा. चुन्नीलाल डोसलचन्द	,,
२	सा. चापसी तेजसी	,,
२	सा. पालण गेला	,,
२	सा. खेराज रणसी	,,
२	सा. फकीरचन्द मगनलाल	,,
१	सा. वेलजी रतनसी	,,
१	सा. लीलाधर राणा	,,
१	सा. चन्दुलाल झूठमल	,,
१	सा. सोमचन्द चुन्नीलाल	,,
१	सा. दौलासा कस्तुरचंद	,,
१	सा. मङ्गुलाल त्रिभुवन	,,
१	सा. जगजीवन किशोर	,,
२	सा. चुन्नीलाल पुंजमल	,,
१	दसाडीया हरगोविंद पुरुषोत्तम	,,
१५	सा. त्रीकमलद्धा	चोपडा
११	सा. डुगरशी देवराज	,,
५	सा. कानजी जेवत	पाचोरा
२	सा.कानजी रूपशी	चालीशगांव
५	सा. केसवजी रतनशी	शेगांव
५	सा. लालजी हंशराज	बंबई
५	भंडारीजी-सुजानमलजी	हींगनघाट
१	जडावमलजी दीपचन्द	सेलु.
१	मेता, तिलोकचंदजी दुलजी	प्रतापगढ, जिला-नीमच छावणी.

धी-जैन एसोसीएशन ऑफ इन्डिया के लाइफ मेम्बर स.
रतनशी-सामजी कच्छ-कोठारा वाले की बनाई हुई

गहुली।

[रंगरसीया-रंगरसबन्यो मनमोहनजी ॥ यह देशी]

अहो गुरु बालचन्द्रजी, भले आव्या जी।
सहु संघ हर्षित होयहो, मनभाव्या जी। अन्त० ॥१॥
केवलचन्द्रजी गुरु आपना, गुणवन्ता जी।
शिष्य छो तमे बुद्धिवन्तहो, विद्यावन्ता जी ॥ २ ॥
तमे जिनवाणि सत्य करी, दृढ मानी जी।
तेथी त्यागी दुनिया शीघ्र हो, दिवानी जी ॥ ३ ॥
कर्मग्रन्थ वांचो अच्छो अति, सारुं जी।
तेतो लागे सहुने मीठडु, अतिप्यारुं जी ॥ ४ ॥
श्रावक श्राविका सहुमली, गुणगावे जी।
शास्त्र सांभली पुलकित होय, हां मनभावे जी ॥ ५ ॥
आकोलानो संघ तमने नमें, बहुभावे जी।
सामत सुत रतनसी, गुण गावे जी ॥ ६ ॥

॥ इति ॥

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१२	महास्तोत्र	महादेवस्तोत्र
५	२०	प्रायः	
७	१८	कमादि	कर्मादि
१०	२	क्योंकि में	क्योंकि
१३	१८	लाभ	अलाभ
३१	२१	यहीं	यही

—*—

अर्हम्

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ १ ॥

तत्त्वाभिलाषी महाशय !

जगत् में मुख्य पदार्थ चेतन और जड़ (पौद्गलिक आदि), रूप से दो प्रकार के हैं और उनदोनों में अनन्त शक्तियां हैं। जिस समय जड़ वस्तु का उदय होता है उस समय चेतनवाद गौण हो जाता है और जब चेतनवाद का उदय होता है तब जड़वाद गौणता को धारण करता है। यदि दोनों पक्ष निरपेक्ष दृष्टि से देखे जायँ, तो विरुद्ध प्रतिभास होंगे; किन्तु सापेक्ष रीति से देखने पर स्याद्वादन्यायानुसार कोई हानि नहीं मालूम पड़ती। अर्थात् जड़वाद के ज्ञान हुए विना चेतनवाद का ज्ञान होनाही असंभव है इसलिए जैसे जड़वाद अनादि अनन्त काल से चला आता है उसी तरह चेतन वाद भी है, क्योंकि चेतनवाद के विना जड़वाद शब्द का प्रयोग करना भी दुर्लभ है। जैसे चोर शब्द साहूकार की अपेक्षा रखता है उसी तरह साहूकार भी चोर शब्द की अपेक्षा करता है; इसलिए वस्तुमात्र में सापेक्षता भरी हुई है। इसीरीति से यदि सापेक्षता लक्ष्य में रहती, तो कदापि वैर, विरोध, ईर्षा, अनादरता, दर्शनभिन्नता, विवेकशून्यता, अल्पज्ञता, निर्नाथता, छिन्नभिन्नता, खण्डन, मण्डन आदि दूषण उत्पन्नही नहीं होते; जिनका इस समय हमलोग अनुभव कर रहे हैं, उस अनुभव होने का यह समयही नहीं आता। लेकिन फिर भी जो आज कितनेही भारतभूमि के भूषण नररत्न, समस्त धर्मों की एकता की रक्षा और आर्य्यावर्तभूमि के गौरव

को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं, यह बड़े आनन्द का विषय है।

पहिले भी जिस लेखक ने कलकत्ते में इसी परिषद् के प्रथम अधिवेशन में एक जैनतत्त्वदिग्दर्शन नाम का निबन्ध श्रोताओं को श्रवण कराया था वही इस समय भी आर्हतधर्म के संबन्ध में पक्षपात को जलाञ्जलि देकर पूर्वोक्त महाशयों के प्रयत्न को अमूल्य समझ तत्त्वज्ञानरूप निबन्ध पढ़ने को उपस्थित हुआ है। जैनसिद्धान्तमहासागर से मेरे हृदयरूपी आलवाल (क्यारी) में अप्रमत्तभाव रूपी सारणी (नाली) से अब तक बिन्दुमात्र भी नहीं आया है; इसलिए मैं बिन्दुमात्र भी कह सकूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना भी ठीक नहीं है। अतएव मैं अपने बिन्दु से भी न्यून बोध के अनुसार आर्हतदर्शनरूपी महामहल की नीवँ, दीवार, और धरन रूपी देव, गुरु और धर्म की यथाशक्ति विवेचना करूँगा। क्योंकि जिस इमारत की नीवँ, दीवार, और धरनही मजबूत नहीं है वह घर अकस्मात् गिर जाता है; और उसमें रहनेवालों के मन में भी उसका विश्वास नहीं रहता। इसरीति से दर्शनरूपी महल की मज़बूती-देव, गुरु और धर्मही पर आधार रखती है; इसलिए उन्हींकी व्याख्या करने की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि देव, गुरु और धर्म युक्तियुक्त जिसमें वर्तमान होते हैं और उसी रीति से उसमें यदि गुण तथा आचार भी देखे जायँ तो वह ग्राह्यही होता है अन्यथा नहीं। तो अब उद्देश्य क्रमानुसार पहिले देव का ही स्वरूप कहना उचित है; क्योंकि ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप विना मालूम हुए श्रोताओं के लाभ का संभव ही नहीं है; अतएव आर्हत दर्शनरूपी सुन्दर महल की, नीवँरूपी देव का ही पहिले स्वरूप कहूँगा; फिर उसके बाद गुरु का, तब देव गुरुओं से कहे हुए धर्म का लक्षण,

स्वरूप और उसकी आराधना करने का प्रकार निरूपण करूँगा।

लौकिक और लोकोत्तर रूप से देव दो प्रकार के होते हैं। उनमें भुवनपति, व्यन्तर, वाणव्यन्तर, भूत, पिशाच, ज्योतिष्क और वैमानिक आदि अनेक प्रकार के लौकिकदेव होते हैं; जो सर्वज्ञ न होने के कारण रागद्वेषादि से दूषित रहते हैं। यदि उनकी ही आराधना की जाय तो मोक्षरूपी फल कदापि नहीं प्राप्त हो सकता।

अर्हन् शब्द से जैन शास्त्र में लोकोत्तर देवही प्रसिद्ध हैं। उनका स्वरूप मूलसिद्धान्तानुसार जिसतरह आचार्यवर्य श्रीहरिभद्रसूरि ने लोकतत्त्वनिर्णय और वीरशासन के रहस्यभूत अष्टक में निष्पक्षपात रीति से बतलाया है; तथा कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य ने भी योगशास्त्र और महास्तोत्र में कहा है, उसीके अनुसार यहाँ परभी दिखलाया जाता है—

क्लेश उत्पन्न करनेवाला किसी प्रकार का राग, और

१ श्रीभद्रबाहुस्वामिरचित आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि—

रागद्दोसकसाए इन्दिआणि य पंचवि।
परीसहे ओवसग्गे नामयंता नमोऽरिहा॥ ३२॥
इन्दियविसयकसाए परीसहे वेअणाउवस्सग्गे।
एए अरिणो हन्ता अरिहन्ता तेण वुच्चंति॥ ३३॥

२ यस्य संक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः॥ १॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत्।
त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते॥ २॥
यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलाऽतीतः सर्वथा निष्कलस्तथा॥ ३॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वदेहिनाम्।
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते॥ ४॥

शान्तिरूप काष्ठ को भस्मकरने के लिये द्वेष रूप दावानल, और सम्यग् ज्ञान का नाश करनेवाला तथा अशुभ प्रवृत्ति को बढ़ाने वाला मोह भी जिनके न हो, और जिनकी महिमा तीनों लोक में प्रख्यात हो, उन्हींको महादेव मानते हैं। अथवा—जो सर्वज्ञ और शाश्वत सुख का मालिक हो, और आठ प्रकार के क्लिष्टकर्मों से रहित; तथा हमेशा निष्कल अर्थात् निर्मल हो (याने जो जीवन्मुक्त हो) और जिसकी सब देव पूजा और योगी ध्यान करते हों; एवं जो सब नीतियों का बनानेवाला हो, वही महादेव है।

पूर्वोक्त बातों से केवल महादेव का स्वरूपही ज्ञात होता है; लेकिन किस व्यक्ति को महादेव कहना चाहिए यह नहीं बतलाया गया है। परन्तु गुणगण से भूषित और दोषों से रहित ही को महादेव माना है, इसलिए पूर्वोक्त कथनों से जैनदर्शन में अर्हन् देव ही को महादेव मानते हैं।

अर्हन् देव कदापि अवतार नहीं धारण करते और दुनिया के फन्द में हाथ भी नहीं डालते; केवल केवलज्ञान से भाषावर्गणा के पुद्गलों के क्षय करने के लिये गम्भीरता पूर्वक देशना (उपदेश) देते हैं। जगज्जन्तु को मोक्ष मार्ग के दर्शक होने से सर्वनीतिरचयिता वह माने जाते हैं। यद्यपि नीति तथा धर्म अनादि काल के हैं तथापि समय समय पर उनकी शिथिलता होने पर अपने केवल ज्ञान के समय लोगों को उपदेश द्वारा नीति तथा धर्म का उपदेश देते हैं इसलिए ही वे सर्वनीतिरचयिता उपचार से कहे जाते हैं।

जैनदर्शन में अर्हन् देव को जगत् का कर्ता नहीं माना है किन्तु जगत् अनादिकाल से ऐसा ही बराबर चला आता है; क्योंकि अर्हन् देव को जगत् का कर्ता मानने में जैनदर्शनकारों ने अनेक दूषण दिखाए हैं—पहिले तो ईश्वर में पूर्वोक्त

प्रकार से राग द्वेष और मोह ही जब नहीं है तब उसमें इच्छा हो ही नहीं सकती; क्योंकि इच्छा रागाधीन है और बिना इच्छा के रचना नहीं हो सकती। दूसरी यह बात है कि ईश्वर में जन्य-जनकभाव संबन्ध भी नहीं घट सकता--क्योंकि जनक के तुल्य ही जन्य होना चाहिए और जगत् तो ईश्वर से विलक्षण है। इसलिए स्वामीसेवकभाव ही होना उचित है; और स्वामीसेवकभाव भी जब अनादि माना जाय तभी तो ईश्वर में ईश्वरत्व सिद्ध होगा और यदि ईश्वर तथा जगत् अनादि हैं तो ईश्वर में कर्तृत्व कल्पित होगा। यदि ईश्वर में कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए ईश्वर के बाद जगत् माना जाय तो ईश्वर में ईश्वरत्व किसकी अपेक्षा से होगा ?, क्योंकि ईश्वर शब्द सापेक्ष ही है। अगर कोई ईश्वर को रूढ शब्द मानकर जगत् के पूर्वकाल में भी उसकी स्थिति माने तो वर्तमानकाल में भी ईश्वर शब्द जहाँ कहीं प्रयोग किया जाता है वहाँ रूढही क्यों न माना जाय ?। अर्थात् ईश्वर शब्द का जहाँ जहाँ लोग प्रयोग करते हैं वे सभी वैसेही माननीय पूजनीय क्यों न गिने जायँ ?।

दूसरी यह शङ्का उत्पन्न होती है कि ईश्वर शरीरी है या अशरीरी ? यदि अशरीरी कहा जाय तो उसमें कर्तृत्व का अभाव सुतरां सिद्ध है; क्योंकि जितने कर्ता होते हैं वे सब शरीरी ही प्रायः देखने में आते हैं। यदि ईश्वर को भी शरीरी ही मानोगे तो वह सावयव है या निरवयव ?। निरवयव पक्ष तो शरीरी में कहना ही अनुचित है; क्योंकि ऐसा कहने से उसमें कर्तृत्वाभाव आपसे आप सिद्ध होजाता है। और यदि सावयव पक्षही स्वीकार करिएगा तो ईश्वर भी कार्यकोटिप्रविष्ट हो जायगा। क्योंकि सावयव कार्यही होता है, और जब ईश्वर कार्य हुआ तो उसका भी कोई कर्ता होना ही चाहिये। फिर आगे भी यही युक्ति दिखाई जायगी तो अनवस्था दोष

गले पतित होजायगा । इसपर यदि कोई यह कहे कि पृथ्वी, अङ्कुर आदि का कोई कर्ता प्रत्यक्ष नहीं दीखता इसलिए उसका कर्ता ईश्वर ही मानेंगे । उसके समाधान में यही कहाजाता है कि पृथ्वी, अङ्कुर ईश्वर की अपेक्षा नहीं रखता; केवल नैयायिकलोगों ने ही ईश्वर को 'इच्छामात्र के योग से' जगत् का निमित्तकारण मात्र माना है । किन्तु ईश्वर से इच्छा का कुछ संबन्धही नहीं है यह पहिले बहुत स्पष्ट रूप से कहा जाचुका है । कदाचित् वादी के संतोष के लिए ईश्वर में इच्छा मानभी ली जाय तो भी ईश्वर की इच्छामात्र से पृथ्वी या अङ्कुरादि नहीं हो सकते; क्योंकि साथही साथ मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु आदि की भी तो अपेक्षा रहती है ! यदि इच्छामात्र से ही कार्य की सिद्धि होती हो तो पत्थर में घास क्यों नहीं उगती? अगर यह कहें कि उसकी वहाँ पर वैसी इच्छा नहीं है तो यहभी कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो ईश्वर को कर्ता मानते हैं वे उसको व्यापक भी तो मानते हैं । तथा उसकी इच्छा, कृति और ज्ञान को भी नित्य माना है । तो अब घास आदि सर्वथा समस्त स्थल पर होना चाहिए इसमें कुछ बाधाही नहीं हो सकती । अगर कहा जाय कि मृत्तिका जलादि की अपेक्षा ईश्वर को रखनी पडती है; तो यदि ईश्वर को अन्य की अपेक्षा रखनी पड़ी तो तुह्मारे मत में ईश्वर सापेक्ष हो जायगा फिर जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ ही होता है ।

दूसरी यह बात है कि जगत् की उत्पत्ति के पहिले ही जीव और कर्म मानने पड़ेंगे । यदि यह कहें कि पहिले कर्म नहीं थे किन्तु ईश्वर ने नए ही रचे हैं तो यह बात बुद्धिमानलोग कदापि युक्तियुक्त नहीं मानेंगे क्योंकि जब कर्म नहीं थे तब जीव परमसुखी आनन्दमय निरुपाधिवाले ही होंगे तो वे जीव

सोपाधिक किस कारण से किए गए । यदि क्रीडामात्र के लिए ऐसा किया तो क्या अपनी क्रीड़ा के लिए दूसरे का प्राणलेना ईश्वर के लिए उचित है ? । और यह भी बात है कि ईश्वर ने ही जब कर्म बनाए तब सबको समानही होना चाहिए फिर कर्म के समान होने पर जगत् की विलक्षणता कुछ भी न रहनी चाहिए । अगर कोई यह कहे कि पहिले कर्म समान ही थे और जगत् भी एकाकार ही था किन्तु पीछे से उसमें फेर फार हुआ है । वाह ! जब सामान्य कारीगर की कारीगरी एकाकार आद्यन्त पर्यन्त देखी जाती है तब ईश्वर की कारीगरी विलक्षण स्वभाववाली होजाय ऐसा क्या कभी संभव है ? ।

इत्यादि अनेक दूषण संमतितर्क, स्याद्वादरत्नाकर, अनेकान्तजयपताका, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में दिखलाए हैं । इसीलिए अर्हन् जगत् का कर्ता नहीं माना गया है ।

अर्हन् देव अपने केवलज्ञानद्वारा पदार्थों को जानकरके फिर सबको बता देते हैं। जैनशास्त्र में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति, जीव, कर्मादि पदार्थरूपी जगत्-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य मानागया है । जिसका खुलासा स्याद्वाद प्रकरण में आगे किया जायगा ।

अर्हन् देव के हजारों नाम हैं, जिनमें शङ्कर, शिव, महादेव, विश्वनाथ, हरि, ब्रह्मा, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठी, स्वयंभू, जिन, पारगत, त्रिकालवित् , अधीश्वर, शम्भू, भगवान्, जगत्प्रभु, तीर्थङ्कर, तीर्थंकर, जिनेश्वर, स्याद्वादी, अभयद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, पुरुषोत्तम, वीतराग आदि नाम गुणनिष्पन्न हैं । इनके अर्थांश में किसीको भी विवाद नहीं है, क्योंकि

स्वाभाविक वस्तु में भेद पड़ताही नहीं; और विना भेदक के भेद किसतरह होसकता है ? देखिये एकही जाति के पक्षी या एकही जाति के पशु की बोली किसी भी देश में भिन्न नहीं होती क्योंकि उसका कोई भेदक नहीं है। अथवा मुह पर पाँचों अङ्गुली लगाने से खाने की, और पेटपर हाथ लगाने से क्षुधा की, तथा नाकपर एक अङ्गुली देने से चुपकराने की चेष्टा मालूम होती है और उस संकेत का सब देश में समानही अर्थ होता है, कुछ फेरफार विशेष नहीं मालूम होता। किन्तु मनुष्य की भाषा में जो फेरफार है उसके भेदक मनुष्य ही प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। संस्कृत, प्राकृत तो अनादि भाषा है, यद्यपि उसमें समय समय पर न्यूनाधिकभाव होता रहता है; किन्तु मूलभाषा यथावस्थितही रहती है। और जो दर्शनों की भिन्नता दिखाई पड़ती है वह भी भिन्न २ सर्वज्ञ मानने से ही है। अगर सर्वज्ञ की सिद्धि एकही तरह की मानी जाय तो फिर कुछभी भिन्नता न रहेगी; लेकिन ऐसा न कभी हुआ और न होगा। हाँ ! इतना अवश्य कह सकते हैं कि दर्शन भिन्न २ भलेही रहें किन्तु आपस में वैर विरोध न करके जिस वस्तु में समानता यानी मेल है उसमें यदि मिलकर काम किया जाय और जिसमें भिन्नता है उसकी बारीक दृष्टि से विचार की जाय तो विशेप लाभ होने का संभव है।

अर्हन् देव का विशेप स्वरूप नीचे नोट में दिया गया है पाठकलोग उसे देखकरके सन्तुष्ट हों।

---

१ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन परमेश्वरः ॥ ४ ॥
(योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश)

अकार आदिधर्मस्य आदिमोक्षप्रदेशकः।
स्वरूपे परमं ज्ञानमकारस्तेन उच्यते ॥ ४० ॥

सर्वज्ञ और वीतराग होने से अर्हन् देव में मिथ्याभाषण करने का संभव ही नहीं है; क्योंकि भय, असर्वज्ञता और सराग के कारण से ही मिथ्याभाषण होता है। इसीलिए अर्हन् देव में उनबातों का अभाव होने से उनका उपदेश सफल और सतत्त्व है—यह धर्माधिकार में स्पष्ट किया जायगा। यहां पर यह शङ्का होने का संभव है कि अर्हन् देव सर्वज्ञ हैं इसमें क्या प्रमाण है?। इसपर अन्य प्रमाण देने के पहिले हम यही प्रमाण देते हैं कि उनके कहे हुए परोक्ष पदार्थ के जानने के लिये यद्यपि पूर्व समय में सूक्ष्मदर्शकादि किसी यन्त्रों का आविर्भाव नहीं था; किन्तु आजकल पदार्थविज्ञानवादी लोग जो नए नए आविर्भूत यन्त्रों के द्वारा—जल, वनस्पति, पृथ्वी, फलादि में जीव प्रत्यक्ष कर रहे हैं; और बहुत लोगों ने परलोक, जन्म, मरण, जीवित्व विभागादि जो अब सिद्ध किया है वह हमारे अर्हन् देव ने केवल ज्ञान के बल से पहिले ही कह दिया था॥ यदि कोई

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन उच्यते॥ ४१॥
हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन उच्यते॥ ४२॥
सन्तोषेणाभिसंपूर्णः प्रातिहार्याष्टकेन च।
ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन उच्यते॥ ४३॥

अथवा—

अकारेण भवेद् विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम्॥ ३९॥

(हेमचन्द्राचार्यविरचित महादेवस्तोत्र)

एवंभूताय शान्ताय कृतकृत्याय धीमते।
महादेवाय सततं सम्यग् भक्त्या नमो नमः॥ ८॥

(हरिभद्रसूरि)

यह शङ्का करे कि उनका सर्वथा वीतराग होना कथन मात्र ही है क्योंकि में वास्तविक में कैसे घट सकता है ?। इसका उत्तर यही है कि जैसे अपने लोगों में रागद्वेष की तारतम्य (कमोवेशी) दिखाई देती है वैसे ही किसी व्यक्ति विशेष में रागद्वेष का सर्वथा अभाव होना भी संभव है; इस तरह सर्वथा वीतराग मानने में कुछ भी बाधा नहीं दिखाई देती । जिस पदार्थ का एक देश नाश होता है वह सर्वथा विनाशी होता है जैसे सूर्य की किरणों को ढांकनेवाली मेघघटा आदि का किसी अंश में क्षय दिखाई देता है इस लिए उसका सर्वथा क्षय भी समझा जाता है, वैसे ही रागादि के विषय में भी समझना चाहिये ।

अब यहां पर एक बड़ी भारी यह शङ्का उत्थित होती है कि जब अर्हन् देव सिद्धपदवी को प्राप्त होगये तब उनके वीतराग होने से उनकी स्तुति (सेवा) या निन्दा (अनादर) करने से क्या फल है ? क्योंकि स्तुति करने से न तो वे तुष्ट ही होंगे और न निन्दा करने से रुष्ट होंगे । इसका यह उत्तर है कि आत्मा को सुख दुःख देनेवाला कोई नहीं है, अगर कोई है तो केवल अपना कर्म ही है और कर्मबन्धन होने का कारण शुभाशुभ अन्तःकरण ही है । लोक में भी उक्ति है कि "प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" और समस्त दर्शनकारों ने भी कर्म की सत्ता शब्दान्तर से स्वीकार की है और फल भी कर्मानुसार ही मानकर अपने २ सिद्धान्त का समर्थन करसके[2] हैं; केवल कर्मों के जड़ होने से उनका

१–श्रीहारिभद्रसूरिकृत अष्टक की टीका में श्रीजिनेश्वरसूरि ने लिखा है कि-

दृष्टो रागाद्यसद्भावः क्वचिदर्थे यथाऽऽत्मनः।
तथा सर्वत्र कस्यापि तद्भावे नास्ति बाधकम् ॥ १ ॥

२–कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ? ।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥ १ ॥

प्रेरक ईश्वर, या कोई दूसरा कारण माना है। किन्तु जैन लोग स्वात्मा से भिन्न कोई कारण नहीं मानते । यद्यपि कर्म जड़ है तथापि उसकी अनन्त प्रकार की शक्तियां हैं । अत एव शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, अनन्त शक्ति के मालिक आत्मा को अज्ञानी बनाकर अपने आधीन शुभाशुभगति में, लोह को चुम्बक की तरह, खींचने की शक्ति रखता है; और उसमें दूसरे प्रेरक की वह अपेक्षा नहीं करता । यदि कोई यह कहे कि चेतन का उपकार या अपकार जड़ कैसे कर सकता है ?; तो इसका उत्तर यह है कि जैसे सरस्वतीचूर्ण, और मदिरादि यद्यपि जड़ हैं तो भी आत्मा के उपकारक और अनुपकारक प्रत्यक्ष सिद्ध हैं उसी तरह कर्म जड़ होने पर भी आत्मा को मोहित करलेता है ।

इतनी प्रसङ्ग की बात कह करके अब मैं कर्मबन्ध के कारण के विषय में विशेषरूप से विवेचना करने की इच्छा करता हूँ—

जैसे किसी पुरुष को स्त्रीपर प्रेम करने से अशुभगति के भागी होने में स्त्री की कोई शक्ति नहीं है बल्कि अशुभ अन्तःकरण होने से अशुभगति मिलती है, उसी तरह वीतराग की सेवा-पूजारूप आज्ञा की आराधना करने से शुभ भावना होती है और वह शुभ भावनाही शुभफल को देती है; क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि जैसा सङ्ग होता है वैसाही रङ्ग लगता है। और शास्त्रकारों ने भी ध्यान के विषय में लिखा है कि वीतराग के ध्यान करने से जीव वीतराग-दशा को प्राप्त करता है, और सरागी का ध्यान करने से जीव सरागी होता है । इसलिए वीतराग की सेवा-पूजारूप आज्ञा की आराधना करनेवाला पुरुष अत्युत्तम फल को प्राप्त होता है और वीतराग पर द्वेष करनेवाला क्लिष्ट कर्मों का संचय करता है।

अब रहा यह कि इस-जन्म-संबन्धी शुभाशुभ फल कैसे प्राप्त होता है? वह भी इस तरह हो सकता है कि जैसे वीतराग के भक्त देवतालोग रागद्वेषवाले होने से पूजकपर प्रसन्न और निन्दकपर अप्रसन्न होते हैं; इसलिए वे देवता वीतराग की पूजा के निमित्त से जो फल देते हैं वह वीतराग से ही प्राप्त होता है, यदि आरोप से ऐसा मान लें तो उसमें कुछ भी हानि नहीं है।

अर्हन्त देव में राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, निद्रा, अविरतिरूप अठारह दूषणों का अभाव है।

यद्यपि राग, द्वेष, मिथ्यात्व और अज्ञान रूप चार ही दूषणों के नाश होने पर प्रायः सभी दूषण नष्ट होजाते हैं, किन्तु बालकों को सरल रूप से ईश्वरसंबन्धी ज्ञान कराने के लिए विशेष विस्तार किया गया है। और कार्यरूप दानान्तरायादि चौदह दूषणों के दृष्टिगोचर होने से रागद्वेषादि चार कारणरूप दोषों का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि कार्य से ही कारण अनुमान किया जाता है जैसे कोठरी के भीतर बैठा हुआ पुरुष वृष्टि के देखने से आकाशस्थ मेघ का अनुमान कर लेता है।

राग द्वेषादि चार दोष जिसमें दिखाई पड़ते हैं वह किसी प्रकार सर्वज्ञ, वीतराग और सर्वदर्शी नहीं माना जा सकता।

१—अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीर्निर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ ७२ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ ७३ ॥
(हेमकोश, देवाधिदेवकाण्ड, पृ० २३)

अतएव वीतराग कहने से रागद्वेष का अभाव, और सर्वज्ञ पद से अज्ञान का अभाव, तथा सर्वदर्शी शब्द से मिथ्यात्व दोष का अभाव मालूम किया जाता है; क्योंकि इस तरह हुए विना वे विशेषण अर्हन् देव में सार्थक नहीं हो सकते। जहां रागद्वेषादि चारो दोष नहीं हैं वहां अन्तराय कर्म की स्थिति नहीं हो सकती है, फिर अन्तराय कर्म के अभाव होने से दानशक्ति, लाभशक्ति, वीर्यशक्ति, भोगशक्ति और उपभोगशक्ति रूप गुणगण की प्राप्ति होती है। अर्थात् दानादि शक्तियां संपूर्णरूप से सर्वज्ञ में प्रकट होती हैं किन्तु वे उनको उपयोग में नहीं लाते हैं; उसका कारण यह है कि उनको कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता कि जिसके लिए वे उन्हें काम में लावें।

और हास्यरूप दूषण भी भगवान् में नहीं होसकता; क्योंकि अपूर्व कुतूहल से ही हास्य उत्पन्न होता है लेकिन सर्वज्ञ के ज्ञान में समस्त वस्तु के प्रत्यक्षगोचर होने से कुतूहल उत्पन्न होने का संभव ही नहीं है।

इष्टपदार्थ के ऊपर प्रेम होनाही रति कहलाती है, तब जहाँ राग का अभाव है वहाँ प्रेम (रति) का अभावही है। इसी रीति से अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति और इष्ट पदार्थ के लाभही को अरति कहते हैं; परन्तु जब सर्वज्ञ में रागद्वेष का ही अभाव है तब इष्ट अनिष्ट की बातही क्या है ?। इसी तरह समझने की बात है कि विना अज्ञान के भय कदापि उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जहाँ अज्ञान का ही अभाव है वहां पर भय की सत्ता किस तरह हो सकती है ?। एवं अनिष्ट पदार्थ पर घृणा करनाही जुगुप्सा है और वह जगत् पर समभाव रखनेवाले अर्हन्त देव में कदापि होही नहीं सकती। इसीतरह इष्ट वस्तु के वियोग में चित्त की प्रतिकूलता को ही शोक कहते हैं और भगवान् में इष्टानिष्ट ही का जब अभाव है तब शोक का समावेश

किस रीति से हो सकता है ? । इसमें एक कारण और भी है कि जो अर्हन् देव स्वयं दूसरे के शोक दूर करने में समर्थ हैं उन्हें शोक कैसे हो सकता है ? । और काम भी अज्ञानजन्य चेष्टारूप ही है किन्तु जहां अज्ञान का स्वप्न में भी संभव नहीं है वहां काम किस तरह अपना पद रख सकता है ? । उसी तरह दर्शनावरणीय कर्म के भेदरूप होने से निद्रा संसारी को ही होती है किन्तु दर्शनावरणीयादि चार घातिकर्म को विना क्षय किये सर्वज्ञ ही नहीं होता है; तो दर्शनावरणीयकर्म के नाश में निद्रा भी स्वतः नष्ट होजाती है । जैसे ग्राम के अभाव में ग्राम की सीमा का अभाव स्वतः सिद्ध है । दूसरी यह भी बात है कि सामान्य देव भी जब अस्वप्न देव कहे जाते हैं तब सर्वज्ञ देव को निद्रारहित मानने में क्या बाध है ? । इसीतरह सर्व पदार्थ का भोगाभिलाषरूप ही अविरति है, किन्तु रागद्वेष का ही जहाँ अभाव है वहां भोगाभिलाष भी सुतरां स्थिर नहीं होसकता ।

इस रीति से सर्वज्ञ भगवान् में अठारह दूषणों का अभाव युक्तिसिद्ध कहा गया है । और इसी तरह अष्टकर्मों का अभाव जब उनमें होता है तभी वे अन्तिम शरीर का त्याग करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं और तभी वह सिद्ध गिने जाते हैं ।

देहयुक्तदशा में तीर्थंकर-अर्हन् देव कहे जाते हैं और देहमुक्तदशा में सिद्ध गिने जाते हैं । इस समय चौवीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी का शासन पालित होता है क्योंकि उनके उपदेशानुसारही वीर प्रभु के अनुयायी लोग चलते हैं । अब आगे भी तीर्थंकर वही हो सकता है जो तीर्थंकर होने के योग्य तीर्थंकरनाम कर्म को अर्जित करता है ।

१–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय रूप से घातिकर्म चार प्रकार के हैं ।

कोई भी जीव क्यों न हो यदि अरिहन्तादि बीस पद में से एक, दो, या समस्त की आराधना करके पुण्योपार्जन करे, तो वह तीर्थंकरनाम कर्म बांधकर तीर्थंकर हो सकता है । और जो तीर्थंकरनाम रूप शुभ कर्म को भोगता है उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता। अनेक तीर्थंकर की अपेक्षा से ईश्वर अनादि है और यदि एकही तीर्थंकर की अपेक्षा ली जाय तो ईश्वर सादि है । समस्त तीर्थंकरों का उपदेश समानही होता है इसलिए किसी के शासन में कुछ भी भेद नहीं रहता । देहावस्था में जो उपकार वे जगत् पर करते हैं उसको लेकरके उनकी आज्ञा की आराधना–मन, वचन, काया से हम लोग अपना कल्याण समझकर करते हैं और उनकी आज्ञा के विना समस्त क्रिया को भी व्यर्थ ही समझते हैं। जिस तरह एक अङ्क के विना समस्त विन्दु (शून्य) व्यर्थ रहता है उसी तरह आज्ञा के विना धर्मकृत्य से यथोक्त फल नहीं मिलता; और उनकी आज्ञा का स्वरूप धर्माधिकार में आगे चल करके दिखलाया जायगा ।

अब तीर्थङ्कर और सामान्य केवली के मध्य में जो अन्तर है उसके समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है--यद्यपि तीर्थंकर और सामान्य केवली में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यादि में तो कुछ भेद नहीं है किन्तु तीर्थंकर

२–अरिहन्तसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ ७ ॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ ८ ॥
अपुव्वनाणगहणे सुअभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ९ ॥
(आवश्यकनिर्युक्ति)

वे ही कहे जाते हैं कि जिन्होंने पूर्वोक्त बीस स्थानों की आराधना करके पुण्यविशेष को अर्जित किया है, जिससे ३४ अतिशय और ३५ वाणी के गुण उनमें होते हैं; और वह वाणी श्रद्धावन्त जीवों के पापकर्म के नाश करने में खड्गरूप है। तत्त्व का प्रकाश केवल ज्ञान के बाद तीर्थङ्कर करते हैं इसलिये उनके आप्तत्व में कोई भी विरोध नहीं आता। यद्यपि जन्म होने के समय समस्त अर्हन् देवों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञानरूपी तीन ज्ञान होते हैं और इन ज्ञानों से कितने ही पदार्थों को वे जानते हैं, किन्तु समय का, तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, और सूक्ष्मतमादि भावों का, केवलज्ञान के विना प्रत्यक्ष नहीं होता है; इसीलिये आत्मा की वास्तविक ऋद्धि केवल-ज्ञान और केवलदर्शन के विना नहीं होती है। उस ऋद्धि को प्रकट करने के लिये अर्हन् देव समभावपूर्वक सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र और तपरूप समाधि का सेवन करते हैं; तथा घातिकर्मों के नाश करने के लिये निर्जल उपवासा-दि तथा अनेक प्रकार के उपसर्ग, परीषहों का सहन करते हैं। इस विषय में जिनको सविस्तृत वृत्तान्त देखने की अभिलाषा हो, वे हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र को आद्यन्त देखलें।

—:०:—

अब गुरुतत्त्व के विवेचन करने की भूमिका ग्रहण करता हूँ–

जो भिक्षामात्र से वृत्ति करनेवाले, सामायिक व्रत में हमेशा रहकर अपने और दूसरों के हितार्थ धर्म का उपदेश करते हुए निरन्तर पृथ्वीपर अन्य जीवों के क्लेश को बचा करके विचरते हैं और धीर होकर महाव्रतों को धारण करते

हैं वेही पुरुष जैनधर्म में गुरु कहे जाते हैं। अथवा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग, (निर्ममत्व) रूप पाँचो महाव्रतों का मन, वचन, काया से स्वयं पालन करने वाला, और दूसरों को कराने वाला, तथा अन्य करनेवाले की स्तुति करनेवालाही गुरु कहा जाता है। यहाँ पर पांच महाव्रतों में जो मुख्य अहिंसा रक्खी गई है उसका यही तात्पर्य है कि अहिंसा देवी के मन्दिर की सर्वथा रक्षा करने के लिये ही बाकी चार महाव्रतरूपी दीवारें हैं।

आत्मा के नाश करदेने ही को हिंसा नही कहते बल्कि अन्य को किसी प्रकार से भी दुःख पहुँचाना हिंसा है। यद्यपि आत्मा का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सर्वदा अक्षय होने से नाश नहीं हो सकता तथापि शरीर से प्राणों के वियोग होने ही से हिंसा मानी जाती है। उन प्राणों के मूलभूत इन्द्रिय, शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप से चारभेद हैं। जैसे २ पुण्य बढ़ता जाता है वैसे २ जीवों की पदवी उच्च होती जाती है। याने एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुरूप चार प्राण होते हैं; और द्वीन्द्रिय जीव के रसनेन्द्रिय, और वचनबल बढ़कर छे प्राण

१–महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥ ८॥
तथा– (योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश)
निव्वाणसाहए जोए जह्मा साहन्ति साहुणो।
समा य सव्वभूएसु तह्मा ते भावसाहुणो॥ २४॥
(आवश्यकनिर्युक्ति)

२–सूत्रकृताङ्ग की टीका में लिखा है कि—
पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा॥ १॥

होते हैं; तथा त्रीन्द्रिय जीवों के घ्राणेन्द्रिय अधिक होने से सात प्राण कहे गये हैं। वैसेही चतुरिन्द्रिय जीवों के चक्षुरिन्द्रिय बढ़जाने से आठ प्राण माने जाते हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीव के गर्भज और संमूर्छिम दो मूल भेद हैं। उनमें जो गर्भाशय (जरायु) से जन्म लेते हैं वे गर्भज कहे जाते हैं, और स्वयं, याने जो विना माता पिता से उत्पन्न होते हैं, वे संमूर्च्छिम जीव कहलाते हैं। जैसे मेंढक, मछली, कछुए आदि माता पिता से, और स्वयं भी उत्पन्न होते हैं। किन्तु स्वयं उत्पन्न होनेवालों के मन नहीं होता; इसलिये उनके नव ही प्राण माने गये हैं; और जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं उनके दश प्राण होते हैं।

यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि मन के विना उन जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति कैसे हो सकती है ?। इसका उत्तर यही है कि समस्त जीवों की आहारचेष्टा, भयचेष्टा, मैथुनचेष्टा और परिग्रहचेष्टारूप से चारही चेष्टा (संज्ञा) मानी गई हैं और वे चेष्टाएँ एकेन्द्रिय जीवों को भी होती हैं इसीसे वे आहारादि का ग्रहण करलेते हैं।

प्राण पुद्गलरूप है और उसके नाश करने से हिंसा होती है; क्योंकि उसके नाश में जीव को दुःख उत्पन्न होता है, और अन्य प्राणी को रागद्वेष से दुःख पहुँचाना ही हिंसा है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं। इसीसे तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है कि "प्रमादात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"।

इसी हिंसा को त्याग करने के लिये भव्य जीव गृहादि को छोड़कर साधु होजाते हैं और अहिंसा व्रत की रक्षा करने के लिये कदापि मिथ्या नहीं बोलते; क्योंकि झूठ बोलने से मनुष्य को दुःख उत्पन्न होता है। दूसरा उनका यह नियम है कि किसी वस्तु को विना पूछे वे ग्रहण नहीं करते; क्योंकि

प्राणियों को धन, प्राणतुल्य है और उसका लेना मानों उनके प्राण का ही लेना है। उसीतरह ब्रह्मचर्य का पालन भी अहिंसा के लिये ही करते हैं क्योंकि अर्हनदेव ने केवलज्ञान-द्वारा स्त्री के 'गुह्यस्थान' में द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों तक की उत्पत्ति दिखलाई है। इस बात को वात्स्यायन कामशास्त्रकार और आजकल के डाक्टरों ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के न पालने से और भी अनेक दोष उत्पन्न होते हैं--जैसे किसी की स्त्री के साथ व्यभिचार होने से उसके संबन्धियों को जो दुःख पहुँचता है वह भी हिंसाही हुई। किन्तु गृहस्थ लोग विवाहित होकर जो संसार का सेवन करते हैं वे एकांश में ब्रह्मचारी गिने जाते हैं: क्योंकि स्वदारमात्र में संतुष्ट होने से उनका वैसा निन्दनीय कर्म नहीं है: लेकिन फिरभी पूर्वोक्त जीवों की विराधना (हिंसा) तो अवश्य ही होती है। इस लिये ही वे लोग सर्वथा ब्रह्मचर्यपालनेवाले मुनिवरों की अति संमान पूर्वक सेवा पूजा करते रहते हैं।

उसी रीति से परिग्रह भी पाप का मूल प्रत्यक्ष सिद्धही है, क्योंकि उससे जो हिंसा होती है वह स्पष्ट ही मालूम पड़ती है।

इन पञ्च महाव्रतों के पालन के लियेही साधु लोग गृहस्थों के व्यवहार से विपरीत रहते हैं, और वेष भी गृहस्थों के वेष से भिन्न रखते हैं। इसलिये जैन साधु लोग गाड़ी, इक्का, रेल वगैरह किसी वाहन पर नहीं सवार होते, और धातु के वर्तन, छाता, जूता वगैरह को भी कदापि ग्रहण नहीं करते। अर्थात् गृहस्थों के भूषणों को साधु लोग दूषण ही मानते हैं। उसीतरह और भी दशप्रकार के यतिधर्मों को बड़े यत्न से

१–प्राहुर्भागवतास्तत्र व्रतोपव्रतपञ्चकम्।
यमांश्च नियमान् पाशुपता धर्मान् दशाभ्यधुः ॥ १ ॥

पालन करते हैं । उन दश धर्मों का समस्त धर्मवेत्ताओं ने अपनी २ बुद्ध्यनुसार आदर किया है। क्योंकि पञ्चमहाव्रत को धारणकरनेवाला साधु यदि धीर होगा तभी अपने नियमों का निर्वाह कर सकेगा, अत एव साधु के लक्षण में धीर होना भी कहा गया है । इसी तात्पर्य से किसी कवि ने कहा है कि--"धीरस्यापि शिरश्छेदे वीरत्वं नैव मुञ्चति" अर्थात् शिरकटजाने पर भी धीरपुरुष अपनी वीरता को नहीं छोड़ता; इसलिये साधुओं को धीर होना चाहिये; क्योंकि धीर पुरुष ही धर्म और कर्म दोनों में विजय लाभ करसकता है। लेकिन खेद की बात है कि आजकल संसार के काम में आलसीही पुरुष प्रायः साधु का वेष लेते हैं, अत एव वे केवल धर्म के कलङ्कभूतही हैं; क्योंकि साधु लोग, जो जगत् के आधार भूत हैं, उनमें कैसी शक्ति और भक्ति होनी चाहिये,

अहिंसा सत्यवचनमस्तैन्यं चाप्यकल्पना ।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो ह्यार्जवं शौचमेव च ॥ २ ॥
सन्तोषो गुरुशुश्रूषा इत्येते दश कीर्तिताः ।
निगद्यन्ते यमाः साङ्ख्यैरपि व्यासानुसारिभिः ॥ ३ ॥
अहिंसा सत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यं तुरीयकम् ।
पञ्चमो व्यवहारश्चेत्येते पञ्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः ॥ ५ ॥
बौद्धैः कुशलधर्माश्च दशेष्यन्ते यदुच्यते ।
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम् ॥ ६ ॥
संभिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम् ।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ ७ ॥
ब्रह्मादिपदवाच्यानि तान्याहुर्वैदिकादयः ।
अतः सर्वैकवाक्यत्वाद् धर्मशास्त्रमदोऽर्थकम् ॥ ८ ॥

यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। इसीलिये आजकल साधु का नाम सुनते ही नवयुवक लोग मुह मोड़लेते हैं; तथा कितने ही लोग साधुओं को दुनियां में दारिद्र्य बढ़ाने-का कारण समझते हैं। लेकिन महाकवियों ने दुनियां के आधार-भूत तीन महा पुरुषों में साधु को गिना है; बल्कि अन्य पुरुषों को अपनी माता के यौवन नाश करने में कुठार ही माना है। क्योंकि किसी कवि ने कहा है कि—

"जननी ! जण, तो भक्त जण, काँ दाता काँ शूर।
नहिं तो रहिजे वाँझणी मत गमावे नूर ॥"

देखिये ! इन तीनों में भी भक्तपुरुष को ही पहिले स्थान दिया है। इस विषय में शास्त्रकार भी संमत हैं, क्योंकि महावीरदेव, मङ्खलीगोशाल, पुराणकाश्यप, अजितकेशकम्बल, ककुद्कात्यायन, संजयवेलाष्टपुत्र, चिलातीपुत्र, कपिल, बुद्ध, पतञ्जलि और भर्तृहरि वगैरह संसार के त्याग करने से ही महात्मा हुए हैं, इसलिये पहिले त्याग की ही श्रेष्ठता बतलाई गई है और त्याग भी धीर लोगों का ही अलङ्कार है।

साधु को भिक्षामात्र से जीवन बतलाने का कारण यह है कि महाव्रत को धारणकरनेवाला धीर होने पर भी यदि आहार बनाने का आरम्भ समारम्भवाला होगा तो महाव्रत का पालक और धीर होना व्यर्थ है। क्योंकि आहार की पचन, पाचनरूप क्रिया करनेवाला पुरुष अहिंसा धर्म की रक्षा नहीं कर सकता, बल्कि वह महा उपाधिवाला गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि भिक्षामात्र से जीवन करना साधु के लिये महा गौरव है। किन्तु संसार में भिक्षावृत्ति को आजकल तीन पुरुष करते हैं—याने एक तो निरुत्साही और लोभी होने से भिक्षा को मांगता है, दूसरा दरिद्र होने से धर्म के नाम से भिक्षा मांगनेवाला है, और तीसरे वे महानुभाव

हैं, जो स्वयं पचनरूप पाप को न करके दूसरे को भी अपने लिये करने की आज्ञा नहीं देते; बल्कि आत्मकल्याण के लिये ही रातदिन शुभ ध्यान से भावितात्मा रहते हैं । इसीलिये पापभीरु साधु को तो निर्दोष भिक्षा भूषण ही है लेकिन अपने हाथ से पचन पाचनादि क्रिया करनेवाले, संग्रही पुरुषों को भिक्षा लेने का अधिकार ही नहीं है । वस्तुतः तो शरीर को धर्म का साधन समझकर भोजन उसको किराये की तरह दिया जाता है, इसलिये उसमें दूसरी कोई अभिलाषा नहीं है; क्योंकि भिक्षा (मधुकरी) से प्राप्त आहार स्वादिष्ट और यथेच्छ नहीं मिलता, जैसा कि स्वयं बनाने या निमन्त्रण में मिलता है । अत एव केवल किसीतरह उदर को भरलेनेवाले ही मुनि वस्तुतः भिक्षा के अधिकारी हैं; बाकी के भिक्षा मांगनेवाले देश को वास्तविक में दरिद्र करनेवाले हैं । इसीलिये आजकल साधुओं पर लोग विशेष आक्षेप करते हैं किन्तु खेद की बात है कि उनके साथ में शुद्ध सच्चे साधुओं का भी तिरस्कार होता है ।

शास्त्रकारों ने साधु को सामायिकस्थ भी रागद्वेष के अभाव होने से ही कहा है; क्योंकि रागद्वेष के अभाव विना साधु में साधुधर्म ठीक नहीं माना जाता । तथा साधु को धर्मोपदेशक कहने से साधु में गुरुत्व ठीक २ सूचित होता है; क्योंकि धर्मोपदेश के विना पत्र पुष्प की तरह साधु समझा जाता है, जो स्वयं तरने पर भी दूसरे को नहीं तार सकता; किन्तु जो धर्म के उपदेश देने की शक्ति-धारण करता है वह तो नौका के समान है, याने स्वयं पार जाता हुआ अन्य को भी लेजाता है । लेकिन कितने ही मुनि

१ निर्जितमदमदनानां मनोवाक्कायविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः स्यात् सुविहितानाम् ॥ १ ॥

का नाम धारण करने पर भी मिथ्या आडम्बर बढ़ाकर पत्थर की नौका के समान स्वयं डूबते हुए दूसरों को भी डुबाते हैं। इसलिये वैसों का सङ्ग कल्याणाभिलाषी जीवों को कदापि नहीं करना चाहिये। सत्यसाधु के लक्षण श्रीभद्रबाहु स्वामी ने जो दिखलाये हैं उनको पाठक लोग नीचे नोट में देखें ।

यहां तक देव और गुरुरूप–नींव तथा दीवाल की व्याख्या संक्षेप से की गई, अब उनदोंनो के बल से स्थित धर्मरूप धरन की भी व्याख्या करने का प्रारम्भ करता हूँ–

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अथवा–"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः" किंवा–"दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते" इत्यादि धर्म का लक्षण सामान्य रीति से तो यही है, किन्तु उसके विशेषस्वरूप की विवेचना आगे की जाती है।

यद्यपि धर्म का न तो कोई रूप है और न कोई रङ्ग है तथापि केवल शुभप्रवृत्ति को तो द्रव्यधर्म कहते हैं और आत्मशुद्धि को भावधर्म मानते हैं। इन दोनों में द्रव्यधर्म

१–ये लुब्धचित्ता विषयादिभोगे बहिर्विरागा हृदि बद्धरागाः।
ते दाम्भिका वेषभृतश्च धूर्ता मनांसि लोकस्य तु रञ्जयन्ति ॥
(हृदयप्रदीपषट्त्रिंशिका)

२–जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावइ य सममणइ तेन सो समणो ॥१५९॥
नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो एसो अन्नोवि पज्जाओ ॥ १६० ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो उ माणावमाणेसु ॥ १६१ ॥
(दशवैकालिक निर्युक्ति)

सांसारिक सुख का कारण प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु पुण्यरूप होने के कारण, वह भी परम्परा से मोक्ष का भी कारण दिखलाया गया है।

वस्तुगत्या धर्म में भेद प्रभेद नहीं हैं किन्तु धर्मसाधन के कारण भिन्न भिन्न होने से धर्म के भी भेद माने गये हैं। जैसे श्रुत (शास्त्र) के आराधन को श्रुतधर्म, और चारित्र के आराधन को चारित्रधर्म कहते हैं। लेकिन श्रुतधर्म और चारित्र धर्म के बीच में चारित्रधर्म केवल स्वोपकारी ही है, और श्रुतधर्म स्वपरोपकारी है, इसीसे चारित्रधर्म से प्रायः श्रुतधर्म अधिक बलवान है। तथा गृहस्थावस्था में रहकर धर्म की आराधना करने को गृहस्थधर्म कहते हैं और साधु की अवस्था में रहकर जो धर्म की आराधना की जाती है वह साधुधर्म कहलाता है। तथा त्यागकरनेलायक वस्तु का त्याग करना हेयधर्म, और ग्राह्य वस्तुओं के स्वीकार करने को उपादेयधर्म समझना चाहिये। जैसे जीव अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्षरूप से नव तत्त्व जैन शास्त्र में माने हुए हैं; उनमें पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये सर्वथा हेय हैं; किन्तु किसीके अभिप्राय से पुण्य को भी, परम्परा से मोक्ष का कारण होने से, उपादेय माना है। इसलिये उस पक्ष में तीनही हेय और चार उपादेय हैं।

तथा कितनी ही वस्तुओं के ज्ञानमात्र को ज्ञेयधर्म कहते हैं। जैसे जीव, अजीव ये दो पदार्थ ज्ञेय हैं; क्योंकि उनके ज्ञान विना शुद्धप्रवृत्ति होना ही कठिन है। और विना शुद्ध प्रवृत्ति

१—धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः कामिनां सर्वकामदः।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः॥ २॥
(धर्मबिन्दु)

के निवृत्तिरूप भावधर्म की प्राप्ति होना भी दुर्लभ है। इसी तरह दान से उत्पन्न हुए पुण्यबन्ध को दानधर्म कहते हैं, जो अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, उचितदान और कीर्तिदानरूप से पांच प्रकार का है। इन पांचों में से प्रथम और द्वितीय दान तो मोक्ष के, और बाकी तीन दान सांसारिक सुख के कारण हैं। इसीरीति से ब्रह्मचर्यरक्षणरूप शीलधर्म के पालन करने से उभय लोक में अखण्ड कीर्तिलता का विस्तार होता है। एवं स्वर्ग और मोक्ष के प्राप्त्यर्थ, तथा कर्मरूप महारोग को नाश करने के लिये बारह प्रकार का तपोधर्म परम औषध है।

अनित्यादि बारह भावनाओं के द्वारा शुद्ध मनोवृत्ति होने को भावधर्म कहते हैं। जैसे राजा भरत ने भावधर्म के बल से (आत्मा के आवरणरूप) ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान की प्राप्ति की है। इसीलिये सब जीवों को भावधर्म की आराधना विशेषरूप से करना उचित है।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परि-

१–अनशन (उपवास), ऊनोदरता (आहारादि और क्रोधादि को यथाशक्य न्यूनकरना), वृत्तिसंक्षेप (इच्छानिरोध), रसत्याग (घृतादि विकृतित्याग), कायक्लेश (शिरोलुञ्चन शीतादिसहन), संलीनता (इन्द्रियादिकों को अशुभप्रवृत्ति से हटाना) रूप से बाह्य तप छे प्रकार के हैं। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (आचार्य संघादि की आहारादि से सेवा), स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग (यथाशक्ति आहार, शरीरादि का त्याग) रूप से आभ्यन्तर भी तप छे प्रकार के हैं।

२–१ अनित्यभावना २ अशरणभावना ३ भवभावना ४ एकत्वभावना ५ अन्यत्वभावना ६ अशौचभावना ७ आस्रवभावना ८ संवरभावना ९ कर्मनिर्जराभावना १० धर्मभावना ११ लोकस्वरूपभावना १२ बोधिबीजभावना रूप से बारह भावनाएँ हैं।

ग्रहरूप पांचों पापों के कारणों को रोकना और हटाना भी पांच प्रकार से धर्म गिने गये हैं ॥

इस प्रकार धर्म के कारणों को धर्म ही (उपचार से) मानकर धर्म के अनेक भेद माने गये हैं; किन्तु इन धर्मों का ज्ञान, स्याद्वाद के ज्ञानाधीनही है, इसलिये स्याद्वाद याने अनेकान्तवाद का स्वरूप प्रदर्शन कराया जाता है–

एक वस्तु में सापेक्षरीति से नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्वादि अनन्तधर्मों को मानना ही स्याद्वाद का स्वरूप है।

स्याद्वाद एक ऐसी चीज है कि जिसको सभी दर्शनकारों ने किसी न किसी रूप से आश्रयण किया है और जैन दर्शन का तो अनेकान्तवाद दूसरा नाम ही है; क्योंकि जैसे सत्यमार्ग के विना इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती, वैसेही स्याद्वाद की कृपाविना पदार्थसार्थ का सच्चा स्वरूपही दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसीसे वाचकमुख्य श्रीउमास्वाति महाराज ने स्याद्वादनरेन्द्र की आज्ञा को अपने अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित करके द्रव्य का लक्षण इस तरह किया है-- "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"। अब यह लक्षण, प्रथम आस्तिक मात्रों के माने हुए आत्मापर ही स्याद्वाद की रीति से इस तरह घटाया जासकता है--याने आत्मा यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य है, तथापि पर्यायार्थिक नय का आश्रयण करके अनित्य मानना पड़ता है। जैसे संसारस्थ जीव, पुण्य की अधिकता के समय, जब मनुष्य योनि को छोड़कर देवगति को प्राप्त होता है तो उस समय देवगति में उत्पाद, और मनुष्यपर्याय का व्यय (नाश) हुआ; किन्तु दोनों गति में चेतनधर्म के अनुगत होने से चेतन तो ध्रौव्य (स्थायी) ही रहा। अब यदि एकान्त (केवल) नित्य माना जाय तो उत्पन्न किया हुआ पुण्यपुञ्ज, पुनः जन्ममरणाभाव से व्यर्थ ही होजायगा,

और एकान्त (केवल) अनित्य ही माना जाय तो पाप करनेवाला अन्य होगा और उसका फल भोगनेवाला अन्यही होगा। अत एव आत्मा में कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् अनित्यत्व का स्वीकार अवश्य करना होगा। इसी तरह जड़पदार्थ में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप से तीनों दशाएँ घटसकती हैं। जैसे मृत्पिण्ड से जिस समय स्थासक, कोश, कुशूल आदि बनकर घट बनता है, उस समय मृत्पिण्ड का नाश और घट का उत्पाद होता है, किन्तु मृद्द्रव्य, दोनों में अनुगत होने से ध्रौव्य ही रहता है। लेकिन जैनेतरदर्शनकारों ने आकाश को एकान्त नित्य, और दीप को एकान्त अनित्य माना है। परन्तु वस्तुतः उसमें भी पूर्वोक्त लक्षण ठीक ठीक घटता है। क्योंकि घटाकाश की उत्पत्ति के समय पटाकाश का नाश, और घटाकाश का उत्पाद होना माना जाता है, किन्तु दोनों में आकाशत्व अनुगत ध्रौव्यही है। और उसीतरह दीप में पूर्व कलिका का नाश, और उत्तर कलिका का उत्पाद होता है, किन्तु 'यह दीपकलिका वही है' यह ज्ञान तो तेजोद्रव्यरूप पुद्गल ही अनुगत कराते हैं, इसलिये तेजोरूप पुद्गल ध्रौव्य ही हैं। क्योंकि दीपपर्याय के नाश में पुद्गलत्व का नाश नहीं होता, किन्तु केवल तेजोद्रव्य-पर्याय को छोड़कर अन्धकारपर्याय को स्वीकार कर लेता है। और जैनशास्त्रकारों ने बड़ी युक्तिपूर्वक अन्धकार को भी द्रव्य स्वीकार किया है।

नैयायिकों ने भी अगत्या आकाश में संयोग विभाग मानकर, नित्यत्वानित्यत्व स्पष्ट किया है। क्योंकि ज्ञानादि (गुण) की तरह संयोग विभाग भी नित्य न होने से अनित्य ही हैं। और जिसके गुण अनित्य होते हैं वह पदार्थ भी यदि कथञ्चित् अनित्य माना जाय तो कोई हानि नहीं देख पड़ती।

आजकल स्याद्वाद का सच्चा स्वरूप प्रायः बहुत लोग

नहीं जानते हैं इसलिये यदि उसकी कुछ अधिक व्याख्या की जाय तो मेरी समझ में अरुचिकर नहीं गिनी जायगी।

महाशयो! स्याद्वाद से यह तात्पर्य नहीं है कि शीतत्व के समय उष्णत्व भी हो किन्तु सापेक्षभाव से एक वस्तु में अनन्त धर्मों के समावेश होने का संभव माना गया है। क्योंकि इस स्याद्वाद के रचयिता वे सर्वज्ञ अर्हन् देव थे, जिनका स्वरूप संक्षेप रीति से पहिले ही कहा जा चुका है। इसलिये उनके कहे हुए एक भी पदार्थ में विसंवाद होने का कदापि संभव ही नहीं है।

इसी विषय में काशीनिवासी महामहोपाध्याय श्रीराममिश्रशास्त्री जी ने भी थोड़े ही शब्दों से अपने सुजनसंमेलन नामक व्याख्यान में कहा है कि—

☞ "अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सब को मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिये, विष्णुपुराण में लिखा है--

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम !
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्योद्भवाय च।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ?।

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इसका अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है, जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण होजाती है, और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुख की कारण हो जाती है। सज्जनों! आपने जाना होगा कि यहाँ पर स्पष्टही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनों! एक बात पर और भी ध्यान देना, जो—'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत्' कहते हैं उनको भी विचार दृष्टि से देखा जाय तो अनेका-

न्तवाद मानने में उज्र नहीं है क्योंकि जब वस्तु सत् भी नहीं कही जाती और असत् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् होकर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु, न वह सत् कही जा सकती है और न तो असत् कही जा सकती है, तो अब अनेकान्तता मानना सिद्ध होगया।

सज्जनो ! नैयायिक तम को तेजोऽभावस्वरूप कहते हैं और मीमांसक और वेदान्तिक बड़ी आरभटी से उसको खण्डन करके उसे भावस्वरूप कहते हैं, तो देखने की बात है कि आज तक इसका कोई फैसला नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है, तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है, तब तो दोकी लड़ाई में तीसरे की पौबारा है, याने जैन सिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं, और किसी रीति पर अभावस्वरूप भी कह सकते हैं। इसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधारस्वरूप बोलते हैं तो बस अब कहनाही क्या ? अनेकान्तवाद ने पद पाया। इसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई वादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भावस्वरूप कहते हैं और कोई शून्यस्वरूप; तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध होगया" ... ।

महाशय ! स्याद्वाद एक ऐसा अभेद्य किला है जिसका आशय समस्त दर्शनकारों ने लिया है। देखिये ! साङ्ख्यवादी ने एक धर्मि में विरुद्ध धर्म स्वरूप, अनेक अवस्थाएँ मानी हैं-जैसे प्रकृति में प्रसाद, सन्तोष, दैन्यादि अनेक विरुद्ध धर्म स्वीकार किये हैं। उसी रीति से नैयायिकों ने भी एक पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व विरुद्ध धर्म स्वीकार किये हैं। और

बौद्ध लोगों ने भी मेचक ज्ञान में नील पीतादि चित्र ज्ञान भी माने हैं। तथा मीमांसाकार ने भी प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय का ज्ञान, एक ही माना है। इस तरह तत्तत्स्थल पर स्याद्वाद सार्वभौम की कृपा से समस्त दर्शनकार अपने २ मन्तव्य की रक्षा कर सकते हैं। इसका दृष्टान्त यह है कि नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न, सामान्य और विशेष पदार्थ को माना है, किन्तु जैनशास्त्रकार उनदोनों पदार्थों को स्याद्वाद की आज्ञानुसार वस्तु के धर्म ही मानते हैं। जैसे एक घट की पृथुबुध्नाकार आकृति मालूम होने से तदाकार अन्य घटों का ज्ञान भी (सामान्यरूप से) होजाता है। और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद होने से भेदज्ञान (विशेषज्ञान) भी होता है। क्योंकि एकाकार प्रतीति करानाही सामान्य (जाति) का धर्म है, और भेद का बोधक ही विशेष है। पूर्वोक्त प्रकार से (सामान्यरूप से) एकाकार प्रतीति और भेद भी होसकता है। इसरीति से सामान्य और विशेष को भिन्न पदार्थ मानना उचित नहीं है। यदि कदाचित् सामान्यविशेपात्मक वस्तुधर्म को ही पदार्थ मानने का साहस करें, तो वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से अनन्त पदार्थ हो जायँगे, किन्तु यह बात नैयायिकों को संमत नहीं है। और वस्तुधर्म भी, एकान्त (केवल) भेद या एकान्त (केवल) अभेद मानने में सिद्ध नहीं होसकते। क्योंकि वस्तु का धर्म विशेषणरूप है और वस्तु विशेष्य है। किन्तु एकान्त भेद पक्ष मानने में विशेषणविशेष्यभाव सिद्ध होनाही दुर्लभ है। यदि होता हो तो करभ और रासभ के विशेषणविशेष्यभाव मानने में क्या हानि है?। इसीतरह एकान्त अभेद पक्ष मानने में भी विशेषणविशेष्यभाव संमत नहीं है। क्योंकि अभेद पक्ष में कौन धर्मी, और कौन धर्म है, यह विवेचन ही नहीं होसकता। अत एव वस्तुमात्र को स्याद्वादनरेन्द्र-मुद्रामुद्रित

होने से किसी प्रकार से भिन्न और किसी प्रकार से अभिन्न मानना ही उचित है'।

१–वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्वरूप ही सर्ववादिसंमत है किन्तु वह कथञ्चित् नित्यानित्य पक्ष को स्वीकार किये विना ठीक नहीं घट सकता। क्योंकि एकान्त [केवल] नित्य पक्ष माननेवाले के मत में नित्य का लक्षण 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप' है। और एकान्त अनित्य पक्ष के माननेवालों के मत में 'यत् सत् तत् क्षणिकं' यह लक्षण है। तब स्याद्वाद की विशालदृष्टिद्वारा सापेक्ष रीति से दोनों पक्ष ठीक देखे जाते हैं। क्योंकि जैनदर्शनकार नित्य का लक्षण 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' कहते हैं; और यही लक्षण ठीक २ घट सकता है–जैसे आत्मा नित्य है, क्योंकि किसीके मत में आत्मा अनित्य नहीं माना हुआ है और यदि कोई एकान्त अनित्य माने, तो वह नास्तिक कहा जायगा। तो आत्मा जब नित्य हुआ तब एकान्त नित्य पदार्थ माननेवाले के मत मे उसकी उत्पत्ति और विनाश (एकान्तनित्यलक्षणानुसार) नहीं बनसकता। तो फिर जगत् विचित्र स्वभाववाला भी कैसे होसकेगा ?। और एकान्त अनित्य माननेवाले के मत में भी क्षणिक एक वस्तु में–उत्पाद और विनाश, नहीं सिद्ध होसकते। अर्थात् जब वस्तु ही क्षणिक है, तो उसका जिस समय उत्पाद होता है, उसी समय विनाश नहीं हो सकता। यदि स्वीकार भी किया जाय तो वस्तुतः क्रम से होने वाले उत्पाद और विनाश का ज्ञान प्रमाता को स्पष्ट नहीं होसकेगा। अत एव 'तद्भावाव्ययम' यहीं नित्य का लक्षण ठीक है। अर्थात् जब आत्मा मनुष्य के पर्याय को छोड़कर देवतापर्याय को प्राप्त होता है तब उसका किसी अंश में उत्पाद और किसी अंश में विनाश होता है, किन्तु 'चेतन द्रव्यरूप' तद्भाव का कदापि नाश नहीं होता। और मूलस्वभाव का नाश न होना ही नित्यता है। जैसे मृत्तिका के पर्याय हजारों रहें और उनमें उत्पाद विनाश भी होता रहे, किन्तु मृत्तिका का अस्तित्व तो कदापि नष्ट नहीं होसकता।

जिस अर्हन् देव परमात्मा ने अपने केवलज्ञानद्वारा स्याद्वाद का स्वरूप प्रत्यक्ष करके उसको संसार में प्रकट करदिया, उन्हीं ने परमाणुवाद को भी केवलज्ञान से प्रत्यक्ष करके सिद्धान्तों में स्पष्टरूप से दिखलाया है। इसलिये जैनशास्त्रानुसार परमाणु की व्याख्या को यदि तत्त्ववेत्ता (समभाव दृष्टि से) देखेगा, तो डॉक्टर याकोबी महाशय के वचनों को जरूर स्वीकार करेगा।

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष को जैन शास्त्रकारों ने इस तरह माना है कि जो इन्द्रिय और मन आदि की सहायता के विनाही साक्षात् आत्मा को ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। किन्तु इतर दर्शनकारों के मत से घट पटादि का जो इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होता है, उसको तो जैनशास्त्रकार परोक्ष मानते हैं। अथवा बालजीवों को समझाने के लिये उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

वैसेही वस्तु का 'अर्थक्रियाकारित्व' लक्षण भी एकान्त नित्य पक्ष में नहीं घटता है। क्योंकि नित्यपदार्थ से उत्पन्न हुआ अर्थक्रियाकारित्व भी नित्य हो, यह अनुभव विरुद्ध है। इसी रीति से अनित्यपदार्थ से उत्पन्न हुआ कार्य अनित्य ही हो, यह भी ठीक नहीं हो सकता है; क्योंकि तन्तु (डोरे) से उत्पन्न हुए पटात्मक कार्य से शीतनिवारणरूप अर्थक्रिया को, हमलोग न तो यावत्काल (सर्वदा) और न केवल क्षण-मात्र ही अनुभव करते हैं किन्तु चिर (बहुत) काल तक ही अनुभव करते हैं; अत एव कथञ्चिद् नित्य और कथञ्चित् अनित्य पक्ष ही सर्वक्रिया का साधक है। इस विषय में श्रीहरिभद्रसूरिकृत अनेकान्तजयपताका को आद्यन्त देखने की सूचना मैं आप लोगों को देता हूं। उसमें पहिले स्याद्वाद का खण्डन करके पीछे निर्भय रीति से विशाल दृष्टि-पूर्वक उसका प्रतिपादन (मण्डन) किया हुआ है। इसलिये संपूर्ण ही देखना उचित है।

१ Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol, ii; pp. 199 sq.

इतना धर्म, और उसके कारण (स्याद्वाद) का स्वरूप दिखलाकर अब अपनी पूर्वोक्त प्रतिज्ञानुसार थोड़ासा अर्हन् देव का उपदेश (देशना) भी दिखलाना चाहता हूँ—

अर्हन् देव ने भव्य जीवों के लिये यह उपदेश दिया है कि जो पुरुष इस असार संसार को सार मानता है वह मूर्ख काच को ही हीरा समझता है। और देव, गुरु तथा धर्म का सम्यग् ज्ञान न करने से अपने जन्म को भी व्यर्थ खो देता है। क्योंकि जैसे क्रोधकरनेवाला पुरुष क्रोधी गिना जाता है, वैसे ही लोभी, मानी, मायावी भी अपने दुर्गुण के ही कारण से कलङ्कित होता है। इसलिये सभी जीवों को अठारह पाप स्थान, चार विकथा और पांच प्रमाद तथा पञ्चेन्द्रिय के २३ विषय, एवं ५ मिथ्यात्व को त्याग करना परमावश्यक है। अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरकगति रूप से संसार के चार भेदों में से देव और मनुष्यगति के प्राप्त करने के लिये--शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, दया, भक्ति, दान, शील, सत्य, सन्तोष, क्षमा, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, निर्मायिता, परोपकारता, इन्द्रियनिग्रहता, न्यायप्रवणता, गुणानुरागता, पापभीरुता, सरलता, सनाथता, लज्जालुता, विनयता, विवेकता, सौम्यता और तीर्थसेवादि सामान्य गुणगणों की आवश्यकता है। इसलिये भव्यजीवों को इन सद्गुणों की आराधना अवश्य करना चाहिये। क्यों कि शठता, निर्विवेकता, अनाथता, स्वच्छन्दता, अल्पज्ञता, उन्मत्तता, वाचालता, संग्रहशीलता, दुष्टाचारता, व्यभिचारता, निर्दयता, मृषावादिता, मांसभोजिता, सदा वैरभावना, अन्तःकरण की मलिनता, क्रोध, मान, माया, लोभादि दुर्गुणविशेष के होने से तो नरक और तिर्यञ्च गति का ही जीव भागी होता है। इसका कारण यह है कि सद्गुणों से पुण्यबन्ध होता है और

दुर्गुणों से पापबन्ध होता है। इसलिये देवगति मनुष्यगतिरूप संसार का कारण पुण्य, और तिर्यञ्चगति नरकगतिरूप संसार का कारण पाप है। क्योंकि पुण्य और पाप का कारण, कर्म है और कर्म का कारण, पुण्य पाप है। इसलिये कर्म और पुण्य का अन्योन्य कार्यकारणभाव माना जाता है। उसी तरह संसार और कर्म का अन्वयव्यतिरेक है, याने कर्म की सत्ता में संसार की सत्ता, और कर्म के अभाव में संसार का अभाव है। अथवा कर्म और संसार का भी अन्योन्य कार्यकारणभाव सिद्ध हो सकता है। अर्थात् कर्म से संसार, और संसार से कर्म का उद्भव है। अत एव कर्मनाश करने के लिये जिन भावनाओं का स्वरूप मैं आगे दिखलाता हूँ, उनपर जीवों को विशेष ध्यान देना चाहिये। अर्थात् कोई जीव पाप न करे, या कोई दुःखी न हो, और सब का मोक्ष हो, इस मैत्री भावना पर ध्यान देते हुए, गुणीजनों को देखकर आनन्दित होना, और उनके गुणों पर रागदृष्टि करना, इस प्रमोदभावना से प्रमोदपूर्ण रहना चाहिये। किन्तु दीन, आर्त, भयभीत, और जीवित की याचनाकरनेवाले पर तो यथाशक्ति (उपकाररूप) कारुण्यभावना से सदाही भावितात्मा रहे। और उसीरीति से हिंसादि क्रूर कर्म, देवगुरु की निन्दा, और व्यर्थ आत्मप्रशंसा करनेवाले पुरुष में [उपेक्षाबुद्धिरूप] माध्यस्थभावना रखना उचित है। जो पुरुष इन पूर्वोक्त चार भावनाओं को अपने हृदयादर्श में प्रतिबिम्बित हमेशा रक्खेगा वही वीर प्रभु की आज्ञा को वस्तुतः पालन कर सकेगा।

समय के अल्प होने से जो अनित्यादि बारह भावनाओं का स्वरूप माना गया है वह इस समय नहीं कहा जा सकता, इसलिये उनको योगशास्त्रादि से समझ लेना चाहिये। अब अर्हन् देव की आज्ञानुसार पूर्वोक्त धर्माराधना के प्रकार को ही

थोड़ासा दिखलाकर मैं अपने इस व्याख्यान को समाप्त करना चाहता हूँ।

पहिले गृहस्थों को न्यायसंपन्न-विभवादि ३५ गुणों की प्राप्ति करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये; तब उसके बाद सम्यक्त्वमूलक द्वादश व्रत का अधिकारी होना संभव है। अत एव द्वादश व्रत पालन करने के लिये श्रावक लोग हमेशा षट् कर्म करते रहते हैं। लेकिन श्रावकों को हमेशा यही विचार करना चाहिये कि कब इस असार संसार को त्याग करके मुनियों के वेष से आत्मकल्याण को प्राप्त करूँगा; अथवा कब अनित्य गृहपाश को छोड़कर वास्तविक सुख को प्राप्त होऊँगा।

यदि पूर्वोक्त भावनाएँ अन्तःकरण में दृढ़ हो जावेंगी, तो फिर गार्हस्थ्य को छोड़, साधु होकर स्वपर जीवों का कल्याण कारक अवश्य होगा। तदनन्तर परम्परा से अनन्तसुखमय, निराबाध, अनुपमेय, अक्षय, मुक्ति स्थान को भी प्राप्त होगा।

जैनशास्त्रकारों ने लोक के अग्र भाग में जो मुक्ति का स्थान माना है वह उनके गंभीर आशय को सूचित करता है। क्योंकि जब कर्म के बोझे से जीव मुक्त होता है तभी ऊर्ध्व-गति को प्राप्त होता है। संसार में भी ऐसा देखाजाता है कि जो हलका पदार्थ रहता है वह ऊपर को ही उठता है। यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि उस ऊर्ध्वगतिवाले जीव की बराबर ऊर्ध्वगति होती ही रहनी चाहिये किन्तु उसकी गति में कदापि बाधा नहीं होनी चाहिये। तब तो मुक्ता-वस्था में भी जीव में अनवस्थितिरूप दोष बना ही रहेगा। इसका उत्तर यह है कि जैनशास्त्र के माने हुए धर्मास्तिकाय,

---

१—देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥ १॥

अधर्मास्तिकाय पदार्थ की जहांतक सत्ता है, वहां ही तक तो लोक है और जहां उनकी सत्ता नहीं है वहां अलोक माना गया है। इसलिये धर्मास्तिकाय तो जीव और पुद्गलों की गति में, और अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में सहायक है। किन्तु लोक के आगे उन दोनों के अभाव होने से वहां ही तक जीव जासकता है; क्योंकि फिर आगे जाने का कोई कारण ही नहीं है।

मनुष्यक्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाणही है; और इसी मनुष्यक्षेत्र से कर्ममुक्त होकर जीव सिद्ध होसकता है; अत एव सिद्धक्षेत्र भी उतने ही प्रमाणवाला माना गया है। वहाँ पर कर्ममुक्त जीव की समश्रेणिपूर्वक (सीधी) ही गति होती है, इसलिये जो जीव जिस स्थान से सिद्ध होता है वह उसी स्थान के ऊपर लोकाग्र में स्थित रहता है। यहां पर ऐसी शंका उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है कि एक ही स्थान से भिन्न भिन्न काल में मुक्त होनेवाले अनन्त जीव लोकाग्र के एक ही स्थान में कैसे रह सकते हैं ?; क्योंकि मुक्त जीवों के अरूपी होने से उसमें कुछ बाध ही नहीं है। इसीलिये वहाँ पर द्रव्यप्राण को छोड़कर [केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप] भावप्राण के साथ जीव जाता है, और उस समय उसमें कर्म के अभाव होने से विग्रह [वक्र] गति होने की भी संभावना ही नहीं है।

पड्द्रव्य, नवतत्त्व, सात नय, दो प्रमाण, द्वादश श्रावक के व्रत; काल, स्वभाव, नियति, पुरुषाकार और कर्म, इन पांच कारणों का, तथा वर्णव्यवस्था वगैरह का संक्षिप्त स्वरूप जैनतत्त्व-दिग्दर्शन नामक व्याख्यान में कहा जा चुका है, इसलिये उनका वारंवार कहना मैं उचित नहीं समझता हूँ।

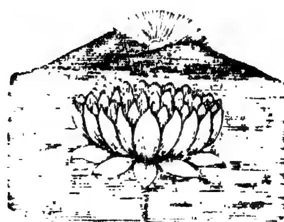
यद्यपि जैनों में अनेक भेद प्रभेद हैं किन्तु पूर्वोक्त मुक्त्यादि

पदार्थ को तो सभी इसी तरह स्वीकार करते हैं; लेकिन जैनेतर दर्शनकारों ने मुक्ति के स्वरूप में जो अपने २ मन के भेद माने हैं, यदि वे भेद भी यहां पर दिखलाये जावें तो महीनों में भी इस व्याख्यान के पूरे होने की सम्भावना नहीं है।

अन्त में मैं यही कहता हूँ कि यद्यपि लोगों की भिन्न भिन्न रुचि होने से यह मेरा आज का व्याख्यान सभी को अच्छा ही मालूम हो, ऐसी मैं स्वप्न में भी संभावना नहीं कर सकता; तथापि मध्यस्थदृष्टि रखनेवाले श्रोताओं को तो अवश्य कुछ न कुछ इससे लाभ ही होगा; यह मुझे पूरा विश्वास है।

बस ! इतना ही कहकर और न्यूनाधिक होने की क्षमा मांगता हुआ इस व्याख्यान को समाप्त करता हूँ।

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्
एक एव भगवन् ! नमोऽस्तु ते ॥१॥



श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला में आजतक छपकर प्रकाशित हुए ग्रन्थों का सूचीपत्र ।

१. **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार**—जैनन्यायशास्त्र में प्रवेश करने के लिये यह एक अपूर्व ग्रन्थ है, इसके कर्ता श्रीवादिदेवसूरि हैं। कि. ०-८-०

२. **हैमलिङ्गानुशासन**—श्रीहेमचन्द्राचार्य ने संस्कृतशब्दों के लिङ्ग ज्ञानार्थ छन्दोबद्ध रचा है । ,, ०-५-०

३. **सिद्धहेमशब्दानुशासन**—लघुवृत्ति और धातुपाठ सहित—संस्कृतव्याकरण संबन्धी ज्ञान कराने के लिये श्रीहेमचन्द्राचार्य ने यह अत्युत्तम सरस और सरल ग्रन्थ बनाया है । ,, २-८-०

४. **गुर्वावली**—मुनिसुन्दरसूरिरचित—इसमें श्रीमहावीरस्वामी से लेकर मुनिसुन्दरसूरि तक तपागच्छाचार्यों का संक्षिप्तवर्णन है ,, ०-८-०

५. **रत्नाकरावतारिका**—(दो परिच्छेद) टिप्पणपञ्जिकासहित-प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार के ऊपर जैनन्याय को सरस बोध कराने के लिये श्रीरत्नप्रभाचार्य ने बनाया है । ,, १-०-०

६. **सिद्धहेमशब्दानुशासन**—मूलमात्र ,, ०-५-०

७. **जैनस्तोत्रसंग्रह**—(१ भाग) इसमें अच्छे२ स्तोत्र हैं ,, ०-६-०

८. **मुद्रितकुमुदचन्द्रप्रकरण**—दिगम्बरकुमुदचन्द्र और श्रीवादिदेवसूरि का शास्त्रार्थ इसमें वर्णित है यह नाटक श्रावक यशश्चन्द्र कृत है । ,, ०-८-०

९. **जैनस्तोत्रसंग्रह**—(द्वितीय भाग) ,, १-०-०

१०. **क्रियारत्नसमुच्चय**—श्रीगुणरत्नसूरिविरचित—इसमें धातुओं के संपूर्ण रूप दिये हैं संस्कृतविद्यार्थियों के लिये परम उपयोगी है २-०-०

११. **श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन सूची**—सूत्रों का अकारादि क्रम से सूचीपत्र । ,, ०-४-०

१२. **कविकल्पद्रुम**—हर्षकुलगणिरचित—धातुओं के अर्थ और अनुबन्धादि छन्दोबन्ध वर्णित हैं । ,, ०-४-०

१३. **संमतितर्काख्यप्रकरण**—(प्रथमखण्ड) श्रीसिद्धसेनदिवाकररचित, और राजगच्छीयश्रीअभयदेवसूरिविनिर्मित 'तत्त्वबोधविधायिनी व्याख्यासहित' जैनदर्शनाविषयों का यह अन्तिम तर्कग्रन्थ है ,, ३-०-०

१४. **श्रीजगद्गुरुकाव्य**–इसमें श्रीपद्मसागरगणि ने श्रीहीरविजयसूरि और अकब्बर बादशाह के संवाद का वर्णन किया है ०-४-०

१५. **श्रीशालिभद्रचरित्र**–(टिप्पणसहित) पत्राकार यह महाकाव्य श्रीपण्डित धर्मकुमार कृत है । ,, १-४-०

१६. **श्रीपर्वकथासंग्रह**–(प्रथम भाग) इसमें ज्ञानपञ्चमी, मौन एकादशी, पौषदशमी, और होली की दो कथाएँ हैं । यह मुनियों के व्याख्यान देने में परमोपयोगी है। ,, ०-४-०

१७. **षड्दर्शनसमुच्चय**–राजशेखरसूरिकृत–इस छोटे से ग्रन्थ में छे दर्शनों का संक्षेप से स्वरूप प्रदर्श कराया गया है। ,, ०-४-०

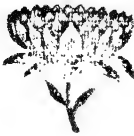
१८. **शीलदूतकाव्य**–चारित्रसुन्दरगणिकृत–इसमें कोशा वेश्या और स्थूलभद्रस्वामी का संवाद है, विशेपता यह है कि मेघदूत का चतुर्थचरण लेकर समस्यापूर्ति की गई है। ,, ०-४-०

१९. **निर्भयभीमव्यायोग**–श्रीरामचन्द्रसूरिकृत–इस ग्रन्थ की प्रस्तावना द्रष्टव्य है । ,, ०-४-०

२०. **श्रीशान्तिनाथचरित्र**–श्रीमुनिभद्रसूरिविरचित–इस महाकाव्य में श्रीशान्तिनाथ के बारह भवों का वर्णन है । और मङ्गलकलश, वत्सराज, देवराज, जिनपालित, जिनरक्षित वगैरह का भी चरित्र प्रसङ्गवश से वर्णित है । यह ग्रन्थ परम दर्शनीय है ,, ३-०-०

२१. **रत्नाकरावतारिका**–रत्नप्रभाचार्यकृत–तृतीय परिच्छेद से अष्टमपरिच्छेद पर्यन्त संपूर्ण छपकर तैयार है ,, १-८-०

अर्हम्



पुरुषार्थदिग्दर्शन



कर्त्ता

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

पाली के श्वेताम्बरश्रीसङ्घ की सहायता से

प्रथम वार छपा ।

PRINTED AND PUBLISHED BY SHAH HARKHCHAND BHURABHAI
AT THE DHARMABHYUDAYA PRESS,
BENARES CITY.

वीरसंवत् २४३८ ।

मूल्य चार आने.

अर्हम्

पुरुषार्थ दिग्दर्शन ।

मुक्तिमार्गप्रणेतारं धर्मदर्शनतत्परम् ।
प्रणम्य श्रीमहावीरं वृद्धिचन्द्रं गुरुं पुनः ॥ १ ॥
पुरुषार्थस्वरूपं यल्लोकानामुपकारकम् ।
तद्वक्ष्ये पुरुषार्थानां दिग्दर्शनमहं लघु ॥ २ ॥

यह बात सबपर विदित है कि समस्त दर्शनकारों ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इन चार प्रकार के पुरुषार्थों को किसी न किसी प्रकारसे स्वीकार किया ही है । और शास्त्रों में लिखा भी है कि–

"अर्थः कामश्च मोक्षश्च प्रवर्त्तन्ते यतस्त्रयः ।
स श्रीधर्मः कथं न स्यात् करणीयः सतां नृणाम्" ॥१॥

अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों का समस्त आस्तिक नरों ने विना संशय स्वीकार किया है, पुरुषार्थ के इन भेदों के अनुसार इस जगत् में छः प्रकार के पुरुष कहे जाते हैं. यद्यपि पुरुषाकार में भेद नहीं है, अर्थात् कान, नाक, आँख, मुँह, हाथ, पाँव, वगैरह में समानता देख पड़ती है तथापि गुणों को लेकर गुणी का भी भेद हो सकता है । अब उन छः प्रकार के पुरुषों का नाम मैं दिखलाता हूँ– १ अधमाधम २ अधम ३ विमध्यम ४ मध्यम ५ उत्तम और ६ उत्तमोत्तम । इन छः प्रकार के पुरुषों के लक्षण तत्त्वार्थवृत्ति तथा षट्पुरुष चरित्र इत्यादि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से दिखलाये हुए हैं किन्तु मैं यहाँ पर बहुत संक्षेप से सरलभाषा में आपलोगों को बतलाना चाहता हूँ ।

पहिले 'अधमाधम' के स्वरूप को देखिये । जिसको

पूर्वोक्त चारों पुरुषार्थों का ज्ञान नहीं है और धर्म, कर्म संज्ञा को भी नहीं जानता है, जङ्गलों में अपनी आयु को बिताता है, शीत, ताप, और वातादि से उत्पन्न हुए कष्टों को सहन करता है, जिसके हृदय में परलोक का विचार भी नहीं होता है, पहिरने को वस्त्र भी नहीं मिलता है, वृक्षों की छालों को शरीरपर लपेट लेता है, शिर के बालों को बांधने के लिये एक सूत का धागा भी जिसके पास नहीं रहता है, लताओं के तन्तुओं से अपने केशों को बांधता है, जिसको रहने का घर भी नहीं है और गिरिगह्वरों में वास करता है, इस प्रकार की अवस्था वाले मनुष्य (जिस महाशय ने न देखे हों वे कलकत्ते के चिड़ियाघर में जाकर देखलें) अधमाधम कहे जाते हैं। अब अधम पुरुषों की स्थिति दिखलाई जाती है—

जो लोग परलोक को नहीं मानते हैं, धर्मिष्ठ पुरुषों की हँसी किया करते हैं, मद्य, मांस का भक्षण करने में जन्म को कृतार्थ मानते हैं, दूसरे के दुःख न देखकर अपनेही सुख में आसक्त रहते हैं, चार पुरुषार्थों में से अर्थ और काम को ही सम्पूर्णतया मान्य करते हैं, धर्म तथा मोक्ष को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं वैसे भिल्ल, पुलिंद, नाहल और बब्बर आदि लोग अधम गिने जाते हैं। इन के अतिरिक्त उच्च गोत्रादिक को प्राप्त करने पर भी जो आत्मा, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, कुछ भी नहीं मानता है वैसे चार्वाक सदृश नास्तिक लोग भी अधमों की पङ्क्ति में गिनेजाते हैं। वर्त्तमान समय में एक दर्शन के अनुयायी जो दूसरे दर्शन के अनुयायी को नास्तिक कहते हैं उनकी गणना इसमें नहीं हो सकती क्योंकि इसरीति से तो दुनियाँ में एक दूसरे की अपेक्षा से कोई भी आस्तिक नहीं ठहरेगा, और तब तो सभी कोई अधम ही बन-जायँगे। प्रसंगवश मुझे कहना पड़ता है कि जैसे वेदधर्म को मानने वालों ने लिखमारा है कि " नास्तिको वेदनिन्दकः " इस वाक्य पर अगर बुद्धिमान् विचार करें तो हृदयादर्श में अवश्य ही

ऐसा प्रतिभास होगा कि यह वाक्य अपने बचाव के लिये ही रखा है, अगर इसीतरह हमलोग भी अपने मत की निन्दा करने वाला को नास्तिक ठहराने के लिये "नास्तिको जैननिन्दकः" ऐसा वाक्य बनावें तो हमें कोई रोक थोड़े सकता है? किन्तु नहीं ! ऐसे दंडादंडी युद्धको हमलोग नहीं पसंद करते हैं. सज्जनो ! वेदानुयायी हो वा जैनानुयायी हो किन्तु "नास्तिको नास्तिवादकः" इस वाक्य से चार्वाक सदृश लोग ही नास्तिक ठहर सकते हैं, किन्तु जो लोग आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्षादि वस्तुओंको मानते हैं वे किस तरह नास्तिक हो सकते हैं? हाँ ! यह मत अमुक मत से भिन्न है, यह अमुक से भिन्न है ऐसा मानने में तो किसी प्रकार का विरोध नहीं समझा जाता है। इतना समयोचित कहकर अब मैं प्रस्तुत अधमों की अधमता का प्रकाश करने का प्रयत्न करता हूँ—

मैं पहिलेही कह चुका हूँ कि अधम लोग अर्थ और काम इन्हीं दो पुरुषार्थों को मानते हैं, अब यहाँ पर अधम पुरुषों को प्रश्न पूछने का अवसर मिलता है कि अर्थ और काम मिले सो कहाँ से? वे लोग उसका जो कारण बतावेंगे उसीको हमलोग धर्मसंज्ञा से सिद्ध करेंगे, जब धर्म सिद्ध होगा तब समस्त वस्तुका समुदाय भी स्वतःसिद्ध दृष्टि में आवेगा। इसी तरह युक्ति और उपदेश मिलने पर भी जो लोग नास्तिकता नहीं छोडते हैं उन्हींको अधमपुरुष कहते हैं। अब विमध्यम पुरुष के लक्षणों को दिखलाने का प्रयत्न करता हूं—

जो लोग धर्म, अर्थ तथा काम की आराधना सांसारिक सुखों के लिये करते हैं, मोक्ष की निन्दा और स्तुति नहीं करते हैं, अन्न के विषय में जैसे नारिकेल द्वीप के मनुष्य मध्यस्थभाव रखते हैं उसी तरह विमध्यम पुरुष मोक्ष के विषय में अभिलाष अनभिलाष नहीं करते हैं, केवल इस लोक में ऋद्धिसमृद्धिवाले पुरुषों को देखकर

साधन में तत्पर होते हैं, और मनमें ऐसा चाहते हैं कि हम दान, शील, तप तथा भाव करके भवान्तर में पुत्र परिवार धन धान्यादि समृद्धि वाले बनें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण विमध्यम पुरुषों में गिने जाते हैं। अब मध्यम पुरुषों की व्याख्या देखिये—

मध्यमपुरुष धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को मानते हैं, किन्तु मोक्ष को तो परमतत्त्व समझते हैं। मोक्ष ही जिनके लिये उपादेय है, किन्तु हीनसत्त्व और कालानुसार मोह ममत्वभाव को नहीं छोड़ सकने के कारण धर्म, अर्थ और काम तीनों ही वर्ग की आराधना को यथासमय परस्पर अविरुद्ध रीति से साधन करते हैं। मुनिवरों के भक्त और साधुमार्ग के पोषक होकर दान, शील, तप तथा भाव और परोपकारादि सुन्दर गुणगणों से विभूषित, सम्यक्त्व मूल द्वादशव्रत को निरतिचार रीति से पालन करनेवाले गृहस्थलोग मध्यम पुरुष कहेजाते हैं। अब उत्तमपुरुषों की उत्तमता पाठकों को श्रवणकराने का समय आया है। पाठकलोग उसे ध्यान देकर सुनें।

उत्तम पुरुष चार वर्गों में से मोक्ष को परमतत्त्व मानते हैं और उसके साथ मोक्ष की ही आराधना करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मत्सर, रति, अरति, शोक, भय, घृणा आदि दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों के व्यापार में चित्त लगाकर, धन, धान्य, माल, खजाना, पुत्र परिवार को तुच्छ समझकर, वैराग्य-वासना से वासितान्तःकरण होकर, शमसाम्राज्य के भवनरूप चारित्र-धर्म का सेवन करते हैं; शत्रु, मित्र, निन्दक, पूजक, मणि, कांचन, सज्जन, दुर्जन, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, सुंदर, असुंदर, इत्यादि सभी वस्तुओं को समानभाव से देखते हैं, समस्त जीवों को हितभरे उपदेश देते हैं, कदापि ऐसा कार्य नहीं करते जिससे किसी जीव को उनसे द्वेष हो जाय, काञ्चनकामिनी से सर्वथा दूर रहते हैं, गृहस्थों के संबन्ध से विरक्त, अनारम्भी, सत्यवादी, अस्तेयी,

ब्रह्मचारी, निष्परिग्रही, जो धर्मोपदेशक गुरु होते हैं वेही उत्तमपुरुषों की पङ्क्ति में गिने जाते हैं ।

यहाँपर मुझे कहना चाहिये कि वे उक्तगुणों से भी अधिक गुण-परम्परावाले होते हैं, केवल पेटपूजा करनेवाले और वृथाआडम्बरी नहीं होते हैं—

यतः—

" महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः" ॥ १ ॥

भावार्थ— पञ्चमहाव्रत को धारण करनेवाले अतएव धीर, और भिक्षा वृत्ति से जीनेवाले, सामायिक में तत्पर धर्मोपदेशक गुरु माने जाते हैं, उनसे विपरीत अगुरु कहे जाते हैं. कहा भी है कि—

" सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु "॥१॥

भावार्थ—सब वस्तुओं की अभिलाषा करनेवाले, और सब चीज़ों का भक्षण करनेवाले, धन धान्य चाँदी सोने आदि के परिग्रहसे युक्त, अब्रह्मचारी, और मिथ्या उपदेश देनेवाले अगुरु कहे जाते हैं, अगुरु लोग रंगीन वस्त्रों को धारण कर जगत् को ठगते हैं। वैसे ठग लोगों के फन्दे में भव्यजीवों को न आना चाहिए, ये ठगलोग उत्तमों की पङ्क्ति में तो क्या विमध्यमों की गिनती में भी नहीं गिने जाते हैं बल्कि मैं कह सकताहूं कि उन लोगों को अधमों की पङ्क्ति में रखने में भी कोई हानि नहीं देख पड़ती है, इस दुनियाँ के आधारभूत उत्तम पङ्क्तिवाले मुनिरत्न ही हैं वे लोग उपदेश से तारें, वा दर्शन देकर तारें, चाहे धर्मलाभरूप आशिष देकर तारें लेकिन संसारसमुद्र से तारनेवाले तो वेही सुगुरु हैं जिन की व्याख्या मैं पहिले ही करचुका हूं । क्योंकि जिसमें स्वयं पार होने की शक्ति है, वही दूसरे को भी पार उतार सकता है। जिसको आपही शक्ति नहीं है वह यदि दूसरे को पार उतारने का साहस करे

तो उन दोनों ही आदमियोंके डूब जानेमें कोई संशय नहीं रहेगा–

सज्जनो ! उपर्युक्त बात, मैं अपने जी से कहता हूं ऐसा मत समझिये क्योंकि शास्त्रकार भी कहते हैं कि–

" परिग्रहारम्भे मग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः " ॥ १ ॥

भावार्थ– परिग्रह आरंभ में डूबा हुआ पुरुष दूसरे को तारने में कैसे समर्थ होगा ? जो स्वयं दरिद्री है वह पुरुष दूसरेको धनवान् करने में समर्थ नहीं होता है– एक बात अनुभव से सिद्ध होती है कि जो मनुष्य साधुगुण सम्पन्न है वह विना उपदेश दिये दर्शनमात्र से ही क्लेश से तप्तपुरुष को शान्त कर देता है । अगर उस पुरुष का उपदेश मिले तो इतना बड़ा लाभ होता है कि जिसकी सीमा नहीं । यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि " जो साधुगुणयुक्त व्यक्ति उपदेशामृत को पान कराता है तथापि कितने ही जीवों को गुण नहीं होता है अतएव पूर्वोक्त कथनानुसार वह महात्मा (उत्तमपुरुष) नहीं होसकता है, क्योंकि कितने ही जीवों को उससे लाभ नहीं पहुंचा " इसके उत्तर में समझना चाहिए कि बढ़ई सुशिक्षित है, कुल्हाड़ी बहुत तीक्ष्ण है, परन्तु काष्ठ में एक गांठ बड़ी भारी मजबूत लगी हुई है, अतः काष्ठ नहीं कटता है तो यहाँ पर बढ़ई और शस्त्र का दोष नहीं है । इसी तरह जो जीव कठोर होता है उसको अगर उपदेश न लगे तो उपदेशक का और उपदेश का दोष है ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए– सिंहिनी का दूध सुवर्ण के ही पात्र में रहता है । योग्या-योग्यपुरुषों का विचार शास्त्रों में स्पष्ट लिखा हुआ है और इसी कारण से पुरुषों के छः विभाग किये गये हैं अब मैं प्रस्तुत विषय की ओर झुकता हूँ और पाँचवें उत्तमपुरुषों की व्याख्या दिखलाता हूँ । पूर्णमग्न, अमोही, ज्ञानी, ध्यानी, शान्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, वैरागी, क्रिया में तत्पर, निर्लेप, निस्पृही, विद्यावान्, विवेकवान्, मध्यस्थ, भयरहित, अनात्मसंशक, तत्त्वदृष्टि, सर्वसमृद्धिवान्, कर्मफलचि-

न्तक, भवोद्विग्न, अतिथि, लौकिकव्यवहारपराङ्मुख, मोक्षाभिलाषी, अनगार, मुनि, मुमुक्षु, भिक्षु, और वाचंयम, इत्यादि विशेषणों से विशिष्टपुरुष को उत्तमपुरुष कहते हैं. इतना कहकर अब मैं उत्तमोत्तमों की व्याख्या करनी आरम्भ करता हूँ–

पूर्वोक्त उत्तमपुरुषों का ध्येय, पूज्य, माननीय, वन्दनीय, स्तवनीय, ईश्वरपदवाच्य, सर्वथा रागद्वेषरहित, केवलज्ञान से लोकालोक के स्वभाव का प्रकाशक, प्रमाणयुक्त वचनवर्गणा का उपयोग करनेवाला, स्याद्वादशैलीयुक्त उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीनो पदों का ज्ञान गणधरों को देनेवाला, निर्विकार, निरबाध, परस्पर–विरोधादि दोषरहित, आगमों का अधिपति, शासननायक, शिवसुखदायक, परम कृपालु, कल्पवृक्ष रत्नचिन्तामणि कामधेनु से भी अधिक दान देनेवाला, दान लेनेवाले को मोक्ष के स्वाधीन करनेवाला, ऐसा धर्मचक्रवर्त्ती तीर्थङ्कर उत्तमोत्तम पदालङ्कृत है। बस ! यहां छः प्रकार के पुरुषों के स्वरूप का लेशमात्र मैंने पाठकों को दिखलाया है, अब इस से पाठकों को विचारशील होकर जानना चाहिये कि मैं किस पङ्क्ति में हूँ ? मेरे लक्षण कौन से पुरुष के हैं ? विचार करने से यदि मालूम हो कि अद्यापि मैं नीच पङ्क्ति में हूँ तो ऊंची श्रेणी में जाने का प्रयत्न करना चाहिये, अगर ऊंची कक्षापर हूं तो उच्चतर कक्षा की अभिलाषा करनी चाहिये। इतना विवेचन करके अब मैं पुरुषार्थ की व्याख्या पर आने का प्रयत्न करता हूँ–

"पुरुषस्य अर्थः पुरुषार्थः" अर्थात् पुरुष का जो अर्थ उसको पुरुषार्थ कहते हैं। शास्त्रकारों ने इस पुरुषार्थ के चार विभाग माने हैं। १ धर्म २ अर्थ ३ काम और ४ मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों में से प्रथम धर्म का सामान्य लक्षण कहना चाहिये, "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" भावार्थः– जिससे समस्त प्रकार का उदय और मोक्ष की सिद्धि हो उसी का नाम धर्म है अथवा–

" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् धारणाद्धर्म उच्यते ।
संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये " ॥ १ ॥

भावार्थ–दुर्गति में पड़ते हुए प्राणियों को धारण करने के कारण धर्म कहा जाता है। यह संयमादि दशप्रकार वाला तथा सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्म मुक्ति के लिये समर्थ है। जैन, बौद्ध, साङ्ख्य, शैव, भागवत, पातञ्जलि तथा मनुप्रभृति समग्र दर्शन के अनुयायी लोगों ने क्षान्त्यादि दशप्रकारके धर्मों को स्वीकार किया है, केवल शब्द में भेद रक्खा है, अर्थ में अन्तर नहीं है। अगर अर्थान्तर है तो मुझे कहना पड़ेगा कि स्वाभाविक वस्तुओं में फेरफार नहीं हो सकता है, क्योंकि संस्कृत प्राकृत भाषा सर्वत्र एक समान ही मिलेगी, यदि देशी प्राकृत देखी जाय तब फेरफार मालूम हो सकता है, कारण यह है कि वह देशकृत भेद है, और देशकृत भेद जो होता है वह कृत्रिम होता है। यहाँ पर मुझे एक दूसरा स्थूल दृष्टान्त याद आता है कि भिन्न भिन्न देश के सौ मनुष्य इकट्ठे किये जायँ और उनलोगों को बैठाने के लिए अगर शब्द प्रयोग किये जायँ तो एक सौ शब्दों के प्रयोग भिन्न भिन्न भाषाओं में करने पड़ेंगे, ऐसा नहीं करके अगर उनको बैठाने के लिये दोनों हाथ लम्बे करके नीचे किये जायँ तो समस्त मनुष्य समझ जायँगे कि वह हमको बैठने के लिये कह रहा है, इसी तरह चुप रहने के लिये शब्द के अलग अलग प्रयोग नहीं करके नाकपर तर्जनी अङ्गुली रखकर चुप करने की चेष्टा की जाय तो सब कोई चुप हो जायँगे. और भी देख लीजिये अगर कोई पुरुष अपरिचित देश में गया हो, और उसको क्षुधा लगी हो, दाल रोटी का नाम नहीं जानता हो, भिक्षा किन शब्दोंमें मांगनी चाहिये यह भी उसको मालूम नहीं हो, तब वह बिचारा पाँचों अङ्गुलियों को इकट्ठी करके मुँह पर रखकर और पेट पर हाथ छोड़ के चेष्टा करेगा तब कैसाही मूर्ख क्यों न हो वह भी समझ जायगा कि यह मनुष्य खाने के लिये मांग रहा है।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से पाठक अवश्यही समझ गये होंगे कि स्वाभाविक वस्तुएँ ज्योंकी त्यों ही रहती हैं उनमें भेद नहीं पड़ता । अब मैं दशविध धर्मके लिये मनुजीका श्लोक यहां पर उद्धृत करता हूं:-

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्" ॥१॥

भावार्थ-(१) धृति अर्थात्-सन्तोष रखना (२) क्षमा अर्थात्-दूसरे के अपकार करने पर भी उसका भला करना (३) दम अर्थात्-विकारके कारणोंके मौजूद रहने पर भी विक्रियाको नहीं प्राप्त होना, अथवा शीततापु आदि परीषहोंसे भी क्लेश न मानने और सहन करनेको भी दम कहते हैं) (४) अस्तेय अर्थात् अनुचित रीतिसे किसीकी कोई वस्तु हरण नहीं करना (५) शौच अर्थात्-अन्तःकरणको पवित्र रखना (कितनेही लोग जल मिट्टीसे शरीर शुद्ध करलेनेको ही शौच समझते हैं किन्तु यह उनकी भूल है । शरीरकी शुद्धि को धर्म मानना बुद्धिमानोंके मनमें युक्तिपूर्वक ठीक नहीं जँचेगा क्योंकि धर्म तो आत्मशुद्धि करनेवाला होता है । अगर शरीरशुद्धिको धर्म माना जाय तो अनार्यों में भी शौच धर्म प्राप्त होना चाहिये । अगर यह कहो कि प्राप्त होता है तो फिर उन्हें अनार्य क्यों कहा जायगा ? इत्यादि सूक्ष्म विचारोंसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी पवित्रता ही शौच है) (६) इन्द्रिय निग्रह अर्थात्-पञ्चेन्द्रियोंके २३ विषयोंमें रागद्वेष रहित होकर व्यवहारकरना (अब यहां पर जानना चाहिये कि इन्द्रियां अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण अपने २ विषयों पर अवश्य गमन करती हैं । वे अगर क्षणभर के लिये हठयोगद्वारा रोकी जाँय तो उसे वास्तविक निग्रह नहीं कह सकते । वास्तविक निग्रह तो ज्ञानपूर्वक विषयोंमें अभाव होना ही है । जब तक शरीर है तब तक उसका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है । रास्तेमें चलते हुए महात्माकी इन्द्रियाँ भी अपने २ विषयोंकी ओर जाती हैं किन्तु महात्माके अन्तःकरण में विषयों पर राग द्वेष का

अभाव होने से वाञ्छा नहीं है इसलिये इसे इन्द्रियनिग्रह कहने में किसीको आपत्ति नहीं हो सकती) (७) धी अर्थात् शास्त्र, स्वानुभव और सम्प्रदायमें तत्त्वका चिन्तन करना (८) विद्या अथवा आत्मज्ञान अर्थात् मैं ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय, अच्छेदी अभेदी, अनाहारी, अतीन्द्रिय, अकषायी, शुद्ध, बुद्ध, अकलंकादि अनेक विशेषणोंसे युक्त हूं ऐसा ज्ञान होना। (९) सत्य अर्थात् जो बात हो उसे पूछे जानेपर जैसी की तैसी बतलाना। (१०) अक्रोध— अर्थात् क्रोधका कारण प्राप्त होने पर भी ज्ञानदृष्टिपूर्वक क्रोध नहीं करना। इस प्रकार मनुस्मृतिके छठें अध्यायके अन्तमें धर्मके दश-विध स्वरूप दिखलाये हुए हैं। प्रथम ब्राह्मणोंका सामान्य धर्म कहा है तदनन्तर इन दश प्रकारके धर्मोंको पढ़नेका अनुरोध किया गया है इसके बाद अनुष्ठित करनेके लिये शिक्षाएं लिखी गयी हैं। उन शिक्षाओंके अन्तमें संन्यास लेनेका उपदेश किया है क्यों कि विना संन्यास ग्रहण किये पूर्वोक्त दश प्रकारके धर्म गृहस्थोंसे पालन नहीं हो सकते हैं। उसी तरह जैनतत्त्ववेत्ताओंने भी दश प्रकारका यति-धर्म दिखलाया है। जैसे—

“खन्ति मद्दव अज्जव मुत्ति तव सञ्जमे अ बोधव्वे।
सच्चं सोअं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो” ॥१॥

भावार्थ—(१) क्षान्ति अर्थात् क्रोधका अभाव (२) मार्दव अर्थात् मानका अभाव (३) आर्जव अर्थात् दंभताका त्याग (४) मुक्ति अर्थात् लोभका अभाव (५) तप अर्थात् इच्छाओंकी रोक (६) संयम अर्थात् इन्द्रियोंका निग्रह (७) सत्य अर्थात् यथावस्थित वस्तु का कथन (८) शौच अर्थात् सब जीवोंके साथ अनुकूल व्यवहार करना जिसमें किसीका अपकार न हो अतएव अन्तः-करण की पवित्रता (९) अकिंचन अर्थात् सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य अर्थात् सर्वथा अब्रह्मका त्याग करना। इसी तरहसे प्रत्येक दर्शनवालोंने दश प्रकारका धर्म माना है। कर्त-

ध्यभेदसे धर्मका भेद होता है। कारणोंमें कार्योपचार करके भेद गिने जाते हैं। जैसे, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म; अर्थात् जो धर्म श्रुतसे बने वह श्रुत और जो चारित्रसे बने वह चारित्रधर्म कहा जाता है। उसी प्रकार साधु धर्म और गृहस्थधर्म। साधु से जो धर्म बने वह साधुधर्म और गृहस्थों से जो धर्म बने वह गृहस्थ धर्म कहाजाता है। वैसेही निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म– अर्थात्, निश्चयनयानुसार जिन वस्तुओंकी पहिचानसे आत्मगुणका लाभ हो वह निश्चयधर्म और व्यवहारिक धर्म कृत्योंसे उत्पन्न हुआ पुण्यबन्ध रूप धर्म व्यवहारिक धर्म कहा जाता है। वैसेही दान, शील तप और भावके अनुसार धर्मके चार भेद हुए–१ दानधर्म २ शीलधर्म ३ तपोधर्म और ४ भावधर्म। दानधर्म पाँच प्रकारका होता है जैसे, अभयदान, सुपात्रदान, उचितदान, कीर्त्तिदान, अनुकंपादान। ब्रह्मचर्यके १८ सामान्य और १८ हजार विस्तार भेद हैं। उन्हें पालन करनेसे जो धर्म होता है वही शील धर्म कहा जाता है। तपके दो भेद कहे हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यके छः और आभ्यंतरके छः कुल मिलाकर तपके १२ भेद हैं। इन बारहो प्रकारके भेदोंसे युक्त तप करनेसे जो धर्म होता है वह तपोधर्म कहा जाता है। भावना पाँच प्रकारकी है। उन पाँचो प्रकारकी भावनाओंके करनेसे जो धर्म होता है वह भावधर्म कहा जाता है। ऐसे अनेक प्रकारके धर्मके भेद जीवोंको समझानेके लिये शास्त्रकारोंने उपकार बुद्धिसे दिखलाये हैं यहाँ उनका विस्ताररूपसे विवेचन करना अनावश्यक समझ कर अब मैं धर्म की परीक्षा करनेके चार कारणोंको बतलाता हूँ। शास्त्रमें कहा है:–

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः"॥१॥

भावार्थ–जैसे चतुर लोग सुवर्णकी परीक्षा कसौटीके ऊपर घिस कर, छेदकर, तपाकर और हथौड़ीसे कूटकर करते हैं वैसेही

पंडित लोग धर्मकी परीक्षाभी चार प्रकारसे करते हैं। पहले, शास्त्रसे अर्थात् अमुक शास्त्र परस्परविरुद्धादि दोषग्रस्त है कि नहीं इसका विवेचन करके यदि दोषरहित होतो मानना और न हो तो नहीं मानना चाहिये। दूसरे, शीलसे अर्थात् ब्रह्मचर्य किसे कहतेहैं? उसको पालन करनेका क्या फल है? किस हेतु ब्रह्मचर्य अवलम्बन किया जाता है? इन बातोंकी सूक्ष्मरूपसे गवेषणा करके अगर बराबर मालूम हो जाय तो जानना कि यह धर्म ठीक है। तीसरे तपोगुण देखना अर्थात् तपश्चर्या का क्या हेतु है? तप किसे कहते हैं? उससे क्या कार्य होता है? इत्यादि का विचार स्वयं करना और जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँचो अवयवोंसे युक्त तपोगुण सिद्ध हो उसमें धर्म समझना चाहिये। अन्तमें परीक्षाका चौथा कारण दयागुण है। जिसमें प्राणिमात्र की दया है वही धर्म है और जिसमें प्राणिमात्रकी दया नहीं है उसे धर्म नहीं कहते। एकांशमें दयाकरनेवाला दयावान् नहीं कहा जा सकता किन्तु मोहवान् कहलाता है। ये मोह ४ प्रकारके हैं—शास्त्रमोह, सम्बन्धमोह, आत्मीयमोह और ममत्वभावका मोह। जैसे हिन्दूशास्त्रोंमें गौ को बड़ी प्रतिष्ठा दी गयी है इससे हिन्दूमात्र गौकी रक्षा करते हैं इसका कारण शास्त्रमोह है। वैसेही मुसल्मानोंके शास्त्रमें सूअर को नहीं मारनेकी आज्ञा है अतएव मुसलमान सूअरको हराम समझते हैं। यह भी शास्त्र मोहसेही है। अब सम्बन्धमोहको लीजिये, सिंहिनी जो अपने बच्चेका पालन करती है वह सम्बन्धमोह है। यदि कोई मनुष्य कुत्ते, बकरी या औरही किसी पशुको प्रेमभावसे अपना समझ कर उसकी रक्षा करता है तो उसे आत्मीय मोह कहते हैं और क्रीड़ा के लिये जो जीव पाले जाते हैं उसे ममत्वमोह कहा जाता है। किन्तु वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो समस्त जीवोंकी निःस्वार्थ मैत्री-भावसे रक्षा करनाही दया कहलाती है और वह दयागुण जिसमें हो उसेही धर्म जानना चाहिये।

पूर्वोक्तरीतिसे धर्मकी परीक्षा करनेके साथही साथ धर्मकी आराधना करनेकाभी मैं आपलोगोंसे सविशेष अनुरोध करता हुआ 'अर्थ' नामक दूसरे पुरुषार्थ की मीमांसा करनेको अग्रसर होता हूँ। शास्त्रोंमें कहा है, "**यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः।**" अर्थात् जिससे समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि हो उसे अर्थ कहते हैं। अर्थ धार्मिक पुरुषोंको पुण्यकर्मके फलस्वरूप यावत् मोक्षसुखका देनेवाला है, विषयीजनोंके समस्त विषयोंकी प्राप्तिका कारण है, लोभियोंके लोभविषयका मूल कारण है, राजाओंकी श्रीवृद्धिका मुख्य हेतु है, व्यापारी लोगोंकी व्यापार-वृद्धिका सहायभूत है और वेश्यादिकोंको कुकर्ममें लेजानेवाला है। कहनेका तात्पर्य यह कि हेमचन्द्राचार्य्य का बतलाया 'सर्वप्रयोजनसिद्धिरूप' अर्थका लक्षण सान्वर्थही है इसमें कोई संशय नहीं।

अर्थ दो प्रकारका होता है, पहला न्यायसम्पन्न और दूसरा अन्यायसम्पन्न। न्यायसम्पन्न उभयलोकमें हितकारी होता है और अन्यायसम्पन्न दोनोंही लोकोंमें अहित करनेवाला होता है। अब यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि न्याय संपन्न विभव क्या वस्तु है? अतएव उसका थोड़ासा लक्षण दिखलाता हूँ:—

"स्वामिद्रोह—मित्रद्रोह—विश्वसितवञ्चन—चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेन सम्पन्नो विभवः सम्पद् यस्य स तथा न्यायसंपन्नविभवः"।

भावार्थ—स्वामीका द्रोह, मित्रका द्रोह, विश्वासी पुरुष को ठगना, चोरी जूआ आदि दुराचारोंसे निन्दनीय अर्थके उपार्जनका परिहार करके द्रव्य उपार्जन करनेका उपायभूत जो अपने अपने वर्णानुसार सदाचार है उसीको न्याय कहते हैं। उससे प्राप्त हुआ जो अर्थ है वह न्यायसम्पन्न कहा जाता है। वह दोनों लोकमें

हितका करनेवाला होता है । न्यायवाला पुरुष इस लोकमें शंका-रहित होकर अपने शरीरमें भोग करेगा, मित्रादिकोंको उसका हिस्सा देगा, वह सत्पात्रको दान दे सकता है, दयाकरके दीन अनाथोंकी भी उससे रक्षा कर सकता है । यह न्यायसंपन्न द्रव्य उसे परलोकमें भी हितकर होता है । अन्याय करनेवाले इस लोकमें तो राजदण्ड, वध, बंधन आदि अनेक कष्ट पातेही हैं, परलोकमें भी उन्हें नरकादिके कष्ट सहन करने पडते हैं । यतः-

"सर्वत्र शुचयो धीराः स्वकर्मबलगर्विताः ।
कुकर्मनिहतात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः"॥१॥

भावार्थ— स्वकर्मोंके बलसे गर्वित धीर पुरुष सर्वत्र पवित्र अन्तः-करणवाले होते हैं लेकिन जिस पुरुषकी आत्मा कुकर्मोंसे नष्ट होगयी है ऐसे पापिष्ठ लोगोंका अन्तःकरण सर्वत्र शङ्कित रहता है। कभी २ ऐसा भी होता है कि अन्यायी पुरुषको तत्कालही अपने अन्यायका फल नहीं भोगना पड़ता तथापि यह निश्चय है कि भविष्यमें उसे अपने किये हुए का फल अवश्यही चखना पड़ता है । वास्तव में सच्चे तत्त्वसे भराहुआ न्यायही अर्थ उपार्जन करनेका यथार्थ कारण हो सकता है । यतः-

"निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः"॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कूँएके पास मेंढक स्वयं आते हैं और जैसे पूर्ण सरोवर के निकट पक्षी आपही आप चले आते हैं वैसेही शुभ कर्मों-वाले पुरुषके पास भी सारी संपदाएँ आपही आप गुणाधीन होकर चली आती हैं । अन्यायसे उत्पन्न किया हुआ द्रव्य कभी धर्मकार्य में नहीं लग सकता है और न्यायोत्पन्न द्रव्य भी कभी अधर्मकार्य में नहीं लगता । इस विषयका एक छोटासा दृष्टान्त यहां पर देदेना शायद अप्रासंगिक नहीं गिना जायगा ।

किसी नगर में एक बड़ा प्रतापी राजा रहता था । उसके प्रचण्ड तेजसे सारी पृथ्वी थर २ काँपती थी, उसका प्रतापसूर्य दशो दिशाओं में अपना प्रभाव फैलाये हुए था । एक समय की बात है कि राजाके मनमें एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाने की इच्छा हुई जो कि कभी किसी कालमें किसी शत्रुसे नहीं जीता जावे और जिसमें रहकर उसके वंशके लोग निरवच्छिन्न और निष्कण्टक राज्य इस पृथ्वी पर कर सकें। इसलिये उसने अपने यहां के एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ज्योतिषी से नींव डालनेका मुहूर्त पूछा । ज्योतिषीने अपनी गणनानुसार एक बहुत उत्तम मुहूर्त निर्णय किया और राजा से कहा कि हे राजन्! यदि इस मुहूर्त में किलेकी नींव डाली जायगी तो आपके वंश में ससागरा पृथ्वीका राज्य अचल होकर रहेगा । राजाने बड़ी प्रसन्नतासे उस मुहूर्त पर नींव डालनेकी तैयारी करनेकी आज्ञा अपने मंत्री को देदी और मन्त्रीने इस शुभसमाचार की समस्त राज्यमें डौंड़ी पिटवा दी । सारी प्रजा उत्सुकताके साथ उस दिनकी बाट जोहने लगी ।

देखते २ नींव डालनेका दिन आ पहुँचा । अमीर, गरीब, सेठ साहूकार, ब्राह्मण शूद्र आदि सभी श्रेणीके लोगोंकी भारी भीड़ उस स्थान पर इकट्ठी हो गयी जहां पर किलेकी नींव डाली जानेको थी। सबलोग उत्कण्ठाके साथ राजाके अनुष्ठान किये हुए इस कार्यकी निर्विघ्न समाप्तिके अर्थ प्रतीक्षा करही रहे थे कि इसी समय राजाकी सवारी आती हुई दिखाई दी । सब लोग उच्च स्वरसे महाराजकी जयजय-कार मनाने लगे। क्रमशः प्रजाकी वह तुमुल हर्ष-ध्वनि कम हुई और ज्योतिषीजीने, जो महाराजके साथही आये थे, कहा "कि महाराज! जहाँतक शीघ्रता हो कीजिये क्योंकि जो मुहूर्त मैंने बतलाया है वैसा मुहूर्त जल्दी फिर नहीं मिलनेका।" महाराजने कहा कि "अच्छा तो आप बतलाइये क्या किया जाय मैं तो तैयार हूँ ।" ज्योतिषीने कहा, " पहले पाँच प्रकारके रत्न नींवमें डालने चाहिये किन्तु वे

रत्न न्यायके हों, अन्यायके उत्पन्न नहीं।" महाराजने अपने कोषाध्यक्षको आज्ञा दी कि फ़ौरन ही पांच प्रकारके रत्न नींवमें डालनेके लिये लाओ।" इसपर ज्योतिषीने कहा "महाराज! बुरा न मानियेगा। आपके खजानेका रत्न नींवमें नहीं डाला जा सकता क्योंकि आपकी सम्पत्ति न्यायकी नहीं है। राजाका धन केवल न्यायहीका नहीं होता उसका बहुतसा अंश अन्यायसे भी आता है अतएव आप इन उपस्थित व्यापारी और साहूकारोंसे पूछिये अगर इनके पास न्यायके द्वारा उत्पन्न कियाहुआ धन हो तो वही नीव में डाला जा सकता है। राजाने सबसे पूंछा किन्तु किसीने अपनी सम्पत्ति केवल न्यायसे पैदा की हुई नहीं बतलायी। इस पर ज्योतिषीने कहा कि "महाराज! आपके राज्यमें सिर्फ एक सेठ है जो कभी अन्याय नहीं करता। आप उससे कहें कि वह अपना रत्न आपको दे।" राजाने उनके कथनानुसार अपने आदमियोंको सवारी लेकर उस सेठके पास भेजा। उन लोगोंने जा कर सेठसे कहा कि "महाराजने आपको शीघ्रही बुलाया है, चलिये। गाड़ी खड़ी है आप उसीपर सवार होलें क्योंकि वहां जल्दीही पहुँचना चाहिये।" सेठने कहा "मैं पैदल ही चलूँगा, क्योंकि जब मैं घोड़ेको खानेको नहीं देता तब उसपर क्योंकर सवारी कर सकता हूँ।" सेठकी ऐसी नीति देख कर सब कर्मचारी अवाक् हो गये। वे लोग गाड़ी लौटा लाये और वह विचारा सेठ दौड़ता हाँफता हुआ राजाके पास पहुँचा। राजाने पूछा, "तुमने कभी अन्याय किया है कि नहीं?" उसने कहा, "महाराज! जन्मसे लेकर आजतक मैंने कभी अनीति नहीं की। जो कुछ साधुतापूर्वक कार्य करनेसे मिलता है उसीसे अपनी जीविका अर्जन करता हूँ।" तब महाराजने कहा, "अच्छा इस समय मैं एक किलेकी नींव डालना चाहता हूँ उसमें सबसे पहले पाँच प्रकारके न्यायसे पैदा किये हुए रत्न डालने चाहिये। इसलिये तुम मुझे रत्न दो जिसमें मेरा यह कार्य उत्तमता

पूर्वक और शीघ्रताके साथ हो जाय क्योंकि हमारे ज्योतिषीने कहा है कि आज के ऐसा मुहूर्त फिर नहीं आनेका। मुहूर्त बीता जाता है शीघ्रता करो।" सेठ ने उत्तर दिया, "महाराज! आप हमारे अन्नदाता, राजा और पितातुल्य हैं जो चाहें आज्ञा कर सकते हैं किन्तु खेद है कि मैं आपकी इस आज्ञाको पालन नहीं कर सकता। मेरा पैसा नीतिका है। आपके काममें नहीं आ सकता। क्योंकि न्यायका धन कभी अधर्म कार्यमें नहीं जाता।" इस बातको सुन राजाको बेहद क्रोध हुआ और उन्होंने भय दिखलाकर सेठसे रत्न लेना चाहा। तब ज्योतिषीने कहा कि "अगर आप इससे बलप्रदर्शन करके रत्न लोगे तब तो वह अनीतिका होजायगा फिर वह क्योंकर नींव में दिया जा सकता है?" राजाने अब आपेसे बाहर होकर कहा कि "मेरा धन अन्यायका और सेठका धन नीतिका है इसकी परीक्षा होनी चाहिये।" ऐसा कह कर उन्होंने एक अशर्फी अपने नौकरोंको दी और कहा कि इसे जाकर किसी अच्छे महात्मा को दो। इसी प्रकार एक अशर्फी सेठसे लेकर दूसरे नौकरोंको दी गयी कि इसे किसी अव्वल दर्जेके पापी को दो। जिसका धन न्यायका होगा उसका न्यायमें और जिसका अन्यायका होगा उसका अन्यायमें जायगा। ऐसी आज्ञा देकर उन्होंने कई गुप्तचर इन लोगोंके कार्योंको छिपे २ देखनेके लिये नियत कर दिये। राजाका सङ्कल्प पूरा नहीं हो सका और निर्धारित मुहूर्त व्यर्थही में बीत गया।

राजा और सेठकी अशर्फियों को लेकर राजकर्मचारियोंका दो दल दो ओर चला। राजाकी अशर्फी लेकर जो लोग चले थे वे लोग जब गंगाके किनारेपर पहुंचे तब वहां देखते क्या हैं कि एक बालब्रह्मचारी संन्यासी आसन लगाये ध्यानमें मग्न बैठे हैं। इधर उधरके लोगोंसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह महातपस्वी ४० वर्षसे उसी प्रकार वहाँ पर तपश्चर्या कर रहा है और बालकपन से ही इसे तपस्यासे

डिगते हुए किसीने नहीं देखा। राजाके दूतोंने सोचा बस इनसे बढ़ कर महात्मा काहेको कोई होगा अतएव यह अशर्फी इन्हींको देनी चाहिये। यह विचार उन्होंने अशर्फी उनके पास रखदी और कुछ दूरपर छिपकर देखने लगे कि यह महात्मा अशर्फीको लेकर क्या करते हैं? तदनन्तर कुछ देरमें जब उस महात्माकी समाधि खुली तब उन्होंने अपने सामने चमचमाती हुई स्वर्णमुद्रा देखी। सोचा, हमारी उग्र तपस्यासे प्रसन्न होकर क्या परमात्माने ही यह मुद्रा भेजी है?। नहीं तो कितनी कठिनतासे जो अर्थ पैदा होता है वह एकाएकी क्योंकर मेरे पास आगया? वे इसी प्रकार सोचते विचारते थे कि उस अन्यायके धनने उनके हृदय के सकल सद्गुणों को तो नष्ट कर दिया और उनके स्थान पर नाना प्रकार की बुरी वासनाएँ पैदा होने लगीं। जिससे उन्होंने सोचा कि अपनी तपश्चर्या के प्रभावसे मैंने सब कुछ तो देखा किन्तु 'नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितम्'। अतएव यह अभिलाषा भी पूर्ण करलेनी चाहिये। जिसमें यह वासना मनमें ही न रह जाय यह सोच उस महात्माने एक वेश्या के घर जाकर अपना मुंह काला किया जिससे उसकी ४० वर्ष की तपस्या नष्ट होगई। राजा के गुप्तचर यह लीला देखकर आश्चर्यमें आगये और उन्होंने निश्चय किया कि वास्तव में अन्याय का धन कभी धर्म कार्यमें व्यय नहीं हो सकता।

इधर जिन दूतोंने सेठकी अशर्फी पायी थी वे लोग गंगाके किनारे घूम रहे थे कि उसी समय टोकरीमें बहुतसी मछलियों को रखे कन्धेपर जाल लटकाये मल्लाहको देखा जिसके शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था, और सिर्फ कमर में लंगोटी बांधेहुए था. उसके सारे शरीरसे इस प्रकारकी दुर्गन्धि आती थी जिससे पास के चलने वालों को नाक बन्द करनी पड़ती थी। दूतोंने सोचा कि इससे बढ़ कर पापी कौन होगा जो नित्य सहस्रों जीवोंकी हिंसा करके ही पेट पालता है। ऐसा विचारकर उन्होंने वह अशर्फी उसे

देदी और कहा कि "राजा ने आज दीन दुःखियोंको बहुतसा दान दिया है, इस लिये तुम भी यह अशर्फी लो और जाकर आनन्द करो।" मल्लाहने अशर्फी कभी देखी नहीं थी। उसने सोचा कि परमात्माने मुझपर तो आज बड़ीही कृपा की। अब देखिये यह न्यायकी मुद्रा उस मत्स्यजीवीके विचारोंको किस प्रकार पलट देती है। उस मल्लाह ने विचार किया कि पहिले तो मैं इतने जीवों को दिनभर बैठकर संहार करता हूं फिर तब घर भर मिलकर बाज़ारमें ढोकर बेचने के लिये लेजाते हैं सो क्यों?, क्या इससे अच्छा और धर्मयुक्त मार्ग जीवन निर्वाह करनेका दूसरा कोई नहीं है?। ऐसा चित्तमें उत्पन्न होतेही उसने अपने सिरपरकी सारी मछलियोंको फिर गंगामें धीरेसे छोड़ दिया और घर चला आया। घरवालोंने देखा कि रोज तो मछलियाँ बेच कर रातको ये आया करते थे आज इतना सवेरे कैसे आ पहुंचे? उनलोगों के पूछने पर जालजीवीने कहा कि "आज मुझे राजाके दूतोंने एक अशर्फी प्रदान की है। मैंने सोचा कि अब क्यों इन बिचारी मछलियोंको मारूं। चलो राजमहलके पास रह कर कोई ऐसा काम करूं जिससे धर्म पूर्वक जीवन निर्वाह हो।" उसके घरवालोंने भी अशर्फीको देख कर बड़ा आनन्द मनाया और सबके जीमें उस धर्मके द्वारा पैदा किये हुए धनने धार्मिक भाव उत्पन्न करदिया। उन लोगोंने निश्चय किया कि अबसे हमलोग कोई भी मछलियाँ नहीं मारेंगे और सब मिलकर कोई काम ऐसा करेंगे जिसमें पाप न हो। गुप्तचरोंने यह लीला देख कर बड़ा आश्चर्य माना। और आकर राजासे यह वृत्तान्त सुनाया। राजाभी दोनों अशर्फियोंके परिणामको सुनकर आश्चर्य में पड़गये और सब लोगोंके जीमें उस दिनसे यह बात दृढ़ रूपसे बैठ गयी कि धर्मका पैसा अधर्म में और अधर्मका धन कभी धर्ममें नहीं लगता।

इस दृष्टान्तसे आपलोग समझ गये होंगे कि न्यायसम्पन्न द्रव्य

ही धर्मकार्यमें लगता है। अतएव न्यायसंपन्न द्रव्य ही अर्थ नामका पुरुषार्थ कहा जाता है।

बस इतना कहकर अब मैं 'काम' नाम के तीसरे पुरुषार्थ की ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

प्रथम कामका सामान्य लक्षण इस तरह है– "**आभिमानिक–रसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः कामः**" अर्थात् इच्छित रसयुक्त सब इन्द्रियोंमें प्रीति होना काम कहलाता है। शास्त्रकारोंने कामके दो भेद कहे हैं, १ भोग और २ उपभोग। जो वस्तुएं एकही बार भोग में आती हैं वे भोग और जो अनेक वार भोगमें आती हैं उन्हें उपभोग कहा जाता है। वह भोगोपभोग यदि शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सेवन किया जाय तो उसे काम कहते हैं। यदि उसका अनीतिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह भोग नहीं कुभोग और उपभोग नहीं बल्कि कुत्सित उपभोग है। जैसे धर्मशास्त्र में गृहस्थों के लिये स्वदारासन्तोष दिखलाया हुआ है, उसमें भी कितने ही आवश्यक समयोंके लिये ब्रह्मचर्य पालन करनेका उपदेश किया गया है। जैसे एक पक्षमें अर्थात् हर एक पन्द्रह दिनमें पांच तिथियोंको ब्रह्मचर्य अवश्य पालन करना चाहिये। यह बात केवल जैनशास्त्रोंमें ही नहीं है किन्तु पुराणोंमें भी इसका प्रतिपादन किया गया है। यहां पर मैं इतना कहना चाहता हूँ कि यदि गृहस्थ लोग शास्त्रमर्यादाके अनुसार काम नामक पुरुषार्थको सेवन करें तो निश्चय से उनकी सन्तति शक्तिमान् हो। जो पुरुष अपनी स्त्रीको छोड़कर दूसरी पर मन चलाता है वह अपनी स्त्रीको आपही नष्ट करता है। क्योंकि स्त्रियोंको पुरुषकी अपेक्षा आठगुना अधिक काम होता है तिसपर भी उन्हें पतिव्रतधर्मका पालन करनेको बाध्य होना पड़ता है। इसलिये कुलस्त्रियां अपने कुलोंकी मर्यादाकी रक्षा करनेका प्रयत्न करती हैं लेकिन बड़े शोककी बात है कि पुरुष लोग लज्जा को छोड़ स्वदारासन्तोषको जलाञ्जलि दे देते हैं। मैंने ऐसे कितनेही

पुरुषोंको देखा है जो अन्य स्त्रियोंको रखनेसे अपनेमें ज्यादा पुरुषार्थ मानते हैं। वैसे हतभाग्य पुरुषोंको समझना चाहिये कि यह मैथुन-संज्ञा चौरासी लाख योनिके सभी जीवोंमें है। राजासे लेकर रंक तक सभी जीव विषयासक्त हैं किन्तु जो उससे दूर रहे वही वास्तविक महात्मा है। इसलिये जो पुरुष शास्त्रमर्यादानुसार और लौकिक रूढ़िको ध्यानमें रख कर संसारका व्यवहार चलाता है वही पुरुष वास्तव में 'काम' नामक पुरुषार्थको साधन करनेवाला कहा जा सकता है।

पूर्वोक्त तीनों पुरुषार्थोंसे रहित जिस पुरुषके दिन व्यतीत होतेहैं उसकी यद्यपि सांस तो आती जाती है किन्तु वह मरेहुएके तुल्य है जैसे लुहारकी धौंकनी।

यतः—

" यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति " ॥ १ ॥

इस श्लोकका भावार्थ ऊपरही कहाजाचुका है। अब मैं तीनों वर्गोंकी परस्पर अविरुद्धता दिखलानेका प्रयत्न करता हूँ।

तीनों वर्गोंका साधन परस्पर अविरुद्ध रीतिसे करना चाहिये जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति न आवे। देखिये, केवल कामका साधन करनेवाले पुरुषकी आयु शीघ्र ही सम्पूर्ण हो जाती है, जो लोग धर्म और धन (अर्थ) दो पुरुषार्थों का घात करनेसे क्षणिक विषयके सुख में लुब्ध होते हैं वे बनके हाथी की तरह केवल आपदाओंके स्थान होते हैं। जैसे बनका हाथी विषयके सुख में लुब्ध होकर हस्तिघातकोंके द्वारा फँसकर महावेदनाओंका अनुभव करताहुआ मरणको प्राप्त होता है, वैसेही कामासक्त पुरुष शरीर, धन और धर्मका नाश करके दुर्गतिका भागी बनता है। इसलिये केवल कामकी सेवा करना कभी उचित नहीं है। अब देखिये केवल अर्थ को सेवन करनेवाला पुरुष धर्म और काम इन दोनों पुरुषार्थों को उलंघन करनेके कारण बनके सिंहकी भाँति केवल पापका भागी

होता है याने जैसे बनका सिंह हाथीको मार करके दूसरे बनके जीवों के वास्ते छोड़ देता है वैसेही लोभी जीव पाप कर्म से इकट्ठे किये हुये द्रव्यको मरण समय दूसरोंके स्वाधीन कर देता है और स्वयं केवल पापका भागी बनता है । अतएव केवल अर्थकी सेवा करनी भी उचित नहीं है । अब कोई २ यह शंका कर सकते हैं कि केवल धर्मकी सेवा करनेमें क्या हानि हैं ? क्योंकि धर्म तो सबसे श्रेष्ठ है । उसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि यहां पर गृहस्थोंका अधिकार चलरहा है, और केवल धर्मसेवा करना साधुओंकाही धर्म है, गृहस्थोंका नहीं । अतएव केवल धर्मसेवा भी गृहस्थोंके योग्य नहीं गिनी जाती । इसपर कोई २ यह प्रश्न करेंगे कि अर्थ और काम केवल दो पुरुषार्थों का सेवन करने में क्या दोष है ? उसका उत्तर यह है कि मूलभूत धर्मका अनादर करनेवाले बीजभोजी किसान के कुटुम्बी जैसे आगामी काल में सुख के भागी नहीं होते किन्तु दुःखपरंपरा को ही प्राप्त करते हैं वैसेही धर्मका नाश करके केवल अर्थ और काम की सेवा करनेवाले कदापि सुखी नहीं होते । अब कोई २ यह भी पूछ सकते हैं कि धर्म और काम दोनों की सेवा करने में तो कोई दोष नहीं है ?, क्योंकि धर्म करनेवाला परलोक में स्वर्गादि सुख का अनुभव करता है और काम में इहलोक संबन्धी भोगसंयोग मिलते हैं। ऐसा विचार करने वाले पुरुष को समझना चाहिये कि विना अर्थ (द्रव्य) के कोई पुरुष दोनों का साधन नहीं कर सकेगा । द्रव्यको कर्ज़ लेकर धर्म और काम की आराधना करेगा तो देनदार हो जायगा । और अन्तमें कैद होजाने का समय आवेगा । अतएव मालूम होता है कि धर्म और काम केवल इन दोही पुरुषार्थोंके सेवन करनेमें क्षति है । अब कोई २ ऐसा कहेंगे कि धर्म और अर्थ इन्हीं दो पुरुषार्थोंके सेवन में क्या दोष है ? क्योंकि इनके साधनमें ऊपर लिखीहुई अड़चनें तो नहीं आतीं । इसलिये अर्थ पुरुषार्थसे द्रव्य इकट्ठा करके धर्मका साधन करेंगे। " लेकिन सुनिये ! गृहस्थोंका धर्म है

कि संसार के व्यवहारोंको नीतिपूर्वक चलावे। अगर वैसा नहीं होगा तो गृहस्थधर्मका अभाव हो जायगा और गार्हस्थ्याभावसे संसार नहीं चलेगा। तथा साथही साथ यह भी ध्यान में रहना चाहिये कि १ तादात्विक २ मूलहर और ३ कदर्य ये तीन प्रकार के पुरुष भी होते हैं। इनमें तादात्विक उसे कहते हैं जो कुछ भी विचार न करके पायेहुए द्रव्यका अपव्यय करता हो। और मूलहर उसे कहते हैं जो बापदादे के पैदा किये हुए द्रव्यको अन्याय पूर्वक भक्षण करता हो। तथा जो आत्मा तथा सेवकों को दुःख दे २ कर द्रव्य इकट्ठा करता है और उसे किसी काम में व्यय नहीं करता वह कदर्य कहा जाता है। तथा इन तीन पुरुषों में धर्म, अर्थ और काम की अन्योन्य बाधा होसकती है जैसे तादात्विक और मूलहर का अर्थ नाशहोने से धर्म और काम स्वयं नष्ट होजाते हैं इसलिये कल्याण भी नही होता और कदर्य पुरुष के संग्रह किये हुए अर्थ के मालिक राजा, हिस्सेदार तथा चोर ही होते हैं इसलिये वह धर्म और काम का हेतु नहीं होता है अतएव धर्म, अर्थ और काम इन तीनों ही पुरुषार्थोंकी समयोचित रीतिसे परस्पर अविरुद्ध आराधना करनी उचित है। कदाचित् दैव योगसे किसी पुरुषार्थकी हानिका संभव हो तो उत्तरोत्तर हानि होने पर पूर्वहानिकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे किसी पुरुषकी वृद्धावस्था अथवा निर्धन और रोगी हो जाने की दशामें स्त्रीकी मृत्यु हुई तो कामकी हानि हुई तो उस समय धर्म और अर्थ को भी नष्ट नहीं करना चाहिये। धर्म और अर्थ यदि निराबाध है तो अवश्य काम पुरुषार्थकी पुनः प्राप्ति होनेकी संभावना है। कदाचित् अर्थ और काम दोनों की हानि हो जाय तो धर्मकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धर्म ही अर्थ, काम और मोक्षका कारण है।

यतः—

"अर्थः कामश्च मोक्षश्च प्रवर्तन्ते यतस्त्रयः।
स श्रीधर्मः कथं न स्यात् करणीयः सतां नृणाम्?"॥१॥

भावार्थ—अर्थ, काम और मोक्ष ये तीनोंही जिस धर्मके द्वारा

प्राप्त होते हैं वह धर्म सत्पुरुषोंके करने योग्य कैसे नहीं है ? । और भी देखलीजिये, सूक्तमुक्तावलीमें क्या लिखा है–

" त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ " ॥१॥

भावार्थ–तीन वर्गके साधन विना मनुष्यका जीवन भी पशुओंकी तरह निष्फल है । और इन तीनों वर्गों में भी धर्म श्रेष्ठतर है। ऐसा सज्जनलोग कहते हैं क्योंकि धर्मके विना अर्थ और काम होही नहीं सकते । अतएव काम और अर्थ नष्ट होनेपर भी धर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । पाठको ! अब प्रसंगवश आपलोगोंको आत्मकल्याणमें उपयोगी और सदाके लिये स्मरण रखनेयोग्य एक कवि की की हुई उत्प्रेक्षा यहाँपर दिखलाता हूँ । आप लोगोंको अनुभव होगा कि प्रायःसभी लिखनेवाले लिख चुकने पर लेखनीको अपने कान पर रखलेते हैं । उसका हेतु एक कविने एक श्लोक द्वारा यों दिखलाया है:–

"साधुभ्यः साधु दानं रिपुजनसुहृदां चोपकारं कुरु त्वं
सौजन्यं बन्धुवर्गे निजहितमुचितं स्वामिकार्यं यथार्थम् ।
श्रोत्रे ते तथ्यमेतत् कथयति सततं लेखनी भाग्यशालिन् !
नो चेन्नष्टेऽधिकारे मम मुखसदृशं तावकास्यं भवेद्धि " ॥१॥

भावार्थ–लेखनी कान में कहती है कि हे भाग्यशालिन्! मैं ऐसे वैसे मनुष्यके हाथमें नहीं आती हूँ। जिसने पूर्व में थोड़ासा भी ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किया है उसीके हाथमें आती हूँ । तू मेरा स्वामी है अतएव मैं तेरे कानमें सच्ची २ बातें कहती हूँ सुन ले– साधु जनोंको दान दे, शत्रु मित्र दोनोंहीका उपकार कर, बन्धुवर्ग में सुजनता रख और अपना उचित कर ले, तथा स्वामीका कार्य यथार्थ रूपसे कर। यदि मेरी इस हितशिक्षाका अनादर करेगा तो जब तेरा अधिकार नष्ट हो जायगा तब जैसा मेरा मुख है वैसाही तेराभी हो जायगा । अर्थात् मैंने जिस तरह नाक कटायी और मुँह काला किया है उसी तरह

तेरी भी नाक कटेगी और मुँह काला होगा।

प्रिय पाठको ! ऊपर के श्लोक के शब्दों पर आप लोगोंने अच्छी तरह ध्यान दिया होगा और आप सब समझ भी गये होंगे, तौ भी दो एक शब्दों की व्याख्या करदेना मैं अनुचित नहीं समझता हूँ। 'शत्रु और मित्र का उपकार करना' इसी में तत्त्वभरा हुआ है क्योंकि मित्र के उपकार करने में कोई आश्चर्य नहीं है। देखिये मित्रका उपकार प्रेम भाव से होता है और शत्रुका उपकार समभाव से होता है। समभाव रखनेवाला पुरुष जगत् में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रादि की शक्ति से शिला आदि को आकाश में निराधार रखनेवाले सैकड़ों मनुष्य होते हैं, नाम के लिये लाखों रुपये पानी के तरह बहादेने वाले बहुतेरे दिखाई देते हैं और युद्ध में स्वामीकी जय के लिये प्राण देनेवाले लाखों आदमी मौजूद हैं किन्तु शत्रु मित्रपर समभाव रखनेवाले दो चार आदमी भी मिलने कठिन हैं। यतः—

"दृश्यन्ते बहवः कलासु कुशलास्ते च स्फुरत्कीर्तये
सर्वस्वं वितरन्ति ये तृणमिव क्षुद्रैरपि प्रार्थिताः।
धीरास्तेऽपि च ये त्यजन्ति झटिति प्राणान् कृते स्वामिनो
द्वित्रास्ते तु नरा मनः समरसं येषां सुहृद्वैरिणोः" ॥१॥

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर ही लिखा जा चुका है अतएव पिष्ट-पेषण उचित नहीं मालूम पड़ता।

अब पहले श्लोक में 'सौजन्यं बन्धुवर्गे' इस वाक्य की ओर ध्यान दीजिये। यहाँ बन्धुशब्दका अर्थ आप लोग यह न समझलें कि एक माता के दो चार पुत्र हों वेही बन्धु कहे जाते हैं। ऐसा समझना ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह से अर्थका संकोच हो जायगा मैं यह कहता हूं कि इस भारतभूमि में जो २ मनुष्य उत्पन्न हुए हैं वे सभी हमारे बन्धु हैं। ऐसा समझकर उन सभी से सुजनता और प्रेमभाव रक्खो; भिन्नता से भले रहो लेकिन विरोध का सर्वथा त्याग करो; स्पर्धा भले रक्खो पर ईर्ष्या को कभी अपने पास फटकने मत दो।

आपलोग देखते ही हैं क्या इतरदेशों में भिन्नता नहीं है ? लेकिन वे लोग विरुद्धभाव को छोड़कर किस प्रकार स्वतन्त्र राज्य चला रहे हैं। उसी तरह जब आप लोगोंमें से भी विरुद्धता नष्ट हो जायगी। तभी आप स्वराज्य के भोक्ता बन सकेंगे। अन्याय अनीति और अनारकिस्टों की तरह घातकपने से स्वराज्य के भागी बनना तो दूर रहा प्रत्युत राज्यविद्रोही बनकर नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की मर्यादा का त्याग करने के कारण प्रायश्चित्त के भागी बनोगे। इस भांति नीति शास्त्र कहता है। योगशास्त्र में भी कहा है कि– "**अवर्णवादो न कापि राजादिषु विशेषतः**" भावार्थः– किसीका अवर्णवाद अर्थात् निन्दा नहीं करनी चाहिये; राजादिकों की तो कदापि नहीं करनी चाहिये। उसी प्रकार मैं कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य की पूर्वोक्त हित-शिक्षा को निरन्तर हृदय में रखने की आपलोगों से प्रार्थना करता हूँ। धर्मशास्त्रों में भी "**राजाधिपानां शान्तिर्भवतु**" इत्यादि महावाक्य दृष्टिगोचर होते हैं। उसका मूल कारण अगर देखा जाय तो अवश्य ऐसा प्रतिभास होगा कि राजाधिपों को शान्ति होगी तो मांडलिक राजाओं की भी शान्ति होगी, मांडलिक राजाओं की शान्ति होने से प्रजा को भी शान्ति होगी और प्रजाओं की शान्ति से धर्मसाधकों को भी शान्ति होने का संभव है अर्थात् जब दुनियां को शान्ति होगी तब तो एक को भी शान्ति होगी। आप लोग समझ सकते हैं कि दूसरे की अशा-न्ति के समय में अगर कोई पुरुष शान्ति का आस्वाद लेना चाहे तो कदापि मिलनेवाला नहीं है। इस लिये मेरी यह शिक्षा है कि अन्याय अनीति और घातकीभाव को छोड कर अपने २ उद्यम में लग जाओगे तो अवश्य ही देश के साथ आप लोगों का वास्तविक बन्धुभाव उत्पन्न होगा और लेखनी की उपर्युक्त हितशिक्षा भी सफल होगी।

पाठको ! अब मैं पुरुषार्थ के चौथे और सब से गहन विषय 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ की व्याख्या सरल शब्दों में आपलोगों के हृदयंगम कराने की चेष्टा करूँगा। सुहृद्गण ! आपलोग समझते ही हैं

कि इस संसार में सब जीवों के व्यवसाय अलग अलग हैं, जाति भिन्न २ है, बुद्धि भी भिन्न २ है और शारीरिक संपत्ति भी भिन्नही भिन्न मालूम होती है। तथापि लक्ष्य सब का द्रव्योपार्जन करने का ही है। कर्मानुसार लाभ मिलता है। इसी प्रकार षड्दर्शन के अनुयायिजनों की क्रिया भिन्न है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म भी भिन्न भिन्न हैं। कल्पनाओं, शास्त्रादि तत्त्वचिन्तना और आत्मसम्बन्धी ज्ञान-प्रणाली भिन्न भिन्न देखते हैं तथापि मोक्षबिन्दुपर सब का लक्ष्य है। कितने बिचारे विश्वाससे मोक्षके लिये प्रयत्न करनेपर संसार में गिर पड़ते हैं। जैसे किसी पुरुषको मिर्ज़ापुर से काशी जाना है टिकट भी काशीही का लिया है किन्तु किसी धूर्त से बहकाया हुआ अथवा अपने मतिभ्रम से वह इलाहाबाद की ट्रेन में जा बैठा। तदनन्तर उसको किसी सज्जन से भेंट हुई उसने पूछा " भाई ! कहाँ जाते हो ? " उसने कहा, " मैं बनारस जाता हूँ " सज्जनपुरुष ने फिर कहा, " भाई यह ट्रेन तो काशी नहीं, इलाहाबाद-जाती है। " तब उस भद्रपुरुष ने कहा, " देखिये, मेरे पास काशी का टिकट है तो मैं इलाहबाद कैसे जाऊँगा ! " बात ही बात में गाड़ी स्टेशन पर आलगी। टिकट इलाहाबाद का नहीं पाकर टिकटवाले ने उसे पकड़ लिया। दूना किराया देकर पिण्ड छूटा। फिर लौटे। उसी प्रकार कितनेही बिचारे भद्रपुरुष मुक्तिनगरी के अभिलाषी होकर दान, शील, तप और भाव आदि रूप टिकट लेकर रवाना होते हैं। इतने में जड़वादी नास्तिकों का समागम होने से वे श्रद्धा को नष्ट कर उन्मार्ग में चले जाते हैं। दानादिरूप टिकट होनेपर बिचारे मुक्तिके भ्रमसे दुर्गति नगरी का रास्ता पकड़ते हैं। इतने में कोई अन्य पुरुष उनसे पूछता है भाई ! ऐसे कृत्य क्यों करते हो ? तब जवाब मिलता है कि मुक्ति के लिये। तब वह भव्य कहता है, ऐसे धर्म विरुद्ध कृत्य से तो मुक्ति नहीं मिलती है। उसके जवाब में वह भ्रान्त पुरुष कहता है कि सच्चा मार्ग मेराही है क्योंकि आत्मज्ञान, पुण्य, पाप, नरक,

स्वर्ग, धर्म तथा अधर्मादि माननेवाले के मनमें अनेक झगडे होतेही हैं और जहाँ झगडे होते हैं वहां रागद्वेष होते हैं। रागद्वेषवाले पुरुषों को मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता है और हमारे सिद्धान्त में आत्मादि पूर्वोक्त वस्तुओंका अभाव होने से झगड़ों का भी अभाव है झगडे नहीं है तो रागद्वेष का भी अभाव हुआ, रागद्वेष का अभाव होनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध दृष्टि में आती है। ऐसी असत्कल्पनारूप जाल में फँस कर कितने ही जीव मुक्तिमार्ग को भूल कर दुर्गति के मार्ग पर जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। आपलोग समझिये कि जिसके मतमें आत्मा पदार्थ नहीं है उस मार्ग में मुक्ति शब्द का व्यवहार करना खरशृङ्गके समान है। महाशयो! नास्तिकों की युक्ति प्रबल होने पर भी आस्तिकों को असर नहीं करती है किन्तु भद्रिकप्राणियों को अवश्य धर्म मार्गसे परिभ्रष्ट करती है। इसी कारण षड्दर्शनके अनुयायिपुरुषोंने आत्मसिद्धि के लिये अनेक युक्तिप्रयुक्तियाँ दी हैं। मैं पहलेही कह चुका हूँ कि सभी दर्शनकारोंने मुक्ति की सत्ता स्वीकार तो की है। किन्तु मुक्ति के मार्ग भिन्न२ दिखलाये हैं ततः कितने मुमुक्षुजन स्वबुद्धि के अनुसार अर्थ करके एक दूसरे से अलग हो कर सच्चे मार्ग की निन्दा करनेका अर्थात् खण्डन करनेका काम अपने हाथ में लेकर तत्त्वज्ञान से विमुख रहते हैं। इस बातका हमारे मनमें निरन्तर खेद बना रहता है और इसी से उस खेद को दूर करने ही के लिये हमने इस प्रकार आप लोगों के ऊपर अपने विचार प्रकट करने आरंभ किये हैं। ऐसा करने से यद्यपि आप लोग अन्यधर्म में श्रद्धावान् होने के कारण अथवा और ही किसी कारण से हमारी युक्तियों को नहीं मानेंगे तथापि हमारे मनका खेद किसी अंश में अवश्यही कम होगा क्योंकि जिस मनुष्य की भावना शुभ होती है उसको शास्त्रकारोंने लाभ ही बतलाया है। इसी न्यायका अवलम्बन करके मैं मुक्ति के प्रतिपादन में अग्रसर होता हूँ।

मुक्ति शब्द की सामान्य व्युत्पत्ति इस तरह है " मुच्यते

कर्मणेति मुक्तिः" अर्थात् कर्म से मुक्त होनेही का नाम मुक्ति है । और मुक्त होने की इच्छा किस मनुष्य को नहीं होती किन्तु इच्छाके अनुसार कार्य होने में विरुद्धता आती है क्योंकि मुक्ति-मार्ग में रागद्वेषादि बिल्कुल नहीं है । लेकिन बड़े अफसोस की बात है कि अभागे जीवों के लिये मोह, सम्मोह, अतिमोह और महामोहरूपपवन, रागद्वेषरूप कण्टकों को लाकर मुक्ति के मार्ग में डाल देता है उससे बिचारे जीव पीछे लौट कर अपने स्थान में खडे रहते हैं ।

सज्जन पाठकवृन्दो ! मोह महाराजका प्रपञ्च बहुतही विलक्षण है । जैसे धन, धान्य, पुत्र, पुत्री, कलत्रादि का दुनियाँ में मोह होता है वैसेही धर्म कर्म का भी मोह होता है । जो मोह मनुष्य को धर्मनिमित्त पागल बनाकर असत्कल्पना में डाल कर दुर्गतिकी ओर ले जाने में नहीं भूलता है । अतएव मुक्ति के अभिलाषी जीवों को मोहके द्वारा उत्पन्न किये हुए ममत्व भावको त्याग कर प्रत्यहं अनभिनिवेशित बनना चाहिये– अर्थात् आग्रह को छोड़ कर सत्य पदार्थ का चिन्तन करना, रागद्वेष कम करना, पाप की भाँति पुण्य को भी त्याग करना, क्योंकि पुण्य पाप का जब सर्वथा क्षय होता है तब ही वह केवल ज्ञानका अधिकारी होता है । वह जीव, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मको समूल नाश करता है । पश्चात् आयुष कर्म, नाम कर्म, गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म की जब सर्वथा निवृत्ति होती है तब सिद्ध बुद्ध, निरञ्जन, निराबाधादि विशेषणयुक्त होता है उसका सुख कैसा और कितना होता है सो कहने के लिये उपमानपदार्थ और प्रमाण नहीं होने से अनुपमेय अनन्त शब्द से प्रयोग करना पड़ता है । आपलोग जानते होंगे कि जगत् में कितनेही पदार्थ विद्यमान हैं पर सदा अनुभव में आनेपर भी हम लोग उनके स्वादादि को नहीं समझ सकते हैं । जैसे घी को सब कोई खाता है उसका स्वाद सब कोई जानता है कि सुन्दर है लेकिन वह स्वाद किसके जैसा है सो

भी नहीं बतला सकेगा। बस इस बात से आपलोग समझ गये होंगे कि जिसवस्तु का हम लोग रात दिन अनुभव करते हैं उसका स्वाद कहने को भी हम लोग असमर्थ हैं तो मोक्षसुखकी उपमा मुझे कोई नहीं मिली तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बस इतनी भूमिका की भांति कहकर अब मैं प्रत्येक दर्शनकारों ने जो भिन्न२ प्रकार से किन्तु तात्पर्य्य में एक जैसे मुक्ति के स्वरूप दिखलाये हैं उनका दिग्दर्शन कराता हूँ।

आप लोग जानते हैं कि मुक्ति निरुपाधिक है तथापि मुक्ति के विषय में अनेक उपाधियां खड़ी होती हैं। वह भी हमारे मोहमहाराज के साम्राज्य के सिवाय और कुछ भी नहीं है। मोहमहाराज का ज्येष्ठ पुत्र 'मिथ्याज्ञान' मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवेश करके स्वेच्छाचार से नयी २ कल्पनाओं को बनाकर विना जलके रण में इधर उधर दौडाता है। सन्मार्ग के अक्षर घुणाक्षरन्याय से शब्द रचना रूप निकल जाते हैं तौ भी अर्थ के समय जरूर अनर्थ को पैदा करता है। उसका दिग्दर्शन कराने के लिये मैं यहां पर भिन्न भिन्न सिद्धान्तों को दिखलाता हूँ।

१ केचिद्वदन्ति गुरुवचने निश्चयो मोक्षमार्गः।

२ केचिद्वदन्ति गुणातीतवस्तुज्ञानं मोक्षमार्गः।

३ केचिद्वदन्ति ॐ साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यतोभयपक्षविहीनवस्तुज्ञानं मोक्षमार्गः।

४ केचिद्वदन्ति एकदेशस्य सिद्धान्तकथितमुक्तिविधानं मोक्षमार्गः।

५ केचिद्वदन्ति व्यापकसकलागमशास्त्रार्थनिष्ठाचारकारणं मोक्षमार्गः।

६ केचिद्वदन्ति मनःपवनमध्ये ध्यानधारणं मोक्षमार्गः।

७ केचिद्वदन्ति महावाक्यविवरणं मोक्षमार्गः।

८ केचिद्वदन्ति दृष्टादृष्टोभयज्ञानाभावो हि मोक्षमार्गः ।
९ केचिद्वदन्ति अस्तिनास्तीत्युभयविलयो मोक्षमार्गः ।
१० केचिद्वदन्ति सोऽहं सोऽहं सहजानन्दात् समरसत्वं मोक्षमार्गः।
११ केचिद्वदन्ति मौनाङ्गीकाराद्धि मोक्षमार्गः ।
१२ केचिद्वदन्ति स्वात्मानन्दबोधमयो मोक्षमार्गः ।
१३ केचिद्वदन्ति नानातीर्थयात्राजपतपोदानव्रतैर्मोक्षमार्गः ।

इत्यादि मोक्षमार्ग शंकरस्वामीने अपने वज्रसूचीनाम के ग्रन्थ में दिखलाये हैं । यह बात अन्य मत का खण्डन और अपने मत का मण्डन करने के आशय से लिखी हुई मालूम होती है परन्तु मेरा उद्देश्य केवल वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन है अतएव अपने पूर्वोक्त कथनानुसार सर्ववादियों का अनेकान्त दृष्टि से अन्वेषण किया जाय तो सब कोई **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** इस बात पर आकर खड़े होंगे और वही सच्चा मोक्ष मार्ग है । अब क्रमशः मैं पहिले दिखलाये हुए मोक्ष मार्ग के भिन्न भिन्न स्वरूपों की समीक्षा करता हूँः—

(१) प्रथम दर्शनकारने जो गुरु वचन में निश्चय रखने वाले को ही मोक्ष होना बतलाया है । यह बात अनेकान्तदृष्टि से अयुक्त नहीं है क्योंकि यह बात सब मानते हैं कि गुरुके विना ज्ञान नहीं है । ज्ञान दर्शन दोनों अव्यभिचरित हैं और दर्शन के विना चारित्र प्राप्ति का संभव भी भूँसे की ढेरीकी तरह व्यर्थ है ।

(२) द्वितीय दर्शनकार जो गुणातीत वस्तुज्ञान को ही मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं यह बात थोडी देर तक विचारने योग्य है । देखिये गुण तीन हैं १ सत्त्वगुण २ रजोगुण ३ तमोगुण और जिनका हमारे जैन लोग पौद्गलिक सुख, दुःख और मोह के नाम से व्यवहार करते हैं । यहाँपर विचार करने का स्थान तो यही है कि गुणातीत कौन है ? सर्वदर्शी परमात्मा- उसका यथार्थ ज्ञान वही मोक्ष है ।

इस प्रकारके कथन करनेवालों ने भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र का स्वीकार किया है। यह बात सुस्पष्ट है। ज्ञान श्रद्धा अव्यभिचरित होती है। जहाँ ज्ञानश्रद्धा है वहाँ चारित्र तो अर्थापत्ति से ही सिद्ध है। मानलो कि कदाचित् द्रव्यचारित्र न हो तौ भी भावचारित्र तो होनाही चाहिये। अतएव मूलस्थान पर इस मतवाले भी आकर खड़े रहेंगे।

(३) अब तीसरी कोटि जो साकार का नाश और निराकार की शून्यता इन दोनों पक्षोंसे अलग वस्तु के ज्ञान होने को मोक्ष बतलाती है उस सिद्धान्त का रहस्य मैं अन्वेषण करके आपको बतलाता हूँ– आपलोग समझते होंगे कि इस सिद्धान्त को मानने वाले किस वर्ग के लोग हैं परन्तु इस दिखलाने का कार्य मेरे शिर पर नहीं है क्योंकि खण्डन मण्डन की प्रणाली मुझको पसन्द नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल यही दिखलानेका है कि सब दर्शनों के अनुयायी १ ज्ञान २ दर्शन और ३ चारित्र को तो अवश्यही स्वीकार करते हैं। कदाचित् क्षयोपशम की विचित्रता से किंवा अन्यही किसी कारण से कोई कपोलकल्पित अर्थ करे तो उससे मुझे कोई हानि नहीं है पर माननेवाले और मनानेवाले को जो हानि पहुँचेगी वह अनिवार्य है। जड साकार वस्तुका नाश और जड निराकार वस्तु की शून्यता रहित वस्तु का ज्ञान सो ठीक है। जड साकार वस्तु घटपटादि है, जड निराकार वस्तु आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, इत्यादि। अब प्रश्न उठता है कि इन सब वस्तुओं से भिन्न कौन है? इसका उत्तर यह है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान् और उसका यथार्थ ज्ञान वही मोक्ष। और ज्ञानके साथ श्रद्धा और चारित्र की अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति मैं पहिलेही बतला गया हूँ अतएव उसके सम्बन्ध में कुछ कहनेकी जरूरत नहीं है। अब मैं चौथे पक्ष की समीक्षा में प्रवृत्ति करता हूँ–

(४) चतुर्थ पक्ष कहता है कि एक देशिक सिद्धान्त में दिखलाया हुआ मुक्तिका विधान वही मोक्ष कहलाता है। देखिए उसका

तात्पर्य इतना ही मात्र है कि एकदेशनिष्ठ सिद्धान्तकथित मोक्ष है उसकी साधना अर्थात् धारणा तथा तत्संबन्धिनी चिन्ता ही मोक्ष कहलाती है। मालूम होता है कि यह पक्ष भी यथास्थित वस्तुस्वरूप के ज्ञान को ही मुक्ति कहता है। यह बात उक्त कथन से सिद्ध होती है। जहाँ उसप्रकारका ज्ञान है वहां अवश्यही श्रद्धा किंवा दर्शन रहता है और जहां श्रद्धा है वहां चारित्र भी अवश्य है। और जहां वे तीनों ही हैं वहां तो मोक्ष अर्थ सिद्ध ही है। अब मैं पञ्चम पक्षका अनुसन्धान करना आरम्भ करता हूँ।

(५) पञ्चमपक्षीय महाशयोंका यह मत है कि सकल आगम के विचार में रहाहुआ व्यापक जो विचार है उसी की साधना का नाम मोक्ष है। पाठकवर्ग! कथन तो ठीक है। जहां तत्त्वज्ञान में मोक्ष की बुद्धि है वहां विशेष झगडे का अवकाश नहीं रहता है। किन्तु वास्तविक तत्त्वज्ञान किसको कहना चाहिये? यह प्रश्न तो बना ही रहता है। मैं इस प्रश्न का संक्षेप में निराकरण करता हूँ। देखिए तत्त्वका यथार्थ अर्थ स्वरूप है, इसलिये तत्त्वज्ञानका अर्थ हुआ– स्वरूप का ज्ञान। यदि ऐसा प्रश्न उठे कि किसका स्वरूप? तो उसका उत्तर यही है कि पदार्थका। पदार्थ कितने हैं? इसके सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य बहुत है। किन्तु साधारणतः दोही पदार्थों में सन्तोष मान लेता हूँ, वे दो पदार्थ जीव और अजीव हैं। बस इन्हीं दोनों में सब पदार्थों का समावेश किया जाय तो हो सकता है। अब छठें पक्षकी समालोचना पर आता हूँ–

(६) छठें पक्षकी कोटी यह है कि मनरूपी पवन में ध्यानका धारण करना उसीका नाम मोक्ष है। इसी बात को मैं शब्दान्तर में यों कह सकता हूँ कि रागद्वेषरूपी पिशाचों के पञ्जों से दूर रहकर शुद्ध-स्वरूप सिद्धपुरुषों को ध्यान द्वारा स्वगोचर करना– तद्रूप होना तथा अभेदज्ञान पैदा करना। ध्यानी मनुष्य ध्यान को स्वीकार करते हैं और उसे ही मोक्षका मार्ग मानते हैं। ऐसे मतवाले भी प्रकारान्तर

से दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी अगत्यता को पूरा २ मान देते हैं। यह बात सुस्पष्ट है। अब पाठकों को सप्तम पक्षकी समीक्षा करके दिखलाता हूँ।

सप्तम पक्ष कहता है कि **'महावाक्यविवरणे मोक्षः'** यहाँ पर महावाक्य वे लोग किसको कहते हैं, और उसमें वे लोग कहाँ तक भ्रान्त हैं यह मैं आप लोगों को आगे चलकर बतलाऊँगा, किन्तु यहां पर इतनाही कहता हूँ कि सप्तम पक्षवाले इस बातको पूर्णरीतिसे स्वीकार करते हैं कि महावाक्य के विवरण में मोक्षमार्ग है। इस प्रकार महावाक्य के विवरण में मोक्ष को माननेवाला समूह प्रकारान्तर से मूलमार्ग की सीढ़ी पर किस प्रकार आरोहण करता है सो देखना चाहिये। उनलोगों के मतानुसार उनका महावाक्य **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इस तरह है। इसी महावाक्य को समझने का नाम मोक्ष प्रमाणित करते हैं। पूर्वोक्त महावाक्य में सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म ये चार शब्द सुस्पष्ट हैं और बड़े रहस्य को सूचित करते हैं। पृथक् २ अर्थ किया जाय तो सत्यं का अर्थ अविनाशी, ज्ञानं का अर्थ ज्ञानस्वरूप, अनन्तं का अर्थ अखण्ड और ब्रह्म का अर्थ परिपूर्ण होता है। अब उन सब अर्थों को मिला दीजिये तो "अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड और परिपूर्ण वस्तु के ज्ञान से मोक्ष होता है" ऐसी ध्वनि अवश्य निकलेगी। संक्षेपतः, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप यदि कोई वस्तु है तो वह परमात्मा ही है। परमात्मा का सम्यग्ज्ञान, यही सम्यग्दर्शन है उनके साथ ज्ञान तो सिद्ध ही है। यह बात तो मैं पहलेही कह आया हूँ। जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की स्थिति निर्विवाद सिद्ध होती है तब तो चारित्र के लिये विशेष युक्ति प्रयुक्ति देने का कोई काम नहीं है। अब अष्टम पक्ष का दिग्दर्शन कराता हूँ।

प्रियपाठको! अष्टम पक्षवाला कहता हैकि **"दृष्टादृष्टोभयज्ञानाभावो हि मोक्षः"** निष्पक्षपात रीति से अब मुझे कहनेका अवसर दीजिये

कि उपर्युक्त सूत्रके ऊपर विश्वास रखनेवालों की अर्थपद्धति और विचार-श्रृङ्खला में तत्त्वाभास का थोड़ा ही दर्शन होता है । सूत्रकारने दृष्ट और अदृष्ट दोनों ज्ञान के अभावको मोक्ष मान लिया, किन्तु वैसे मानने में स्वयं मोक्ष ही शून्यरूप बन गया । उसका तो ज्ञान ही नहीं रहा । ऐसे माननेवालों को यदि शून्यवादी कहा जाय तो तौ भी कोई हानि नहीं मालूम पडती है । उभयज्ञान के अभाव को मोक्ष माननेवाले पक्ष से मेरा केवल एक ही प्रश्न है कि मोक्षावस्था में जब ज्ञानमानने में नहीं आवेगा तब अन्य किस वस्तु का अवकाश मानोगे ? इसका उत्तर प्रायः यही मिलेगा कि ' कुछ नहीं ' । बस ! इन्हीं शब्दों से प्रकट होता है कि तब तो मोक्ष भी कोई वस्तु नहीं है । किन्तु नहीं ! मोक्ष है । वैसा तो वे लोग स्वीकार करते हैं । ऐसी अवस्था में मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि पूर्वोक्त सूत्रका अर्थ करने में वे लोग कितनी भूल करते हैं सो दिखलाने का प्रयत्न करूँ। सूत्रका अर्थ इस प्रकार करने से मोक्षमार्ग निर्विवाद सिद्ध होगा । सुनिये– दृष्टका अर्थ सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष, और अदृष्ट याने परोक्ष; दोनों प्रकार के ज्ञान का अभाव यही मोक्ष है । अब तो यह निश्चय है कि इस प्रकार के ज्ञान का प्रयोजन केवलज्ञानियों की स्थिति में नहीं होता है क्योंकि ज्ञानी ही केवल मोक्षगामी हैं यह तो निःसंशय है । जबतक केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है तभी तक छद्मस्थ भाव रहता है । छद्मस्थभावमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष उभयज्ञानकी विशेष आवश्यकता है । दोनों प्रकार के ज्ञानके निश्चय को सम्यक्त्व कहते हैं । सम्यक्त्वके साथ सम्यग्ज्ञान अव्यभिचरित होता है । और सम्यग्ज्ञानके साथ ही चारित्र का अविष्वग्भाव मैं पहले ही निर्णीत कर चुका हूँ । बस अब यहाँ पर ऐसे निर्णय पर आने में कोई दोष नहीं मालूम होता कि दृष्टादृष्टोभयज्ञानाभावको मोक्ष माननेवाले वादी लोगोंने अपनी अज्ञानदशामें भी सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गका स्वीकार तो अवश्यही किया है ।

पाठको ! इन पूर्वोक्त आठ पक्षों की समालोचना करने में मैंने आप लोगों को बहुत उलझा रक्खा, अभी और बहुत कुछ लिखना शेष है। आप लोग इन आठों पक्षों की समालोचना से अवश्य समझ गये होंगे कि सब पक्षवाले इधर उधर जाकर भी अन्त में **"सम्यगूदर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** इस महान् वाक्य पर आकर खडे होते हैं अतएव मैंने शेष पक्षवालों की समालोचना करनी छोड़ दी है।

अब मोक्षमार्ग में जैसा विवाद है वैसाही मोक्ष के स्वरूप में भी विभिन्न मत हैं। मोक्ष के अस्तित्व में किसी आस्तिक को विवाद नहीं है। मार्ग के भिन्न भिन्न भेदों को तो मैंने दिखलाया अब मैं मोक्ष के स्वरूप दिखलाने की कोशिश करता हूँ।

१ स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासहवृत्तिदुःखध्वंसो हि मोक्षः।

(नैयायिकाः)

भावार्थ—अपने अधिकरण में रहनेवाला और दुःखप्रागभाव के साथ नहीं रहनेवाला ऐसा जो दुःखध्वंस है, उसका नाम मोक्ष है।

अथवा एकविंशतिदुःखध्वंसो हि मोक्षः।

अथवा दुःखात्यन्ताभावो हि मोक्षः।

२ परमानन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलयो हि मोक्षः।

(त्रिदण्डिविशेषाः)

३ अविद्यानिवृत्तौ केवलस्य सुखज्ञानात्मकात्मनोऽवस्थानं मोक्षः।

(वेदान्तिनः)

४ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः। (सांख्याः)

५ अनुप्लवचित्तसंततिर्मोक्षः। (बौद्धाः)

६ वीतरागजन्मादर्शनात् नित्यनिरतिशयसुखाविर्भावाद् मोक्षः।

(भाट्टाः)

७ कृत्स्नकर्मक्षयो हि मोक्षः। (जैनाः)

पाठको ! यहाँ पर अगर मैं विशेष विवेचना करूँगा तो आप लोगों के हृदयादर्श में ऐसा प्रतिभास होगा कि हमलोगों का खण्डन

करते हैं और जैनों का मण्डन करते हैं अतएव ऐसा नहीं करके भव्य जीवों को स्वयं विचार करने का अनुरोध करता हुआ समस्त कर्मों के नाश में मुक्ति माननेवाले जैनलोग कौन कौन कर्म मानते हैं ? उनके नाम, भेद, बन्ध के कारण और नाश के कारण दिखलाऊँगा, तदनन्तर जीव स्वसत्ता को प्राप्त करके कौनसी स्थितिवाला होता है और कहाँ अवस्थान करता है फिर संसारी होता है या नहीं ; इसका स्वरूप बतलाऊँगा– आशा करता हूँ कि आपलोग बराबर ध्यान दे के पढ़ेंगे, मुझे इतना कहने दीजिए कि मैं जो बात कहना चाहता हूँ सो बात वेद, पुराण, स्मृति आदि किसी में नहीं है– केवल जैन तत्त्ववेत्ताओं ने परोक्ष पदार्थों को केवलज्ञानद्वारा प्रत्यक्ष करके भव्य-जीवों के हितार्थ दिखलाये हैं– मै यहां जो बात कहूंगा सो जैन बालक भी जानता है अतएव मेरे मन में गहन विषय नहीं है किन्तु आपलोगों को अपरिचित होने से संकेतितशब्दों को सरल और सीधी रीति से समझाऊँगा ।

'क्रियते अनेन इति कर्म' अर्थात् प्रमाद; कषाय, अविरति, योग और मिथ्यात्व इन पाँचसे कर्म बांधे जाते हैं–उन कर्मोंके मूल आठ भेद हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म । ये कर्म संसारिजीव पर होते हैं और इसीसे ही संसार विचित्र मालूम होता है, कर्म की सत्ता हरएकदर्शन-कारोंने स्वीकारकी है केवल नामान्तर (संज्ञान्तर) मात्र भेद है, जैसे कर्म प्रकृति, प्रारब्ध, संचित, माया, अविद्या और पञ्चस्कन्धादि नामों से व्यवहार करते हैं। कर्म शुभाशुभ है और पुण्य पाप का कारण है, पुण्य पाप कर्म का कार्य है । पुण्य पाप स्वर्ग नरक का कारण है स्वर्ग नरक पुण्य पाप का कार्य है । मूल आठ प्रकार के कर्मों के दो विभाग किये हुए हैं ? चार घाती, चार अघाती, इनमें से घातीकर्म सर्वथा आत्मसत्ताको दबादेते हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय अन्तराय और मोहनीय ये चार घाती कर्म कहे जाते हैं । इससे भिन्न चार

अघाती कहेजाते हैं। पूर्वोक्त चार घाती कर्मों का नाश सर्वथा होता है तब जीवको केवलज्ञान होता है । और तब ही केवली गिना जाता है। जब शरीर को छोड करके जीव मोक्ष में जाता है तब दूसरे अघाती चार कर्म– वेदनीय, आयुष, नाम, और गोत्रका नाश होता है उसी तरह आठ कर्मों के नाश होने से जीव मोक्षगामी गिना-जाता है । कभी भी जन्मजरा मरणादि दुःखका भागी नहीं होता है अगर हो तो उसको मोक्ष प्राप्ति नहीं मानी जायगी। मोक्षगामी कभी संसारी नहीं होसकता जैसे दग्ध हुआ बीज कदापि उगता नहीं है वैसेही जिसके कर्मरूप बीज जल गये हैं सो कदापि संसार में नहीं आता, अगर आजाय तो मोक्ष कल्पनारूप ही होजायगा "**प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते**" अर्थात् प्रयोजन सिवाय मन्द भी प्रवर्त्तमान नहीं होता है, तो मोक्षगामी जीव को कौन प्रयोजन बाकी है कि प्रवर्तमान होजाय ? कोइ कहेगा कि दया का प्रयोजन है तो मैं कहता हूँ कि दया इच्छाधीन होती है, इच्छा रागाधीन है, और राग द्वेष का सहचारिपना है तब तो मोक्षमें रागद्वेष होना चाहिये, और यह बात तो किसीको स्वीकार नहीं है, बस इतना प्रसङ्गोपात्त कह करके अब मैं कर्म के कारण बतलाता हूँ–

ज्ञान और ज्ञानी पर द्वेष करना, पढ़ानेवाले की निन्दा करनी, ज्ञानके साधनों का नाश करना, ज्ञानी और ज्ञानकी अत्यन्त अवज्ञा करनी, और पढ़ने वालेको विघ्न करनेसे ज्ञानावरणीय कर्मका और इसीतरह दर्शन के प्रति अनिष्ट आचरणादि दोषोंसे दर्शनावरणीयकर्मका बन्ध होता है। दुःख, शोक संताप, आक्रन्दन, वध इत्यादि स्वयं करे अथवा परको करावे तथा उभय को उत्पन्न करे, उससे जीव अशातावेदनीय कर्म बांधता है । प्राणीमात्र की दया, अनुकम्पादान, सरागसंयम, देशविरति, बालतप, जोग, क्षान्ति अन्तःकरणकी पवित्रतारूप शौच, देवपूजा और गुरुसेवा इत्यादि करनेवाला सातावेदनीय कर्म बांधता है। अब मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय एवं मुख्य

दो भेद हैं इसके बन्धके कारण अलग अलग बतलाता हूँ।

सर्वज्ञसिद्धि तथा देवोंका अपलाप करना, धार्मिकपुरुषों में दोष निकालना, उन्मार्गका उपदेश देना, अव्रती की पूजा करनी, अविचारित कार्य करना, और पूज्यगुर्वादिकों का अपमान इत्यादि करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म बांधता है। क्रोध मान माया लोभादि कषायोंके उदयसे पौद्गलिकभावका तीव्र परिणाम करनेवाला चारित्र मोहनीयकर्म बांधता है। पाञ्चवें आयुष कर्म के चार भेद हैं उसके बन्ध के कारण भिन्न भिन्न हैं सो दिखलाता हूँ।

बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह पञ्चेन्द्रियवध और मांस भोजनादि करनेवाला नरकायुषका बन्ध करता है, कपटभाव और आर्तध्यानादिक करनेवाला तिर्यञ्चायु बांधता है, थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह करनेवाला, मृदु तथा सरलस्वभावी जीव मनुष्यायु बांधता है। सरागसंयम, देशविरति असञ्जमवाला, अकामनिर्जरा करनेवाला, बालतपस्वी देवायु बांधता हैं। शील तथा व्रतरहित जीव सब आयुष बांधनेका अधिकारी होता है जैसी बुद्धि होवे वैसा आयुष बांधे। अब छठे नामकर्मके उदय से शरीरादि अवयव शुभाशुभ मिलते हैं। उसके शुभ अशुभ ये दो भेद हैं उसके भी बन्ध कारण भिन्न भिन्न हैं। मन वचन और काया के योग को अशुभ मार्ग में लेजाने से, असत्य बोलने से अशुभ नाम कर्म बांधा जाता है, उससे विपरीत वर्त्तन करने से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। अब सातवाँ गोत्रकर्म है इसके दो भेद हैं (१) उत्तम गोत्र और (२) नीचगोत्र। इसमें प्रथम नीचगोत्र के कारण बताकर फिर उत्तम गोत्र के कारण बताऊँगा। परनिन्दा, आत्मस्तुति, परके सद्गुणों का आच्छादन करदेना, आत्मगुणों का प्रकाश करना, इससे नीचगोत्र बांधा जाता है। और उससे विपरीत वर्त्तनसे उत्तमगोत्रकर्म का बन्ध होता है। अब आठवें अन्तराय कर्म के बन्धन के कारणों की व्याख्या करके आप लोगों को दिखलाता हूँ—

जिस वस्तु का अन्तराय करने में आवे उस चीजके नहीं मिलनेका कर्मबन्ध होता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य इन पाञ्चों के अन्त में अन्तरायशब्द लगाने से दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कहे जाते हैं। यदि दानका अन्तराय किया हो तो धन और पात्र मिलने पर भी दान नहीं दिया जाता है, उसी तरह सबमें समझ लेना चाहिए। यहां पर बालजीवों को शङ्का होगी कि साधुलोग त्यागका उपदेश देकरके जीवोंको भोग और उपभोगादि से निवृत्त करते हैं तो अन्तराय कर्म जरूर बांधते होंगे। इसके उत्तर में समझना चाहिये कि साधु लोग तुच्छ, विनश्वर, दुःखदायी, भोग, उपभोग को त्याग करा-करके, अतुच्छ, अविनश्वर, अनन्तसुखमय, वास्तविक भोगके भागी जीवों को बनाते हैं, जो बलात्कारसे प्राणिओंकी इच्छारहित, विघ्न कर होता है सो ही अन्तराय कर्म बांधता है। मुनिलोग तो अन्तराय कर्म के नाशक होनेसे हजारों जीवों को तुच्छ, विनश्वर, भोगसे मुक्त कराते हुए स्वयम्, अन्तरायादि कर्मोंका अन्त करके केवली होते हैं। 'परिणाम से बन्ध और क्रिया से कर्म' यह वाक्य बराबर विचार करने योग्य है। कर्मबन्ध के कारणों से जीव अलग रहकरके यदि शान्तिपूर्वक अनवद्य तप करे तो पूर्वोक्त अविशिष्ट कर्मों को नष्ट करके मुक्ति नगर का निवासी अवश्य बने, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है। कोई आदमी प्रश्न करे कि तप में अनवद्य विशेषण आपने दिया तो क्या सावद्य तप भी होता है? जवाब में यह कह सकता हूँ कि जिस तप में अन्य जीवों को पीडा हो सो सावद्य तप कहा जाता है। जैसे पञ्चाग्नितप, सेवालभोजन-तप, नीम्बका रस तथा पर्युषितान्नभोजन इत्यादिरूप नियम हैं कि जिसमें अनेक निरपराधिजीवों की जान जाती है। इस भाँति नहीं करके आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों ने ग्रीष्म ऋतु में तप्तशिलापर अथवा तपी हुई बालुका में यथाशक्ति आतापना लेनी चाहिए।

हेमन्त ऋतु में वस्त्रों को छोड कर शीत को सहन करना चाहिए। वर्षा काल में यथाशक्ति आहारपाणी को न्यून करके गमनागमन क्रियाको कम करना, इन्द्रियों का निग्रह, कषायोंका विजय, इत्यादि अनवद्य तप कहा जाता है। यह तप कर्मोंके नाश करने में समर्थ होता है। सावद्यतप पापमिश्र पुण्य को बढ़ाकरके स्वर्गादिसुख को देता है। किन्तु परिणाम में संसार चक्रसे मुक्त नहीं करता है।

सज्जनमहाशयो! आप मुक्तिमार्ग का स्वरूप और मोक्षका स्वरूप अच्छी चाल से समझगये होंगे क्योंकि यह बात में पहलेही कह चुका हूँ। अब मुझे एक बात याद आती है कि मोक्षगामी जीवों में कौन कौन गुण होते हैं? सो संक्षेप में बताकर अन्त में मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा।

जैन दर्शन में मोक्षगामिजीवों में आठगुण माने गये हैं। जैनेतर मतवाले वे आठ गुण किस से होते हैं, उसके नाम भी क्वचित ही जानते होंगे। इस विषय को संक्षेप में समझाने की कोशिश करूँ तो अयोग्य नहीं गिनी जायगी। उपरोक्त आठकर्म जिस समय आत्मा पर थे तब हरएक कर्म ने ज्ञानादिगुणों को दबादिये थे जब इन कर्मों का समूल नाश हो गया तब वे गुण भी प्रगट हो जाते हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होने से केवलज्ञान प्रगट होता है उससे सिद्धावस्था में भी स्वगुण का भोक्ता बनके अनन्त ज्ञानवान् सिद्ध गिने जाते हैं। वैसे ही दर्शनावरणीय कर्मका नाश होने से अनन्तदर्शनवाले सिद्ध माने जाते हैं। वेदनीय कर्मका नाश होने से वास्तविक अनन्तसुख के भोक्ता होते हैं, मोहनीय कर्म के नाश से अनन्तचारित्रवान् सिद्ध गिनेजाते हैं, आयुष कर्म के नाश से अक्षयस्थितिक सिद्ध होते हैं। अन्तराय कर्म के क्षयसे अनन्त वीर्यवान् सिद्ध हैं नाम और गोत्रकर्म के नाश होने से अमूर्त्त और अनन्तावगाहनवाले सिद्ध होते हैं। एवं आठगुणों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुखादिगुण मोक्ष में जैनलोग मानते हैं, नैया-

यिक और वैशेषिकदर्शनवालोंने ईश्वर में ज्ञान, कृति इच्छादि आठगुण माने हैं । किन्तु मोक्षगामी जीव में ज्ञान सुखादि नहीं माने हैं केवल दुःखात्यन्ताभाव ही माना है । सांख्य में भी मोक्ष में ज्ञान नहीं माना है, ज्ञान प्रकृति का गुण है प्रकृति के अभाव में मोक्ष माना है । वेदान्तमतवालों ने मोक्षावस्था में ज्ञान सुख माने हैं, भट्टमतवाले ने भी मोक्षावस्था में सुख माना है । बस संक्षेप में इतनीही समीक्षा करके कहता हुँ कि 'न्यायालोक' नामक ग्रन्थ में महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजय महाराजने नवीन पद्धति के अनुसार मोक्ष के विषय में संक्षेप में भी बहुत अच्छी रीति से विवेचन किया है, तदुपरान्त सम्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका, अनेकान्तजयपताकादि ग्रन्थों में मुक्तिका स्वरूप दिखलाया हुआ है वहां से हमारे जिज्ञासु महाशयों को देखलेना चाहिये ।

प्रसङ्गानुसार यह कथन करने की आवश्यकता है कि जैनधर्मका स्वरूप नहीं जानने से नई नई कल्पनाओं को करके अयुक्त असद्भूत कलङ्क देकर भद्रिकप्राणियों को सन्मार्ग से तथा सत्योपदेश से वञ्चित रखते हैं, इसलिये पुनः मैं पाठकमहोदयों से कहता हूँ कि जैन उपदेशकों का उपदेश आपलोग वारंवार सुनिये, जैनधर्मके शास्त्रों को देखिये । यदि गुण मालूम हो तो स्वीकार करिये, गुण न मालूम हो तो छोडदेना । बस इतनाही कहकर अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ ।



श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला में आजतक छपकर प्रकाशित हुए ग्रन्थों का सूचीपत्र।

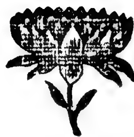
१.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	०-८-०
२.	हैमलिङ्गानुशासन	०-५-०
३.	सिद्धहेमशब्दानुशासन लघुवृत्तिसहित	३-०-०
४.	रत्नाकरावतारिका-दो परिच्छेद	१-०-०
५.	सिद्धहेमशब्दानुशासन-मूलमात्र	०-५-०
६.	मुद्रितकुमुदचन्द्रप्रकरण	०-८-०
७.	क्रियारत्नसमुच्चय-श्रीगुणरत्नसूरिविरचित	२-०-०
८.	श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनसूची	०-४-०
९.	कविकल्पद्रुम-हर्षकुलगणिरचित	० ४-०
१०.	सम्मतितर्काख्यप्रकरण-प्रथमखण्ड	३-०-०
११.	श्रीजगद्गुरुकाव्य	० ४-०
१२.	श्रीशालिभद्रचरित्र-टिप्पणसहित	१-४-०
१३.	श्रीपर्वकथासंग्रह-प्रथम भाग	०-४-०
१४.	षड्दर्शनसमुच्चय-राजशेखरसूरिकृत	०-४-०
१५.	शीलदूतकाव्य-चारित्रसुन्दरगणिकृत	०-४-०
१६.	निर्भयभीमव्यायोग-श्रीरामचन्द्रसूरिकृत	०-४-०
१७.	श्रीशान्तिनाथचरित्र-श्रीमुनिभद्रसूरिविरचित	३-०-०
१८.	रत्नाकरावतारिका-रत्नप्रभाचार्यकृत संपूर्ण	३-०-०
१९.	उपदेशतरङ्गिणी पत्राकार	३-०-०
२०.	न्यायार्थमञ्जूषा	३-०-०
२१.	गुरुगुणरत्नाकरकाव्य	०-८-०
२२.	विजयप्रशस्तिमहाकाव्य	५-०-०
१.	जैनतत्त्वादिग्दर्शन (हिन्दी भाषा)	०-२-०
२.	जैनशिक्षादिग्दर्शन ,,	०-२-०
३.	अहिंसादिग्दर्शन	०-४-०

मिलने का पता- हर्षचन्द भूराभाई

अंग्रेजीकोठी बनारस सिटी.



अर्हम्



अहिंसादिग्दर्शन



कर्ता

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

बीकानेरवाले शाह मंगलचन्दजी झाबख की सहायता से दूसरी बार छपा ।

PRINTED AND PUBLISHED BY SHAH HARKHCHAND BHURABHAI
AT THE DHARMABHYUDAYA PRESS,
BENARES CITY.

वीरसंवत् २४३८ ।

सूचना ।

पाठकलोग जानते ही हैं कि हमारे परमपूज्य शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिमहाराजने कुछ महीने पहले इस पुस्तक की रचना की थी और थोडेही रोज़ हुए कि मैंने इसकी प्रथमावृत्ति को प्रसिद्ध किया था । साथहीसाथ मुझे यह कथन करते हुए अत्यन्त हर्ष उत्पन्न होता है कि हमारे हिन्दीभाषा के प्रेमियोंने अत्यन्त श्लाघनीय रीतिसे इस पुस्तक का सत्कार किया है इतनाही नहीं बल्कि बड़ाबजार गजट, सद्धर्मप्रचारक, जैन तथा जैनगजट वगैरह साप्ताहिक, भारतधर्मनेता, जैनमित्र और सत्संग आदिपाक्षिक और सरस्वती, सुधानिधि, गढवाली, ब्राह्मणसर्वस्व, दिगम्बरजैन, सनातनधर्म तथा जैन-हितैषी आदि मासिकपत्रकारोंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, इसी कारण से प्रथमावृत्ति थोड़ेही दिनों में समाप्त भी हो गई अतएव मुझे दूसरी आवृत्ति के प्रसिद्ध करने का अवसर मिला है ।

इस दूसरी आवृत्ति में मैंने ग्रन्थकर्त्ता महाराज श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्तजीवनचरित्र और उनका सुन्दर फोटो भी दिया है आशा है कि हमारे पाठक-लोग इस पुस्तक से पुनः पुनः अवश्य लाभ उठावेंगे ।

अंग्रेजीकोठी
बनारस सिटी.

सन्तों का सेवक
हर्षचन्द्र भूराभाई.

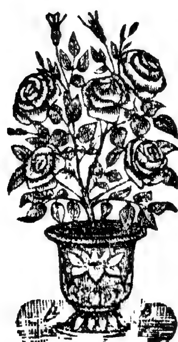
एक दूसरा ही निबन्ध तैयार हो जाय, किन्तु उन दूसरी बातों को छोड़कर सब धर्मवालों की माता ' अहिंसा ' महादेवी की आशातना करनेवाले, धर्म के निमित्त से हिंसा करने वाले, देविओं के सन्मुख उनके पुत्रों को मारनेवाले क्रूरात्माओं पर उत्पन्न हुई भावदया के कारण, ' यावद्बुद्धिबलोदयम् ' इस नियमानुसार मैंने ' अहिंसादिग्दर्शन ' नामक ग्रन्थ लिखकर भव्य पुरुषों के सन्मुख उपस्थित किया है ।

इस निबन्ध में केवल जैन शास्त्रों के ही नहीं बल्कि विशेष करके महाभारत, पुराण, मनुस्मृति और गीता आदि हिन्दुधर्मवालों के माननीय ग्रन्थों के ही प्रमाण देकर 'अहिंसा ' की पुष्टि की गई है।

प्रसङ्गानुसार मुझे यह कहते हुए संतोष होता है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशक को इसकी दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने का बहुत ही शीघ्र अवसर मिला– इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का यही एक अत्युत्तम उदाहरण है और मैंने इस दूसरी आवृत्ति में कुछ अंश बढ़ा भी दिया है कि जिस से पाठकों को विशेष लाभ मिले ।

अन्त में मेरा यह करुणाभाव संपूर्ण जगत् के समस्त प्रदेशों में निवास करे इतनाही कहकर मैं इस छोटीसी प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ ।

ग्रन्थकर्ता ।



अर्हम्



शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

D. A. PRESS, BENARES CITY.

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्त जीवन।



काशी की जैन-यशोविजय पाठशाला की कई पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में निकल चुकी है । उससे पाठकों को इस पाठशाला के नाम से जरूरही परिचय होगया होगा । आज हम इस पाठशाला के अध्यक्ष आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि का संक्षिप्त चरित पाठकों को सुनाते हैं । ये ऐसे महात्मा हैं कि भारत के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् इनका आदर करते हैं और इन पर बड़ी ही श्रद्धा रखते हैं । आपका चरित, कुछ समय हुआ, बँगला की वाणी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था । उसी से प्राप्त सामग्री से यह लेख प्रस्तुत हुआ है ।

काठियावाड़ में महुवा नामक एक गाँव है । वहीं वीशाश्रीमाली जातीय वैश्य के घर संवत् १९२४ में जैनगुरु श्रीविजयधर्मजी का जन्म हुआ । इनके पिता का नाम सेठ रामचन्द्र और माता का नाम कमलादेवी था । दीक्षाग्रहण करने के पहले इनका नाम मूलचन्द था । ७ वर्ष की उम्र में ये पाठशाला में भरती किये गये, किन्तु वहां इन्होंने कुछ भी नहीं सीखा । इनके पिता ने जब देखा कि ये लिखने पढ़ने में मन नहीं लगाते तब वे इन्हें अपने घर का काम काज सिखाने लगे । कुछ दिन बाद इनके हृदय में विद्याभिरुचि का अङ्कुर उग आया । अतएव काम से छुट्टी मिलने पर ये परिश्रमपूर्वक गुजराती भाषा सीखने लगे । इनके पिता ने थोड़ी ही उम्र में इन्हें अपने व्यवसाय में निपुण कर दिया । परन्तु पन्द्रहवें वर्ष में संग-दोष से इन्हें सट्टा और जूआ खेलने की बुरी आदत पड़ गई । बीसवें वर्ष में एकाएक इनका स्वभाव बदला । ये सोचने लगे कि इस तुच्छ सांसारिक सुख के लिए जितना परिश्रम करता हूँ—जितना समय नष्ट करता हूँ—उसका शतांश भी यदि आध्यात्मिक

उन्नति में लगाऊँ तो बहुत उपकार हो । यह ख़याल आते ही इनका मन सांसारिक मायाजाल से हट गया। इन्होंने शीघ्र ही गृह-त्याग करके सद्‌गुरु की खोज में घूमना शुरू किया । सौभाग्यवश इन्हें एक सद्‌गुरु मिल भी गये। अपने शुभ गुणों के कारण ये शीघ्र ही गुरु के कृपापात्र बन गये । इनके गुरु ने इन्हें जैन साधु होने के लिए माता पिता की आज्ञा लेने को घर भेजा। इनकी पुत्रवत्सला माता तो अपने पुत्र का साधु हो जाना पसन्द नहीं करती थी; किन्तु दूरदर्शी पिता ने देखा कि पुत्र का मन संसार से एकदम विरक्त हो गया है । इससे यदि मैं रोकूँगा भी तो वह न मानेगा। अतएव उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें साधु होने की आज्ञा दे दी। अब मूलचन्द के दीक्षाग्रहण करने के मार्ग में कोई रुकावट न रही। इन्होंने ज्येष्ठ कृष्ण पञ्चमी, संवत् १९४३ को, भावनगर के विख्यात महात्मा शान्तमूर्त्ति श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। तब से इनका नाम "धर्मविजय" हुआ।

जैन मत में साधुओं के जीवन का प्रधान उद्देश आत्मोन्नति और जगत् का उपकार करना है। जैनी साधु धर्म की शिक्षा देकर संसार का उपकार करते हैं। धर्मोपदेश के लिए विशेष शास्त्रज्ञान होना ज़रूरी है । पूरे शास्त्रज्ञान के विना सर्वसाधारण पर उपदेश का अच्छा असर नहीं पड़ता । इस कारण ये महात्मा भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु-सेवा में तत्पर रह कर उनसे धर्मशिक्षा ग्रहण करने लगे । ये गुरु-सेवा में अधिक मन लगाते थे। पर उस समय इन्हें संस्कृत-भाषा का ज्ञान नहीं था। इससे इनकी धर्मशिक्षा शीघ्र सम्पन्न नहीं हुई। केवल प्रतिक्रमण* अर्थात् पंचसन्ध्या सीखने में इन्हें डेढ़ वर्ष लगा। इस कारण इनके गुरुभाई और दूसरे साधु इनकी हँसी किया करते थे। परन्तु ये कभी हतोत्साह नहीं हुए; बराबर धीरे धीरे अपना कार्य करते गये।

इनकी गुरुभक्ति और धर्म-निष्ठा देख कर इनके गुरु ने अपने अन्तिम समय में इनको 'पंन्यास' उपाधि देने के लिए अपने शिष्यों को आदेश किया। संवत् १९४९ की वैशाख शुक्ला सप्तमी को इनके गुरु का शरीरपात

* जैनी लोग सन्ध्यावन्दना को प्रतिक्रमण कहते हैं । अपने किये हुए पापादि के निवारणार्थ जैन पांच प्रतिक्रमण करते हैं,—प्रातःसन्ध्या, सायं सन्ध्या, पाक्षिक सन्ध्या, चातुर्मासिक सन्ध्या और वार्षिक सन्ध्या।

हुआ। उसके बाद इन्होंने भावनगर परित्याग किया। संवत् १९४९ का चातुर्मास्य इन्होंने लीमड़ी नगर में बिताया। इस तरह गुजरात के अनेक नगरों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों को धर्मोपदेश देकर कृतार्थ किया। इस कार्य्य से इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। इनके धर्मोपदेश से जैनियों के सिवा अन्यान्य सम्प्रदायवालों का भी बहुत उपकार हुआ। इस समय इनका विद्यानुराग भी बहुत प्रबल हो उठा। लड़कपन में नियमित रूप से संचालित न होने के कारण इनकी बुद्धि मन्द पड़ गई थी। तथापि अपार परिश्रम करके इन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। धर्म और दर्शनशास्त्र का भी इन्होंने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया।

लुप्तप्राय जैन-गौरव का पुनरुद्धार करना इनके जीवन का प्रधान उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के निमित्त इन्होंने अब तक अनेक कार्य्य किये हैं। संवत् १९५२ में इन्होंने सादड़ी स्थित जैन-सम्प्रदाय के अनेक विवादों को मिटा कर बहुत कष्ट से राणकपुर के जैन-श्वेताम्बरमन्दिर की व्यवस्था की। १९५३ में इन्होंने उपरियाले तीर्थ का उद्धार करवाया। यह तीर्थ भोयणी गाँव से बारह कोस पर है। यहाँ फाल्गुन-शुक्लाष्टमी को बहुत बड़ा मेला होता है।

१९५७ संवत् में, श्रावणी पूर्णिमा के दिन, इन्होंने वीरमगाँव के जैनियों को उत्साहित करके एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित कराया। उसका नाम "धर्मविजय-पुस्तकालय" पड़ा। इसके सिवा इन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, मालव, काठियावाड़ आदि देशों के अनेक लुप्तप्राय और सम्पूर्ण-विलुप्त जैन-तीर्थों का उद्धार किया और अनेक स्थानों में संस्कृतपाठशालायें तथा ज्ञानागार स्थापन कराये।

प्राचीन समय में संस्कृत और प्राकृत-साहित्य में जैनियों का जो स्थान था उसको पुनः प्राप्त करने की इन्हें इच्छा हुई। बहुत सोच विचार कर इन्होंने यह निश्चय किया कि काशी में एक जैन-पाठशाला स्थापित करके जैन छात्रों को संस्कृत की उत्तम शिक्षा दी जाय तो इस उद्देश की सिद्धि हो सकती है। अतएव इन्होंने उसके लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया। अनेक स्थानों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों पर अपने विचार प्रकट किये। इनके परमोपयोगी संकल्प का हाल सुनकर अनेक लोग इनके सहायक हुए। वीरमगाँव में एक कार्यकारिणी समिति प्रतिष्ठित हुई। वह समिति पाठशाला

वहाँ से ये काशी लौट आये। यहाँ पहुँच कर इन्होंने पाठशाला की बहुत ही बुरी दशा देखी। उसके छात्रों की संख्या ५३ से घट कर ८ हो गई थीं। अतएव ये फिर से उसकी उन्नति की चेष्टा करने लगे। अब इस पाठशाला की दिन दिन उन्नति हो रही है।

श्रीविजयधर्मजी के काशी लौट आने पर, संवत् १९६४ की श्रावण-शुक्ल-चतुर्दशी को, श्रीयशोविजय-जैन पाठशाला में एक बड़ी भारी सभा हुई। काशीनरेश महाराज प्रभुनारायणसिंह बहादुर, जी० सी० एस० आई० ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इस सभामें भारतवर्ष के सब स्थानों के पण्डित एकत्र हुए थे। सब ने एक मत होकर श्रीधर्मविजयजी को "शास्त्र-विशारद जैनाचार्य" की उपाधि दी। प्रतिष्ठापत्र पर सब पण्डितों ने हस्ताक्षर किये।

जैन पाठशाला में इस समय अच्छे अच्छे अध्यापक हैं। विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत भाषा की उत्तम शिक्षा दी जाती है। मुनि महाराज के सुयोग्य शिष्य इन्द्रविजयजी पाठशाला का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध करते हैं। परन्तु इतने पर भी श्रीधर्म विजय महाराज को संतोष नहीं। उनकी राय है कि पाली भाषा जाने विना भारतीय साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय धर्म की शिक्षा पूरी नहीं होती। इसी से उस साल, जब महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम० ए० भारत-गवर्नमेंट की आज्ञा से सिंहल द्वीप (Ceylon) गये थे तब मुनि महाराज ने भी अपने दो गृहस्थ शिष्यों को पण्डित महाशय की निगरानी में रह कर पाली भाषा सीखने के लिये सिंहल भेजा था। उन दोनों ने वहाँ रह कर पाली भाषा का अध्ययन किया और उसमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वहाँ से लौटने के पहिले उन्होंने जैनधर्म पर पाली भाषा में एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान सिंहल के प्रधान विद्यालय में वहाँ के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डितों और पाली-भाषा-विशारद बौद्ध साधुओं के सामने हुआ था। उन विद्यार्थियों को इतने कम समय में पाली-भाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त करते देख सुमङ्गलाचार्य आदि पाली-भाषा के आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठापत्र और तालपत्र-लिखित पुस्तकों का उपहार दिया। परन्तु इतना खर्च करवाके श्रीधर्मविजयजी ने जिस उद्देश से विद्यार्थियों को सिंहल भेजा था वह सिद्ध

नहीं हुआ। मुनि महाराज ने विद्यार्थियों को यह जानने के लिए भेजा था कि जैन और हिन्दू-दर्शन शास्त्रों में बौद्ध मत का जो पूर्वपक्ष देख पड़ता है उसका मूल पाली ग्रन्थों में है या नहीं। किन्तु सिंहल में बौद्ध साधु दर्शन शास्त्र पर चर्चा नहीं करते इस कारण केवल भाषा मात्र की शिक्षा देकर ही इन लोगों ने दोनों विद्यार्थियों को बिदा कर दिया। मुनि महाराज इन दोनों विद्यार्थियों को इस काम के लिए तिब्बत और ब्रह्मदेश भेजने का विचार कर रहे हैं। इन विद्यार्थियों से क्यों, महापण्डितों से, एक बार काशी में मिल कर हमने बहुत आनन्द प्राप्त किया है।

लुप्त जैन-ग्रन्थों का उद्धार और उनका प्रचार करना भी इनके जीवन का एक उद्देश है। उस उद्देश की सिद्धि के लिए इन्होंने पाठशाला से "श्रीयशोविजय-जैन-ग्रन्थमाला" प्रकाशित करना आरम्भ किया है। अब तक इसमें कोई १५, १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह ग्रन्थमाला हर महीने प्रकाशित होती है। इसके लिए पाठशाला में एक छापाखाना भी है। इस पुस्तकमाला से केवल जैनधर्म ही का उपकार नहीं होता; प्राचीन इतिहास और भाषातत्त्व की भी बहुत कुछ सामग्री इसमें इकट्ठी हो रही है।

श्रीविजयधर्म सूरि जी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनों के प्रधान आचार्य हैं। ये बड़े ही दृढ़व्रत और सत्यनिष्ठ हैं। इनकी स्थापित की हुई जैन-पाठशाला में जैन-विद्यार्थियों के सिवा हिन्दू-विद्यार्थियों को भी शिक्षा दी जाती है। ये दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हैं-दोनों ही के अभावमोचन की एक सी चेष्टा करते हैं। इनकी राय है कि प्रकट रूप से जैन धर्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन धर्म के उपदेशों के अनुसार कार्य्य करना ही यथार्थ धर्मग्रहण करना है। ये जैन धर्म को ही भारत का आदि और मुख्य धर्म मानते हैं। योरप में जैन धर्म का प्रचार करने की ओर भी इनका ध्यान है। जैनशास्त्र के पण्डित और धर्मप्रचार-समर्थ दो तीन छात्रों को योरप भेजने का भी ये विचार कर रहे हैं। मुनि महाराज जैनशास्त्र और जैनधर्म में विशेष श्रद्धा रखनेवाले योरप के विद्वानों को प्राचीन जैनशास्त्र के ग्रन्थ पढ़ने को देते हैं और पत्र द्वारा उनकी शङ्काओं का समाधान किया करते हैं इन्होंने 'बिबलिओथिका इंडिका' नाम की ग्रन्थमाला में योगशास्त्र आदि पुस्तकों का स्वयं सम्पादन किया है और अन्यान्य पण्डितों को अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्पादन में

सहायता दी है। इसके सिवा जैनतत्त्वदिग्दर्शन जैनशिक्षादिग्दर्शन आत्मोन्नतिदिग्दर्शन, अहिंसादिग्दर्शन पुरुषार्थ-दिग्दर्शन, इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन आदि कितने ही ग्रन्थों की इन्होंने रचना की है। इन ग्रन्थों को पढने से इनके गम्भीर विचारों का अच्छा परिचय मिलता है । ये हमेशा संसार की भलाई की ही चिन्ता किया करते हैं । भूतदया, अहिंसा और स्वार्थत्याग इनका मूलमन्त्र है। फ्रांस की राजधानी पेरिस से एशियाटिक सोसायटी के जर्नल की तरह की एक पत्रिका निकलती है। उसका नाम है जर्नल एशियाटिकी [Journal Asiatque] उसके गतवर्ष के एक अङ्क में एक फरासीसी विद्वान् ने श्री-विजयधर्मसूरि का जीवन-चरित्र प्रकाशित किया है और उसमें इनके गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा की है । अभी हाल में इन्होंने काशी में एक पशुशाला स्थापित की है। महाराज काशिराज उसके रक्षक हुए हैं । आप बड़े महात्मा हैं। इनके दर्शनों से हम कई बार कृतार्थ हो चुके हैं।

"सरस्वती"



अर्हम्

शान्तमूर्त्तिश्रीवृद्धचन्द्रगुरुभ्यो नमः ।

अहिंसादिग्दर्शन ।

नत्वा कृपानदीनाथं जगदुद्धारकारकम् ।
अहिंसाधर्मदेष्टारं महावीरं जगद्गुरुम् ॥ १ ॥
मुनीशं सर्वशास्त्रज्ञं वृद्धिचन्द्रं गुरुं तथा ।
समदृष्ट्या दयाधर्मव्याख्यानं क्रियते मया ॥ २ ॥

अनादि काल से जो इस संसार में प्राणीमात्र नये नये जन्मों को ग्रहण करके जन्म, जरा, मरणादि असह्य दुःखों से दुःखित होते हैं उसका मूल कारण कर्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इसलिए समस्त दर्शन (शास्त्र) कारों ने उन कर्मों को नाश करने के लिए शास्त्रद्वारा जितने उपाय बतलाये हैं, उन उपायों में सामान्यधर्मरूप-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निस्पृहत्व, परोपकार, दानशाला, कन्याशाला, पशुशाला, विधवाऽऽश्रम, अनाथाश्रमादि सभी दर्शनवालों को अभिमत हैं; किन्तु विशेषधर्मरूप—स्नान सन्ध्यादि उपाय में विभिन्न मत है, अत एव यहाँ विशेषधर्म की चर्चा न करके केवल सामान्यधर्म के संबन्ध में विवेचना करनाही लेखक का मुख्य उद्देश्य है और उसमें भी सर्वदर्शनवालों की अत्यन्तप्रिया दयादेवी का ही अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन करने की इच्छा है। उसीको आक्षेपरहित पूर्ण करने के लिए लेखक की प्रवृत्ति है। दया का स्वरूप—लोकव्यवहारद्वारा, अनुभवद्वारा और शास्त्रद्वारा लिखा जायगा; जिसमें प्रथम लोकव्यवहार से यदि विचार करें तो मालूम होता है कि जगत् के समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में दया का अवश्यही संचार है; अर्थात् दुर्बल जीव पर यदि कोई बलवान जीव

मार्ग में आक्रमण करता हो तो अन्य पुरुष, बलवान् से दुर्बल को बचाने के लिए अवश्यही प्रयत्न करेगा, जैसे कि यदि किसी को चोर रास्ते में लूटता हो और वह चिलाता हो तो उसकी चिलाहट सुनतेही लोग इकट्ठे होकर चोर के पकड़ने की कोशिश अवश्यही करेंगे वैसेही कोई कैसाही क्यों न तुच्छ जीव हो उसको यदि बलवान् जीव मारता होगा तो उसके छुडाने का प्रयत्न लोग अवश्य करेंगे, याने छोटे पक्षी को बड़ा पक्षी, बडे पक्षी को बाज़, बाज़ को बिल्ली, बिल्ली को कुत्ता, और कुत्तेको कुत्तामार (डोम) मारता होगा तो उसके छुड़ाने का प्रयत्न, देखनेवाला अवश्यही करेगा । इसीसे कृष्णजी (जिनको हिन्दू लोग भगवान् मानते हैं) की भी कपटनीति को देखकर लोग एक बार उनके भी कृत्यों की निन्दा करने में संकोच नहीं करते हैं । अर्थात्भारत युद्ध के समय चक्रव्यूह (चक्रावा) के बीच में जो अभिमन्यु से कृष्ण ने कपट किया था उसको सुनकर आजभी समस्त भक्तजन उनकी भी निन्दा करने को तैयार होते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि लोगोंके मनमें स्वाभाविकही दया बसी हुई है, किन्तु खेद की बात है कि जिह्वा इन्द्रिय के लालच से फिरभी अकृत्य को करते हैं अर्थात् मांसाहार में लुब्ध हो कर धर्म कर्म से रहित हो जाते हैं, क्योंकि यदि मांसाहार करनेवाला सहस्रों दान पुण्य करे तौभी एक अभक्ष्य आहार के द्वारा समस्त अपने गुणों को दूषित करदेता है । जैसे भोजन चाहे जितना सुन्दर हो किन्तु यदि उसमें लेशमात्र भी विष पड़जाय तो वह फिर ग्राह्य नहीं रहता, वैसेही मांसाहारी कितनेही शुभ कर्म करे तौभी वे अशुभप्रायही हैं, क्योंकि जिसके हृदय में दया का संचार नहीं है उसका हृदय हृदय नहीं किन्तु पत्थर है । मांसाहारी ईश्वरभजन, सन्ध्या आदि कोईभी धर्मकृत्य के लायक नहीं गिना जासकता, उसमें कारण यह है कि बिना स्नान के, सन्ध्या और ईश्वरपूजादि शुभकृत्य नहीं किए जाते और **"मृतं स्पृशेत् स्नानमाचरेत्"** इस वाक्य से मुरदे

को छूकर स्नान अवश्य ही करना चाहिये तब विचारने का समय है कि बकरा, भैंसा, मछली आदि का मांस भी मुर्दाही है, उसके खाने से स्नानशुद्धि कैसे गिनी जायगी ? क्योंकि मांसका अंश पेट से जल्दी नाश नहीं होता तब बाहर का स्नान क्या करलेगा ? इसी कारण से वराहपुराण में वराहजीने वसुन्धरा से अपने बत्तीस अपराधियों में से मांसाहारी को अठारहवाँ अपराधी कहा है; वहां उस प्रकरण में यह कहा है कि जो मांसाहार करके मेरी पूजा करता है वह मेरा अठारहवां अपराधी है । जैसे–

“ यस्तु मात्स्यानि मांसानि भक्षयित्वा प्रपद्यते ।
अष्टादशापराधं च कल्पयामि वसुन्धरे ! ” ॥

कलकत्ता गिरिशविद्यारत्न प्रेसमें मुद्रित पत्र ५०८ अ० ११७ श्लो० २१

“ यस्तु वाराहमांसानि प्रापणेनोपपादयेत् ।
अपराधं त्रयोविंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! ” ॥

” ” श्लो० २६

“ सुरां पीत्वा तु यो मर्त्यः कदाचिदुपसर्पति ।
अपराधं चतुर्विंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! ” ॥

” श्लो० २७

सज्जनगण ! केवल इतनाही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष दोषों से भी मांसाहार सर्वथाही त्याग करने योग्य है । देखिये– मांसाहारी के शरीर से सदैव दुर्गन्धि निकला करती है और उसका पसीना भी दुर्गन्धित रहता है । यद्यपि जीवोंका यह स्वभाव है कि जिस काम को वे किया करते हैं वह उन्हें अच्छाही मालूम होता है तौ भी उनको विचार करना चाहिये कि जैसे जिसको मांस का व्यसन पड़-जाता है तो वह उसे अच्छाही समझता है इतनाही नहीं बल्कि दूसरों के सामने प्रशंसा भी करता है, एवं मद्य को पीनेवाला मद्य पीने के समय औषधि की तरह पीता है वैसेही मांस खानेवाले से यदि पूछाजाय तो उसके बरतन (जिसमें कि उसने मांस पकाया है)

और उसके हाथ (जिससे उसने मांस खाया है) बहुत मुश्किल से साफ होते हैं; तथा मत्स्यादि मांस खानेके अनन्तर खानेवाले के मुखसे लार निकलती है जो कि पान, सुपारी आदि बिना खाये शुद्ध नहीं होती, ऐसे कष्टोंको सहन करता हुआ भी कोई २ जीव उसी आहार को अच्छा मानता है। अधिक क्या कहा जाय, डाक्टर की भांति फिर उसे उन पदार्थों से घृणाभी नहीं होती। जैसे डाक्टर पहिले जब मुरदे को चीरता है तो उसे कुछ घृणा भी आती है किन्तु पीछे धीरे २ बिलकुल घृणा जाती रहती है उसी तरह मांसाहारी का हाल समझना चाहिए। अगर मछली आदि खानेवाले से पूछा जाय तो मालूम होगा कि मछली आदि के काटने पर जो जल उसमें से निकलता है वह कैसी दुर्गन्धि पैदा करता है? कि जिसकी दुर्गन्धि से भी मनुष्य को कय (वमन) होजाता है। हा! ऐसे नीच पदार्थों को उत्तम पुरुष कैसे खाते होंगे? यह भी एक शोचने की बात है। वनस्पति, जो कि सर्वथा मनुष्य को सुखकर है, उसका भी पुष्प यदि दुर्गन्धित होजाय तो उसे मनुष्य फेंक देते हैं, किन्तु मल, मूत्र, रुधिर आदि से संयुक्त, सड़ेहुए और कीड़ोंसे भरे हुए भी मांस को यदि मनुष्य नहीं छोड़ें तो उन्हें मनुष्य कैसे कहना चाहिए।

कोई २ मांसाहारी जो यह कहते हैं कि मांस खाने से शरीरमें बल बढ़ता है और वीरता आती है वह उनलोगों की भूल है, क्योंकि यदि मांसाहार से बल बढ़ता होता तो हाथी से सिंह अधिक बलवान् होता, क्योंकि जो बोझा हाथी उठाता है वह सिंह कदापि नहीं उठा सकता। अगर कोई यह कहे कि हाथीसे सिंह यदि बलवान् नहीं होता तो हाथी को कैसे मारडालता है? इसका उत्तर यह है कि हाथी फलाहारी होनेसे शान्तस्वभाव है और सिंह मांसाहारी होनेसे क्रूरात्मा है, इसलिए हाथी को दबा देता है, अन्यथा शुण्डादण्ड से यदि हाथी सिंह को पकड़ ले तो उसकी रग रग को चूर कर सकता है। अतएव यह बात सभीको स्वीकार करनी

पड़ेगी कि मांसाहार से क्रूरता बढ़ती है और क्रूरता किसी पुण्य-कृत्य को अपने सामने ठहरने नहीं देती है ; और यह भी सब लोग सहज में समझ सकते हैं कि जो मांसाहारी लोग अपने घर में झगड़े के समय मार पीट करने से बाज नहीं आते, वह क्या निर्दयता का फल नहीं है? इसलिये मांसाहारही का फल निर्दयता स्पष्ट मालूम पड़ता है।

अब रही वीरता—वह भी मांस का गुण नहीं है किन्तु पुरुष काही स्वाभाविक धर्म है; क्योंकि अगर नपुंसक को ताक़तदेनेवाले हजारों पदार्थ खिलाए जावें तौभी वह युद्ध के समय अवश्य भागही जायगा ; इसमें प्रत्यक्ष दृष्टान्त यह है कि बङ्ग, मगध आदि देश के मनुष्य प्रायः मांसाहारी होने पर भी ऐसे कातर होते हैं कि यदि चार आदमी भी छपरे जिले के हों तो बङ्गदेशीय ५० पचास आदमी भाग जायँगे ; लेकिन बेचारे छपरे जिले के आदमी प्रायः सत्तूही खाकर गुज़र करते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य सिक्खलोग, जो कि किले के फतह करने में अव्वल नम्बर के गिने जाते हैं वे भी प्रायः फलाहारी ही देखने में आते हैं ; इसका कारण यह है कि जैसी लड़ाई स्थिरचित्त से फला-हारी लोग लड़ते हैं वैसी मांसाहारी कदापि नहीं लड़ सकते। उसमें दूसरा कारण यह भी है कि मांसाहारी को गर्मी बहुत लगती है और श्वास भी ज्यादा चलती है किन्तु फलाहारी को नतो वैसी गर्मी लगती है और न श्वासही बढ़ती है।

पाठकगण! आपलोगों ने सुना होगा कि जब रूस और जापान की लड़ाई हुई थी तब प्रायः कच्चेही मांस के खानेवाले बड़े भयानक रूसियों को भी, मिताहारी और विचारशील जापानी वीरों ने परास्त करके संसार में कैसी आश्चर्यकारिणी अपनी जयपताका फहराई थी। यदि मांसाहार से ही वीरता बढ़ती होती तो रूस की सेना में मनुष्य बहुत थे इतनाही नहीं किन्तु मांसाहार करने में भी कुछ कमी नहीं थी, फिरभी उन्हीं लोगों की क्यों हार हुई ! इससे साफ मालूम

हुआ कि हार का मूल कारण अस्थिरचित्तताही है।

मनुष्य की प्रकृति मांसाहार की न होने पर भी जो इन्द्रिय की लालच से निर्विवेकी जन मांसाहार करते हैं उसका बुरा फल सबको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अर्थात् मांसाहारी प्रायः मद्य का सेवक, वेश्यागामी तथा निर्दयहृदय होता है। यद्यपि कोई २ मांसाहारी वैसा दुर्गुणी नहीं होता तौभी उसके शरीर में बहुत रोग हुआ करते हैं। जैसे मत्स्यमांसादि के पाचन न होने से खानेवाले को रात्रि में खट्टी डकारें आतीं हैं, और बहुतों का खून बिगड़ जाता है, तथा शरीर पीला पड़जाता है, हाथ पैर सूख जाते हैं, पेट बढ़ जाता है, और किसी २ के तो पैर भी फूल जाते हैं, तथा गले में गांठ पैदा हो जाती है; और यहां तक देखने में आया है कि बहुत से मांसाहारी कुष्ठादि रोग से पीड़ित होकर परम कष्ट सहते हुए मरभी जाते हैं। जो कोई इन कष्टों से बच भी जाता है तो उसमें पापानुबन्धी पुण्य का उदय ही कारण समझना चाहिए। अर्थात् जब उस पुण्य का क्षय होगा तब जन्मान्तर में वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहगये हैं:—

" जबतक पुरबिल पुण्यकी पूजी नहीं करार।
तबतक सब कुछ माफ है औगुन करो हजार "॥ १॥

प्रायः मांसाहारी की मृत्यु भी विशेष दुःख से ही होती है और उसके मृत्यु के समय कितनेही स्पष्ट तथा गुप्त रोग उत्पन्न होते हैं, इस बात का लोग प्रायः अनुभव किया करते हैं।

मनुष्यों की स्वाभाविक प्रकृति फलाहारीही है क्योंकि मांसाहारी जीवों के दाँत मनुष्य के दाँतो से विलक्षण होते हैं और जठराग्नि भी उनकी मनुष्यों से भिन्न प्रकार की ही होती है, तथा स्वभाव भी विचित्र दिखलाई देता है; एवं समस्त मांसाहारी जीव जिह्वा ही से जल पीते हैं किन्तु मनुष्य जाति तो मुख से पीती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की जाति स्वाभाविक मांसाहारी नहीं है, फिरभी जो

मांस खाते हैं वे पलाद (पलमत्तीति पलादः) गिने जाते हैं ।

मुसलमान और हिन्दुओं में खान पान ही से विशेष भेद है, क्योंकि मुसलमान के हाथ का जल हिन्दू नहीं पी सकते और न प्रायः उनके आसन पर बैठ सकते हैं, किन्तु उन्हें हिन्दुओं के हाथ का पानी और उनके आसन के ग्रहण करने में कोई परहेज़ नहीं है । उसमें कारण यह है कि मुसलमान अपने भोजन में प्रधान मांसही रखते हैं । यदि हिन्दू भी वैसाही करने लगें तो फिर परस्पर भेदही क्या रहेगा ? अर्थात् जैसे प्रायः सभी मुसलमान बकरीद के दिन बकरे वगैरह जानवरों की जान लेते हैं, वैसेही बहुत से हिन्दू लोग नवरात्र में बकरे आदि जीवों को मारते हैं; एवं जैसे मुसलमान अपनी दावत में यदि मत्स्यमांस का विशेष व्यवहार करते हैं तो वह दावत उत्तम गिनी जाती है, वैसेही यदि श्राद्ध में हरिणादि मांस का व्यवहार हिन्दू लोग करें तो वह श्राद्ध उत्तम गिना जाता है; तथा जैसे मुसलमान लोग खुदा के हुक्म से जीव मारने में पाप न मानकर खुदा के हुक्म की तामीली करने से खुश होते हैं, वैसेही हिन्दूलोग देवपूजा—यज्ञक्रिया-मधुपर्क-श्राद्धादि में जीवहिंसा को हिंसा न मानकर अहिंसाही मानते हैं; इतनाही नहीं, बल्कि मरनेवाले और मारनेवाले दोनों की उत्तम गति मानते हैं । अब यहां पर मध्यस्थ दृष्टि से विचार करने पर हिन्दू और मुसलमानों में बहुत भेद मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि जो हिन्दूलोग मांस नहीं खाते और मुसलमानों के हाथ का ज़ल नहीं पीते हैं वे तो ठीकही हैं किन्तु मांसाहार करने परभी जो हिन्दू सफाई दिखाते हैं वह उनका बिलकुल पाखण्डही है, क्योंकि दोनों मरकर बराबर दुर्गति पावेंगे, अर्थात् दोनों एकही रास्ते पर चलनेवाले हैं । इसपर कबीर ने कहा है:—

“ मुसलमान मारे करद सो हिन्दू मारे तरवार ।
कहैं कबीर दोनों मिलि जैहैं यम के द्वार ” ॥

इसीसे मांसाहारकरनेवाले हिन्दू आर्य नहीं कहेजासकते क्योंकि

आर्य शब्द से वेही लोग व्यवहार करने योग्य हैं जिनके हृदय में दया-भाव, प्रेमभाव, शौच आदि धर्म विद्यमान हैं, किन्तु मांसाहारी के हृदय में न तो दयाभाव रहता है और न प्रेमभाव।

एक मांसाहारी (जिसने उपदेश पाकर मांसाहार त्याग दिया) मुझे मिला था, वह जब अपनी हालत कहने लगा तो उसकी आंख से अश्रुपात होने लगा। अश्रुपात होनेका कारण जब मैंने उससे पूछा तो वह कहने लगा कि मेरे समान निर्दय और कठोरहृदय, इस दुनियां भर में थोड़ेही पुरुष होंगे। क्योंकि कुछदिन पहले मैंने एक बड़े सुन्दर बकरे को पाला था, वह मुझे अपना प्रेम पुत्रसे भी अधिक दिखलाता था और मैं भी उससे बहुत प्रेम करता था, अतएव वह प्रायः दाना चारा मेरे हाथ से दिये बिना नहीं खाता था और जब मैं कहीं बाहर चला जाता था और आने में दो चार घण्टे की देर हो जाती थी तो वह रास्ते को देख२ कर ब्यॉं२ किया करता था, अगर कहीं एक दो दिन लग जाता था तो चारा पानी बिलकुल नहीं खाता था और मेरे आने पर बड़ा आनन्द प्रकट करता था; उसी बकरे को मैंने अपने हाथसे मांस के लिए मार डाला और उस मांस को आए हुए पाहुनों (प्राघूर्णिक) के साथ मैंने भी खाया। यदि उस बकरे के मरनेकी हालत मैं आपके सामने कहूँ तो मुझे आप पूरा चाण्डाल ही कहेंगे। हा ! जब २ वह बकरा मुझे याद आता है तब २ मेरा कलेजा फटने लगता है, इसलिये मैं निश्चय और मज़बूती से कहता हूं कि जो मांसाहार करता है वह सबसे भारी पापी है क्योंकि अन्य अकृत्यों से जीवहिंसा ही भारी अकृत्य है।

यदि कोई यह कहे कि हम मारते नहीं और न हमें हिंसा होती है तो यह कथन उसका वृथा है क्योंकि यदि कोई मांस न खावे तो कसाई बकरे को जबह क्यों करें। अत एव धर्मशास्त्र में भी एक जीव के पीछे आठ मनुष्य पातक के भागी गिने गये हैं। यथा–

"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः" ॥ १ ॥

भावार्थ– मारने में सलाह देनेवाला; शस्त्र से मरेहुए जीवों के अवयवों को पृथक् २ करनेवाला, मारनेवाला, मोललेनेवाला, बेचनेवाला, सँवारनेवाला, पकानेवाला और खानेवाला ये सब घातकही कहलाते हैं।

यहाँ पर कोई कोई मांसाहारी लोग यह प्रश्न करते हैं कि फलाहारी भी तो घातकही हैं क्योंकि शास्त्रकारों ने पौधों में भी जीव माना है, फिर फलाहारी और धर्मान्ध पुरुष केवल मांसाहारी ही पर व्यर्थ आक्षेप क्यों करते हैं ?। इसका उत्तर यह है कि जीव अपने२ पुण्यानुसार जैसे २ अधिकाधिक पदवी को प्राप्त करते हैं वैसे २ अधिक पुण्यवान् गिने जाते हैं; इसी कारण से जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय रूप से जगत में जीवों के मूल भेद पांच माने गए हैं, उनमें एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय अधिक पुण्यवान् होता है और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, तथा त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय–इस तरह सर्वोत्तम जीव पञ्चेन्द्रिय समझना चाहिए। और पञ्चेन्द्रिय में भी न्यूनाधिक पुण्यवाले हैं; अर्थात् तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय (बकरा, गौ, भैंसे आदि) में हाथी अधिक पुण्यवान् है, और मनुष्यवर्ग में भी राजा, मण्डलाधीश, चक्रवर्त्ती और योगी अधिक पुण्यवान् होने से अवध्य गिने जाते हैं, क्योंकि संग्राम में यदि राजा पकड़ा जाता है तो मारा नहीं जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय के मारने में अधिक पाप होता है, एवं अधिक २ पुण्यवान् के मारने से अधिक २ पाप लगता है। इसलिए जहांतक एकेन्द्रिय जीव से निर्वाह हो सके, वहांतक पञ्चेन्द्रिय जीव का मारना सर्वथा अयोग्य है। यद्यपि एकेन्द्रिय जीव का मारना भी पापबन्ध का कारणही है किन्तु कोई उपायान्तर न रहने से गृहस्थों को वह कार्य अगत्या करनाही पड़ता है। अत एव कितनेही भव्य जीव इस पाप के भय से धन, धान्य, राज, पाट

वगैरह छोड़कर साधु होजाते हैं, और अपने जीवनपर्यन्त अग्नि आदि को भी नहीं छूते, तथा भिक्षामात्र से उदरपोषण करलेते हैं। गृहस्थ भी जो अगत्या एकेन्द्रिय का नाश करते हैं उस पाप के परिहार के लिए साधुओं की सेवा, दान, धर्म और दोनों सन्ध्या आदि पुण्य-कृत्य जन्मभर किया करते हैं।

भिक्षामात्रजीवी साधुओं के ऊपर आरम्भ का दोष नहीं है, क्योंकि गृहस्थ लोग जो अपने लिए आहार बनाते हैं उसमें वे लोग अत्यन्त आवश्यक तथा निर्दोष पदार्थ मात्र को ग्रहण करते हैं तिसपर भी गृहस्थों को यह नहीं मालूम रहता कि आज मेरे घर साधुलोग भिक्षा लेने आवेंगे। अनायास ही भोजन के समय गृहस्थ के घर पर साधु जाकर समयोचित आहार ग्रहण करता है जिससे कुछ भी दोष पूर्वकाल या उत्तर काल में उसे नहीं लगता।

यदि यहां पर कोई यह प्रश्न करे कि तब साधुओं को सन्ध्यादि क्रिया करने से क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि आहार नीहारादि के लिए उपयोगपूर्वक भी गमनागमन क्रिया करने में जो अनुपयोगरूप से दोष लगता है उसके प्रायश्चित्तनिमित्त ही वह क्रिया की जाती है।

महाशय ! लोक व्यवहार से अनुभव द्वारा विचार करने पर एक सामान्य न्याय दिखाई पड़ता है कि "जैसा आहार वैसा विचार" याने उत्तम आहार खाने से उत्तमही विचार उत्तपन्न होगा और मध्यम आहार से मध्यम, किन्तु तुच्छ आहार करनेसे तुच्छही विचार होगा; इसलिए समस्त दर्शनवालों के महात्मालोग जब योगारूढ़ होते हैं तब उनका आहार कैसा अल्प होता है वह भी देखने ही के लायक है। तात्पर्य यह है कि सर्वोत्तम आहार में मूँग की दाल और चावल तथा उसके साथ में वनस्पति की किसी प्रकार की तरकारी गिनी गई है; क्योंकि भात हलका और पौष्टिक भोजन है, इसीलिए प्रायः समस्त देशोंमें वह भोजन श्रेष्ठ गिना

जाता है और प्रायः चावल खानेवाले बुद्धिमान् ही दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान के अल्पज्ञ और रसनेन्द्रिय के लोभी, ऐसे उत्तम भोजन में कुत्सित मांस को मिलाकर भातके सर्वोत्तम और स्वतन्त्र (बुद्धि बढ़ानेवाले) गुण को नष्ट कर देते हैं। और बाकी बचे हुए गुण को भी जो मांसादि का ही गुण मानते हैं, वह उनकी कितनी भारी भूल है। अगर मछली मांस को छोड़ करके दाल भात का ही आहार रक्खा होता तो आज दिन बङ्गाल वगैरह देश बुद्धिबल में बहुतही बढ़ जाते, अतएव इङ्गलेन्ड जो आजकल बुद्धिबल में तेज है वह भी भात का ही प्रताप है। यद्यपि बुद्धिबल मुख्य गुण आत्मा का ही है तथापि वायु के वेग से वह मलिन हो जाता है, और मांसाहार वायु को विशेष बढ़ाता है। अतएव केवल मांसाहार करनेवाला जंगली (निर्बुद्धि) गिना जाता है। जो किसी २ देश में मनुष्य, विशेष बुद्धिमान् होते हैं उसका भी कारण उस देश में वायु का प्रकोप कम होनाही मानना चाहिये। जिस आहार में वायु का प्रकोप कम होता है वह आहार उत्तम गिना जाता है; जैसे चावल, दाल, और वनस्पति वायु को नहीं बढ़ाते, इसलिए वह उत्तम ही भोजन है; परन्तु गेहूँ की रोटी, उड़द की दाल मध्यम आहार गिना जाता है, क्योंकि उसमें बुद्धि की वृद्धि और हानि दोनों का प्रायः संभव है, किन्तु वायुकारक होने से सबसे अधम मांसही का आहार गिना गया है। अतएव मनुष्यों को उत्तम आहारही ग्रहण करना योग्य है और अधम सर्वथा त्याज्य है। जिस देश में मांसाहार का विशेष प्रचार है वह देश इतिहासों से असभ्य सिद्ध होता है, किन्तु भारतवर्ष सर्वदा और सर्वथा शिल्पकला, धर्मकला आदि में प्रवीण होने से असभ्य नहीं माना जाता। अब रही बात यह कि जो उसके कितनेही भागों में और कितनीही जातियों तथा धर्मों में मांसाहार प्रवेश करगया है उसका कारण यह है कि श्रीमहावीर स्वामी के बाद बारह वर्ष का दुष्काल तीन वार पड़गया, उस

समय अन्न के अभाव होने से बहुत मनुष्य अपने २ प्राण की रक्षा के लिए मांसाहारी बनगए, किन्तु धीरे २ अकाल की निवृत्ति होने परभी मांसाहार का अभ्यास दूर न हुआ। अतएव जैन साधुओं का विहार सर्वथा पूर्व देशादि में शुद्धाहार के न मिलने से तथा मुसलमानों के उपद्रव होने से बन्द होगया था, इसलिए लोगों को अहिंसा धर्म का उपदेश नहीं मिला।

कितने ही कल्याणाभिलाषी भव्य जीवों ने मांसाहारी ब्राह्मणों से यह प्रश्न किया कि महाराज ! मांसाहार करने वाले को शास्त्रों में भारी दण्ड लिखा है अर्थात् पशु की देह पर जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष मारनेवाला नरक के दुःख का अनुभव करता है तो अपने लोगों की मांसखाने से क्या गति होगी ? इसके उत्तर में ब्राह्मणों ने कहा कि अविधिपूर्वक मांस खाने से ही नरक होता है, किन्तु विधिपूर्वक मांस खाने से धर्म ही होता है । अतएव तुम लोग भी यदि देवपूजा, या श्राद्धादि में मांस खाओगे तो हानि नहीं होगी। इसी तरह साथही साथ पूर्वोक्त बात का उपदेश भी करना प्रारम्भ कर दिया और जैसा मन में आया वैसे श्लोक भी बना दिये।

देखिये स्वार्थ और इंद्रियस्वाद में लुब्ध अपनी झूठी कीर्ति के लिए उन लोगों ने कैसा अनर्थ किया ? क्योंकि विचार करने की बात है, यदि हिंसाही से धर्म होता हो तो फिर अधर्म किसे कहा जायगा ? क्योंकि मांसाहार करने वाले का मन प्रायः दुःखित और मलिन रहता है और किसी जीव के देखने पर उसके मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह जीव कैसा सुंदर है और इसका मांस स्वादिष्ठ तथा पुष्टिकर ही होगा, तथा इससे कितना मांस निकलेगा। इसलिए मांसाहारी को वन में जानेपर हरिणादि जीवों को देखकर उनके पकड़ने की ही अभिलाषा उठती है। अथवा तालाब या नदी के किनारे पर मत्स्य को देखकर मारने ही की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसी तरह आठपहर हिंसक जीव रौद्रपरिणामवाला बना रहता है। जैसे व्याघ्र, सिंह, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को, खाने के लिए

कोई जीव न मिलने पर भी वैसे कर्मबंधन करने से नरकादि गति अवश्य मिलती है वैसी ही मांसाहारी जीव की दशा जाननी चाहिए। हा ! मांसाहारी जीव सुन्दर पक्षियों का नाश करके जङ्गलों को शून्य कर देते हैं और सुन्दर बगीचे मे अपने कुटुम्ब के साथ आनन्द से बैठे हुए पक्षियों को बन्दूक वगैरह से मारकर नीचे गिरा देते हैं। मुझे विश्वास है कि उस समय के बीभत्स दृश्य को दयालु पुरुष तो कभी नहीं देख सकता, लेकिन मांसाहारी तो उसीको देखकर बड़ी प्रसन्नता से मारनेवाले को उत्तेजना देता है कि वाह ! एकही गोली से कैसा निशाना मारा।

यहाँ पर एक यह भी विचारने की बात है कि एक पक्षी को मारनेवाला एकही जीव का हिंसक नहीं है किन्तु अनेक जीवों का हिंसक है, क्योंकि जिस पक्षी की मृत्यु हुई है यदि वह स्त्री जाति है और उसके छोटे २ बच्चे हैं तो वह माँ के मरजाने से जीही नहीं सकते, फिर उन सबके मरजाने से घोर पापकर्म का बन्ध मारने वाले को होगा। इसलिए कर्मबन्धन होनेसे पहिले ही बुद्धिमान् पुरुषों को चेतना चाहिए।

अब दूसरी बात यह रही कि हिंसा न करने पर भी कितनेही लोग जो पक्षियों को पींजरे में बन्द करते हैं उसमें भी भारी कर्म-बन्ध होता है, याने जो लोग जङ्गल से नये २ पक्षियों को पकड़-वाने में हजारों रुपया खर्च करते हैं और उनके खाने पीने के लिए अनर्थ भी करते हैं, उन शौकीन और धनाढ्य लोगों को समझना चाहिए कि पक्षियों की वनविषयक स्वतन्त्रता को भङ्ग करके कैदी की भाँति पींजरे में डालकर और अधर्म को धर्म मानकर जो यह समझते हैं कि हम पक्षियों को दाना चारा अच्छा देते हैं और दूसरों के भय से मुक्त रखते हैं और बाजार में बिकते हुए जीवोंको केवल जीवदयाही से मोल लेकर रक्खा है, सो यह उनका समझना बिल-कुल असत्य है क्योंकि यदि उनको भी कोई उनके कुटुम्ब से अलग

करके बंधन में डालकर अच्छा भी खाना पीना दे तो क्या वे उसे अच्छा मानेंगे? और जो बाजार में पक्षी बिकने आते हैं उन्हें यदि कोई न खरीदे तो बेचनेवाले कभी नहीं ला सकते; क्योंकि मांसाहारी वैसे २ पक्षियों का मांस प्रायः नहीं खाते हैं। उसमें कारण यह है कि खर्च ज्यादा होकर भी मांस कम मिलता है, इसी लिए जिस देश में पक्षी पालने की चाल नहीं है वहांपर भिन्न २ तरह के लाखों पक्षी रहने पर भी एक भी बाजार में नहीं बिकता, क्योंकि बेचनेवाले को पैसा नहीं मिलता है। गुजरात वगैरह देश में नीच, और दूसरे देशोंसे आए हुए प्रायः करके बावा और फकीर लोग ही पक्षियों को पालते हैं; किन्तु वहां के वासी गृहस्थलोग दयालु होने से पशुशाला में जीवोंको छुड़वा देते हैं। प्रसङ्गवश से यहांपर एक बात यह याद आती है कि समस्त देशों में जिसके कन्या पुत्र नहीं होते हैं वह अनेक देव देवी की मानता करता है और मन्त्र यन्त्र तन्त्रादि का भी प्रयोग करता है तो भी उसके सन्तति नहीं होती है। उसका कारण प्रायः यही है कि पूर्व भव में उसने अज्ञान दशा से किसीके बच्चों को अपने मां बाप से वियोग कराया होगा, या पक्षियों को पींजरे में डाला होगा; इसीलिए उस समय उनके बालकों को दुःख देने से इस भवमें उस पापके उदय होनेसे कितनेही लोगों के पुत्र उत्पन्नही नहीं होता और जिनके होता भी है तो जीता नहीं है। यद्यपि निष्पुत्र लोग पुत्रके लिए संन्यासी, साधु, फकीर वगैरह की पूजा करते हैं; क्योंकि "सेवाधीन सब कुछ है" यह सामान्य न्याय है, यदि किसी समय योगी और फकीर को प्रसन्न देखकर पुत्र प्राप्तिके लिए लोग प्रार्थना भी करते हैं तो यही करते हैं कि "महाराज! एक पुत्र की वांछा है उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय बतलाइये" लेकिन वैसे योगियों और फकीरों को तत्त्वज्ञान तो प्रायः रहता ही नहीं है केवल बाह्याडम्बर ज्यादा रहनेसे लाभकी अपेक्षा जिसमें हानि विशेष होती है उसी कार्य को वे प्रायः बतलाते हैं। इसमें दृष्टान्त यह है

कि जैसे-चीटियों के बिल के पास लोग उनके खाने के लिए आटा और चीनी डालते हैं, जिससे विशेष चींटी वहां आ जाती हैं और वही उपाय पुत्रोत्पत्ति का मानते हैं क्योंकि बिचारे भोले लोग धर्म-तत्त्व के अनभिज्ञ कर्मप्रकृति के अविश्वासी लाभालाभ को न विचार कर कितनेही देशोंमे ऐसी क्रिया करते हुए पाये जाते हैं; लेकिन यहाँ पर विशेष विचार का अवसर है कि जब आटा और चीनी डालने से चीटियां बहुतसी इकट्ठी होती हैं तो अगर वह आटा चीनी कोई जीव खा-जायगा तो बहुतसी चींटियों का संहार होजायगा । प्रायः देखने में भी आया है कि पक्षी आटा खाकर चींटियों का संहार कर डालते हैं । यह एक बात हुई, दूसरी यह है कि चींटी संमूर्च्छन जीव होने से विना माता पिता से भी उत्पन्न होती है, तो आटा और चीनी के मिलने से हवा का संयोग होने पर नयी चीटियां भी उत्पन्न होती हैं, तब उनकी भी हिंसा होती है; इससे स्पष्ट है कि ऐसे कार्य में धर्म की अपेक्षा अधर्म विशेष है । पुत्र-प्राप्तिका उपाय तो परोपकार, शील, सन्तोष, दया, धर्म वगैरह ही है और ऐसेही धर्मकृत्योंके करने से पुत्र की प्राप्ति हो ससती है । लेकिन सपाप क्रिया करने से वैसा फल नहीं मिलता । अत एव जिसमें लाभ की अपेक्षा हानि विशेष हो वह क्रिया नहीं करनी चाहिए । समस्त तत्त्ववेत्ताओंने परोपकार को ही सार माना है और परोपकार जीवदया का पुत्र है, क्योंकि जैसे विना माता के पुत्र का जन्म नहीं होता वैसे ही दया विना परोपकार नहीं होता है । देखिये इसी परोपकार पर व्यासजी का वचन-

“ अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्”॥ १ ॥

अर्थात्—अठारह पुराणों में अनेक बातें रहने पर भी मुख्य दो ही बातें हैं । एक तो परोपकार, जो पुण्य के लिये है और दूसरा (पर पीड़न) दूसरे को दुःख देना, जो पाप के लिए है । अर्थात् परपीड़ा से अधर्म ही होता है और जीवदया रूप परोपकार होने से पुण्यही होता

माता जी ! मेरा लड़का यदि अमुक रोग से मुक्त होगा तो मैं आपको एक बकरा चढाऊँगा "। अगर कर्म के योग से बालक के आयुष्य बलसे आरामी हुई तो मानता करनेवाले लोग समझते हैं कि माता जी ने कृपा करके मेरे लड़के का जीवदान दिया, तब खुशी होकर निरपराधी बकरे को बाजे गाजे के साथ भूषित करके देवी के पास लेजाते हैं और वहांपर उसको नहलाकर और फूल चढ़ाकर तथा ब्राह्मणों से स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले मन्त्रों को उसके मारने के समय पढ़ाकर बकरे का प्राण निर्दय रीति से निकालते हैं—यहांपर एक कवि का वाक्य याद आता है कि:—

" माता पासे बेटा मांगे कर बकरे का साँटा ।
अपना पूत खिलावन चाहे पूत दूजे का काटा ।
हो दिवानी दुनियां " ।

देखिये ! दूसरे के पुत्र को मार कर अपने पुत्र की शान्ति-चाहनेवाली स्वार्थी दुनियां को । यहाँपर ध्यान देना उचित है कि पहिले मानतारूप कल्पना ही झूठी है, अगर मानता से देवी आयुष्य को बढ़ाती होती तो दुनियां में कोई मरता ही नहीं, जो लोग मानता मानते हैं उनसे अगर शपथपूर्वक पूछा जाय तो वह भी अवश्यही यह स्वीकार करेंगे कि सभी मानता हमलोगों की फलीभूत नहीं होती । कितनी ही दफे हजारों मानता करने पर भी पुत्रादि मरण को प्राप्त ही होता है । अतएव मानता दोनों प्रकारसे व्यर्थ ही है—क्योंकि रोगी की अगर आयुष्य है तो कभी मरनेवाला नहीं है तब मानता का कोई प्रयोजन नहीं है, और यदि आयुष्य नहीं है तो बचनेवाला नहीं है, तौ भी मानता निष्फल है ।

और भी विचारिये कि यदि बकरे की लालच से देवी तुह्मारे रोगों को नष्ट करेगी तो वह तुह्मारी चाकरानी ठहरी, अथवा रिश्वत (घूस) लेनेवाली हुई क्योंकि जिससे माल मिले उसका तो भला करे और जिससे न पावे उसका भला न करे । घूस खानेवाले की

दुनियां में कैसी मानमर्यादा होती है सो पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं ।

महाशय ! माता शब्द का अर्थ पहिले विचारिये कि जो सर्वथा पालन पोषण करती है वही माता कही जाती है और जिसके पास बकरे का बलिदान किया जाता है वह जगदम्बा के नाम से दुनियां में कैसे प्रसिद्ध हो सकती है । क्योंकि जो समस्त जीवोंकी माता है वही जगदम्बा कही जा सकती है; तो समस्त जीवोंके बीचमें बकरा आदि भी (जो बलि दिये जाते हैं) आये उनकी भी तो माता ही ठहरी न ? अब सोचिये कि एक पुत्र को खाकर माता दूसरे को बचावे क्या कभी ऐसा होसकता है ? क्योंकि माताके सभी पुत्र समान ही होते हैं । अज्ञानी लोग स्वार्थान्ध होकर माता की मर्जी से विरुद्ध आचरण करके जीव हिंसा के लिए साहस करते हैं, उसीकारण से इस समय महामारी, हैजा प्लेग आदि महाकष्ट को लोग भोगते हैं । क्योंकि माता हाथ में लाठी लेकर नहीं मारती केवल परोक्ष रीति से मनुष्यों की अनीति का दण्ड देती है । मैंने स्वयं देखा है कि विन्ध्याचल में देवीजी का मन्दिर है, वहां पर हजारों संस्कृत के पण्डित विशेष करके नवरात्र में मिलते हैं और प्रातःकाल से लेकर सन्ध्या समय तक वे लोग समस्त सप्तशती (दुर्गा पाठ) का पाठ करते हैं जिसमें कि दुर्गा की भक्ति की प्रशंसा ही है किन्तु वहां पर अनाथ, निर्नाथ, और गरीब से गरीब बकरे और पाठे का बलिदान जो देते हैं वह देखकर उनके भक्तों के मन में भी एक दफे शङ्का होती है कि ऐसी हिंसा करके पूजा करना कहां से चला होगा ? माता भी अपने पुत्र के मारने से नाराज होकर हैजा आदि रूपसे उपद्रव करती है तब ब्राह्मण वगैरह भागते हैं और कितनेही लोग बकरे के मार्गानुगामी होते हैं । यह बात बहुत वार लोगों को प्रत्यक्ष देखने में आती है, और स्वयं अनुभव किया जाता है; तथापि पकडी हुई गदहे की पूँछ को छोड़तेही नहीं । माता की भक्ति बकरे मारने से

ही नहीं होती है । अपने २ मत में मानी हुई काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, अम्बा, दुर्गा वगैरह की सेवा उत्तम २ पदार्थों को चढ़ाकर करनी चाहिए। कितनेही लोग दुर्गापाठ की साक्षी देकर पशुपूजा के लिए आग्रह करते हैं, उनलोगों को समझना चाहिये कि " पशुपुष्पैश्च धूपैश्च " यह जो पाठ है उसमें विचार कीजिए कि पुष्प को जैसे साबूत (समूचा) चढ़ा देते हैं वैसे ही पशु को भी चढ़ादेना चाहिए याने चढ़ते समय यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हे जगदम्ब ! आपके दर्शन से जैसे हमलोग अभय और आनन्द से रहते हैं वैसे ही तुम्हारे दर्शन से पवित्र हुआ यह बकरा जगत् में निर्भय होकर विचरे । अर्थात् किसी मांसाहारी की छुरी उसके गले पर न फिरे । ऐसा संकल्प करके बकरे को छोड़ना चाहिए, जिससे कि पुण्य हो और माता भी प्रसन्न हो, तथा जगदम्बा का सच्चा अर्थ भी घटित हो जाय । अन्यथा जगदम्बा नाम रहने पर भी जगद्भक्षिणी हो जायगी ।

महानुभव ! मनुजी ने ४८ और ४९ वें श्लोक में प्राणियोंके वध से स्वर्ग का निषेध स्पष्ट दिखलाया है । यदि कदाचित् उन श्लोकों को कल्पित मानोगे तो मांसाहार से स्वर्ग होता है यही कल्पित क्यों न माना जाय ? जब कि दोनों कल्पित नहीं हैं तो यही दोनों श्लोक बलवान् हैं और बलवान् से दुर्बल बाधित होता है । और देखिये उसी अध्याय के ५३-५४-५५ श्लोकों को:—

" वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम्" ॥५३॥

भावार्थ—वर्ष २ में एक पुरुष अश्वमेध करके सौवर्ष तक यज्ञ करे और एक पुरुष बिलकुल कोई मांस न खाय तो उनदोनों का समान ही फल है ।

" फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् " ॥ ५४ ॥

अर्थात् जो पवित्र फल मूलादि तथा नीवारादि के भोजन करने से भी फल नहीं मिलता वह केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है ।

" मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्‌म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः " ॥५५॥

याने जिसका मांस मैं यहां खाता हूं वह मुझको भी जन्मान्तर में अवश्यही खायगा—ऐसा " मांस " शब्द का अर्थ महात्मा पुरुषों ने कहा है ।

विवेचन—५३ वें श्लोक में लिखा है कि, सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल मिलता है वह फल मांसाहार मात्र के त्याग करने से होता है । हिन्दू शास्त्रानुसार अश्वमेध की विधि करना इस समय बहुत कठिन है, क्योंकि पहिले तो समस्त पृथ्वी जीतना चाहिये, तब अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता है और तिसपर भी लाखों रुपये खर्च होते हैं और इतने पर भी हिंसाजन्य दोष होता ही है ऐसा **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में दिखलाया है—" **स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः** " अर्थात् स्वल्प, सङ्कर याने दोष सहित यज्ञ का पुण्य है, और सपरिहार याने कितने ही प्रायश्चित्त करके शुद्ध करने के योग्य, तथा सप्रत्यवमर्ष अर्थात् यदि न होवे तो पुण्य भोगने के समय हिंसा जन्य पाप भी अवश्य सहना पड़ेगा इत्यादि ।

यद्यपि इस विषय में वैदिक धर्म को नहीं मानने वाले के साथ विवाद है तौ भी मनुजी ने मांसाहार त्याग करने से जो फल दिखलाया है वह तो सबके मत में निर्विवाद और अनायाससाध्य होने से सर्वथा स्वीकार करने के योग्य है । ५४ वें श्लोक में लिखा है कि, मुनियों के आचार पालने से जो पुण्य मिलता है वह पुण्य केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है, अर्थात् शुष्क जीर्ण पत्राहारादि से जो लाभ होता है वह लाभ मांसाहार के त्याग करने

से होता है । ऐसे सरल, निर्दोष, निर्विवाद, मार्ग को छोड़कर सदोष विवादास्पद, पर के प्राणघातक कृत्यों से स्वर्ग को चाहनेवाले पुरुष को ५५ वें श्लोक पर अवश्य दृष्टि देनी चाहिऐ । मांस शब्द की निरुक्ति में ऐसा लिखा है कि "मां" याने मुझको खानेवाला "सः" याने वह होगा, जिसका मांस मैं खाता हूँ, ऐसा मांस शब्द का अर्थ मनुजी कहते हैं; अब मनुजी के वाक्य को मान करके यज्ञादि करने वालों को ध्यान देना चाहिए कि स्वर्ग जाने के लिये बहुत से रास्ते हैं तो फिर समस्त प्रजा के अनुकूल रास्ते से जानाही सर्वथा ठीक है याने प्रजा वर्ग के प्रतिकूल रास्ते से जाना उचित नहीं है ।

पुराणों ने भी पुकार २ कर हिंसा का निषेध किया है । देखिये व्यासजी ने पुराणों में इस तरह कहा है—

"ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाऽम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि" ॥ १ ॥
"ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्" ॥ २ ॥
"कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः" ॥ ३ ॥
"प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाऽहिमुखकोटरात्" ॥ ४ ॥

अर्थात्—ज्ञानरूप पाली से युक्त ब्रह्मचर्य और दयारूप जलमय अत्यन्त निर्मल पापरूप कीचड़ को दूर करनेवाले तीर्थ में स्नान करके ध्यानाग्निमय दमरूप वायु से संतप्त हुआ जीवरूप कुण्ड में असत्कृत्यरूप काष्ठों से उत्तम अग्निहोत्रों को करिये । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायरूप दुष्ट पशुओं को (जो धर्म, अर्थ तथा काम को नाश करने वाले हैं) शमरूप मन्त्र से मार कर पण्डितों से किये हुए यज्ञ को करो । और प्राणियों के नाश से जो धर्म की इच्छा

करता है वह श्यामवर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है ।

विवेचन—पूर्वोक्त चारो श्लोकों से अहिंसामय यज्ञ को पाठक-लोग समझ गये होंगे । इस प्रकार यज्ञ करने से क्या स्वर्ग नहीं मिलेगा ? यदि इस विधि में विश्वास नहीं है तो विवादास्पद सदोष विधि में तो अत्यन्त विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा-जन्य कार्य को वेद के माननेवालों में भी बहुत से विपरीत हैं । देखिये अर्चिमार्गियों के उद्गार—

यथा—

" देवापहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् "॥१॥

भावार्थ—देव की पूजा के निमित्त या यज्ञ कर्म के निमित्त से जो निर्दय पुरुष प्राणियों को निर्दय होकर मारता है वह घोर दुर्गति में जाता है, अर्थात् दुर्गति को पाता है ।

वेदान्तियों के वचन को सुनो—

" अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति " ॥ १ ॥

भावार्थ—जो हमलोग यज्ञ करते हैं वह अन्धकारमय स्थान में डूबते हैं क्योंकि हिंसा से न कदापि धर्म हुआ और न होगा ऐसे वाक्य अनेक जगह में दिखाई पड़ते हैं । तथापि आग्रह में डूबे हुए पुरुष लाभालाभ का विचार न करके सत्य वस्तु का आदर नहीं करते हैं और न युक्ति को देखते हैं । देखिये व्यासजी ने चौथे श्लोक में कहा है कि यदि सर्प के मुख से अमृत वृष्टि होती हो तो हिंसा से भी धर्म हो सकता है— यह व्यासजी का कैसा युक्तियुक्त वाक्य है और युक्तियुक्त वाक्य किसीका भी हो तो उसके स्वीकार करने को समस्त लोग तैयार होते हैं; फिर व्यास ऐसे कविवर के वाक्य को कौन नहीं मानेगा ? ।

मनुजी ने ५३–५४–५५ वें श्लोक में जो अहिंसा मार्ग दिखलाया है वह समस्त मनुष्यों के माननेयोग्य है क्योंकि अहिंसा ही सब कल्याणों को देने वाली है, इस विषय में जैनाचार्यों के वाक्यामृत को देखिये–

" क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम् ।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः " ॥ १ ॥

भावार्थ–प्राणियों में दयाही करनी चाहिये, दूसरे क्लेशों से कुछ प्रयोजन नहीं है । क्योंकि सुकृत के क्रीड़ा करने का स्थान अहिंसा है अर्थात् अहिंसा सुकृत को पालन करनेवाली है और दुष्कृतरूप धूली को उड़ाने के लिये वायु समान है, संसाररूपी समुद्र के तरने के लिये नौकासमान है, और व्यसनरूप दावाग्नि के शान्त करनेके लिये मेघकी घटा के तुल्य, तथा लक्ष्मी के लिये संकेतदूती है; अर्थात् जैसे दूती स्त्री या पुरुष को परस्पर मिला देती है वैसेही पुरुष का और लक्ष्मी का मेल अहिंसा करा देती है और स्वर्ग में चढ़ने के लिये सोपानपङ्क्ति है, तथा मुक्ति की प्रियसखी कुगति के रोकने के लिये अर्गला अहिंसा ही है ।

विवेचन–अहिंसा ही समस्त अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली है इस पर किसी २ को यह शङ्का उत्पन्न होगी कि ब्रह्मचर्यपालन, परोपकार, सन्तोष, ध्यान, तप, आदि धर्म, शास्त्र में जो कहे हुए हैं वह व्यर्थ हो जायँगे क्योंकि केवल दया करनेही की सूचना की गई है और अन्य क्लेशों की मनाही की है । उसके उत्तर में समझना चाहिए कि जिसके हृदय में अहिंसा देवी का थोड़ा बहुत प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है उसके हृदय मन्दिर में ब्रह्मचर्य, परोपकार सन्तोष, दान, ध्यान, तप, जपादि समस्त गुणों की श्रेणी बैठी हुई है,

अगर न हो तो दया देवी निरुपद्रव रह ही नहीं सकती। अहिंसारूप सुन्दर बगीचे में दान, शील, तप, भावादि क्यारियां सुशोभित हैं। और कारुण्य, मैत्री, प्रमोद, और माध्यस्थ्य, ये चार प्रकार की भावनारूप नाली से शान्तिरूप जल इधर उधर बहता है। तथा दीर्घायुष्य, श्रेष्ठशरीर, उत्तमगोत्र, पुष्कल द्रव्य, अत्यन्त बल, ठकुराई, आरोग्य, अत्युत्तम कीर्त्तिलतादि वृक्षों की पङ्क्ति कल्लोल कर रही है, और विवेक, विनय, विद्या, सद्विचार आदि की सरल और सुन्दर पत्रपाङ्क्तियां प्रफुल्लित होकर फैल रही हैं; तथा परोपकार, ज्ञान, ध्यान, तप, जपादि रूप पुष्पपुञ्ज भव्यजीवों को आनन्दित कर रहा है, एवं स्वर्ग, अपवर्ग रूप अविनश्वर फलों का बुभुक्षित मुनि आस्वादन कर रहे हैं; ऐसे अहिंसारूप अमूल्य बगीचे की रक्षा के लिये, मृषावाद–परिहार अदत्तादान–परिहार, ब्रह्मचर्य–सेवा, परिग्रह–त्याग रूप अटल अभेद्य (काम क्रोधादि अनादिकाल के अपने शत्रुओं से दुर्लङ्घ्य) किले की आवश्यकता है । विना मर्यादा कोई चीज नहीं रह सकती, अत एव अहिंसारूप अत्युपयोगी बगीचे के बचाने के लिये समस्त धर्मवाले न्यूनाधिक ध्यान सन्ध्याऽऽदि धर्मकृत्यों को करते हैं, यह बात सर्वथा माननीय है यदि इस बात के न मानने वाले को नास्तिक कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। जीवहिंसा के समान दूसरा कोई पाप नहीं है और दया के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसलिये हिंसा से कभी धर्म नहीं होता, इसके लिये कहा है कि–

" यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् " ॥ १ ॥

भावार्थ–यद्यपि जल में पत्थर तैरता नहीं है, यदि वह भी किसी प्रकार तैरे; और सूर्य पश्चिमदिशा में उदय नहीं होता, यदि वह भी किसी प्रकार उदय हो, और अग्नि कदापि शीतल नहीं

होती, यदि वह भी सीता ऐसी महासती के प्रभाव से शीत हो जाय, एवं पृथ्वी कभी अधोभाग से ऊपर नहीं होती यदि वह भी हो तौ भी प्राणियों का वध कभी सुकृत को उत्पन्न नहीं करेगा। और इसी बात को दृढ़ करने के लिये जैनाचार्यों ने कहा है कि—

"स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्ता-
दमृतमुरगवक्त्रात् साधुवादं विवादात्।
रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटा-
दभिलषति वधाद् यः प्राणिनां धर्ममिच्छेत्" ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्राणियों के वध से धर्म की इच्छा करता है वह दावानल से कमल की इच्छा करता है, या सूर्य के अस्त होने पर दिन की वाञ्छा करता है, अथवा सर्प के मुखसे अमृत की अभिलाषा करता है, तथा विवाद (झगड़े) से अपने को अच्छा कहलाना चाहता है, और अजीर्ण से रोग की शान्ति चाहता है और हलाहल (ज़हर) से जीने की इच्छा करता है।

विवेचन—यद्यपि पत्थर जल में तैरता नहीं फिर भी यदि किसी प्रकार तैरे तौ भी आश्चर्य नहीं, किन्तु प्राणियों के वध से पुण्य कदापि नहीं हो सकता। धूममार्गानुसारी कहते हैं कि हमलोग मन्त्र से पवित्र करके मांस को खाते हैं, अतएव दोष नहीं लगता, किन्तु पुण्य का ही उपार्जन है, यह बात ठीक नहीं है—क्योंकि विवाहादि कृत्यों में मन्त्र पढ़े जाते हैं उसमें विपरीत भी फल दिखाई देता है, तब मांसाहार से विपरीत फल क्यों न हो? मन्त्रसंस्कृत मांस भक्ष्य है और दूसरा अभक्ष्य है, यह कहना मात्र है; किन्तु मांसमात्र अभक्ष्य ही है क्योंकि विष को मन्त्र से संस्कृत करोगे तौ भी मारेगा और असंस्कृत रहने पर भी मारेही गा। जान कर खाने में या अनजान से खाने में, जीने के लिये या मरने के लिये, या किसी रीति से खाया जाय तौ भी प्राणनाश ही करेगा। हिंसाजन्य पाप का नाश कभी नहीं होता। बुद्धजी के ही वचनों को देखिये—

" इत एकनवति कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! " ॥ १ ॥

अर्थात् इस भव से एकानवे कल्प में मैंने शक्ति से पुरुष को मारा था, उससे उत्पन्न हुए पाप कर्म के विपाक से, हे साधुजन ! मैं कण्टक से पाद में विद्ध हुआ हूँ । किये हुए कर्म, भवान्तर में भोगनेही पड़ते हैं; " यादृशं क्रियते कर्म तादृशं प्राप्यते फलम् " याने जैसा कर्म किया जाता है वैसाही फल मिलता है, कर्म को किसीका भी लिहाज नहीं है पशुमारनेवाला जरूर पाप का भागी-होता है और नरक जाता है ।

यथा–

" यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ! ।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः " ॥ १ ॥

भावार्थ–हे भारत ! पशु के शरीर में जितने रोम हैं उतने हजार वर्ष पशु के घातक नरक में जाकर दुःख भोगते हैं । याने स्वकृत–कर्मानुसार ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदनादि क्रिया को सहते हैं । ऐसे स्पष्ट लेख रहने पर भी हिंसा में धर्म मानने वाले मनुष्य, महानुभाव भद्रलोगों को भ्रम में डालने के लिये कुयुक्ति देते हैं कि विधिपूर्वक मांस खाने से स्वर्ग होता है इतनी आज्ञा देने से अविधि से मांसखानेवाले लोग भय से रुक जावेंगे और हिंसा भी नियमित ही होगी, इत्यादि कुत्सित विचारों के उत्तर में समझना चाहिए कि अविधि से मांस खानेवाले तो अपने आत्मा की निन्दा करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे, क्योंकि आत्मा का स्वभाव मांस खानेका नहीं है किन्तु विधिपूर्वक मांस खानेवाले पश्चात्ताप नहीं करते बल्कि धर्म मानकर प्रसन्न होते हैं, तथा एक दफे मांस का स्वाद लेने से समय २ पर देवपूजा के व्याज से उदर की पूजा करेंगे और हिंसा के निषेध करनेवालों के सामने विवाद करने को तैयार होंगे । तो सोचिये कि यह अनर्थ होगा कि लाभ होगा ? इस बात का विचार

बुद्धिमानों को करना चाहिए । मैं कह सकता हूँ कि स्वर्ग की लालच से अन्ध श्रद्धा वाले होकर अनर्थ करते हैं । सांख्य लोग भी मांस-भोजियों के प्रति आक्षेप पूर्वक उपदेश करते हैं ।

यथा—

" यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ? " ॥ १ ॥

अर्थात् यज्ञस्तम्भ को छेदकर, पशुओं को मारकर, रुधिर का कीचड़ करके इसतरह यदि स्वर्ग में गमन हो तो नरक में कौन कर्मसे गमन हो सकेगा, अर्थात् जीव हिंसा के समान पाप दुनियां भर में नहीं है । वैसे क्रूर कर्म करने से यदि स्वर्ग में गमन होता हो तो हिंसा से हीन अतिरिक्त कौन कर्म है कि जो नरक में लेजावे । देखिये तुलसीदास के अहिंसा—पोषक वचनों को ।

यथा—

" दया धर्म को मूल है पापमूल अभिमान ।
तुलसी दया न छाड़िए जबलग घट में प्रान " ॥१॥

अर्थात् धर्म का मूल दया है तो हिंसा जहाँ होगी वहाँ पर दया का नाम भी नहीं रहेगा । और मूल विना वृक्ष रह नहीं सकता और वृक्ष के विना फल नहीं हो सकता; यह बात साधारण भी मनुष्य समझ सकता है, जैसे कहा है कि—

" दयामहानदीतीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः ।
तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ? " ॥१॥

भावार्थ—दयारूप महानदी के तीर में सभी धर्म तृणाङ्कुर के समान हैं उस नदी के सूख जाने पर वे अङ्कुर कहां तक आनन्दित रहेंगे ?

विवेचन—नदी के तीर में वृक्ष, घास, लता आदि सभी वृद्धि को प्राप्त होते हैं, नदी के जल की शीतल हवा के स्पर्श होने से नवपल्ल-

वित रहते हैं, किन्तु नदी वर्षा के अभाव से यदि शुष्क हो जावे तो उसके आधार से उत्पन्न हुए संपूर्ण वनस्पति नष्ट हो जाते हैं; वैसे ही दयारूप नदीके अभावसे धर्मरूप अङ्कुर स्थिर नहीं रह सकते। नीतिशास्त्रकार ने भी दया की मुख्यता दिखलाई है।

यथा–

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्णच्छेदनतापताडनैः।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः"॥१॥

अर्थात् जैसे निघर्षण (कसौटी पर कसना) तथा छेदन (काटने), ताप (तपाने), ताड़न (पीटने) आदि से सुवर्ण परीक्षित होता है वैसेही शास्त्र, शील, तप, दया आदि गुणों से विद्वान् पुरुष धर्म की परीक्षा करते हैं।

विवेचन–जब सुवर्ण के चञ्चल और विनश्वर वस्तु रहने पर भी बुद्धिमान् उसकी परीक्षा करनेको नहीं चूकते, तो यदि अविनश्वर अचल, अनुपम सुख को देनेवाले धर्मरत्न की परीक्षा करें तो इसमें आश्चर्यही क्या है? जैसे सुवर्णकी परीक्षा के लिये निघर्षणादि पूर्वोक्त चार प्रकार दिखलाये गये हैं वैसेही धर्मरत्न की परीक्षा के लिये श्रुत, शील, तप और दया दिखलाई है; जिस शास्त्र में परस्पर विरुद्ध बात न हो किन्तु युक्तियुक्त पदार्थोंकी व्याख्या हो, तथा परोपकारादि गुणों का वर्णन हो वह शास्त्र प्रामाणिक मानना चाहिए। शील याने ब्रह्मचर्य अथवा आचार के पालने की आवश्यकता को सहेतुक जानने वालाही ब्रह्मचर्यपालनेवाला गिना जाता है, और ब्रह्मचर्य पालन का मूल कारण जीवदयाही है। क्योंकि कामशास्त्रकार वात्स्यायन ने स्वशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि स्त्री की योनि में असंख्य कीड़े उत्पन्न होते हैं इसीसे उसको पुरुषसेवन करनेकी उत्कट इच्छा होती है और जैनशास्त्रकार तो स्त्रीयोनिगत वीर्य और रुधिर में असङ्ख्य जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिये गर्भज ९ लाख जीव एक वार मैथुन करने से मरजाते हैं और द्वीन्द्रियादि जीवों के मरनेकी

संख्या दो लाख से लेकर नौ लाख तक है और संमूर्च्छिम जीव भी असंख्यात मरते हैं; इस पर दृष्टान्त यह है कि जैसे बांस की नली में भरी हुई रुई को तप्त लोहे की सलाई शीघ्र भस्म कर देती है वैसेही स्त्रीपुरुष के संयोग से योनिस्थ संमूर्छिम असंख्य और द्वीन्द्रियादि एक से लेकर नव लाख तक मरजाते हैं तथा गर्भज ९ लाख एकवार ही विषय सेवन से नष्ट होजाते हैं और नये नये उत्पन्न होते हैं; कर्मयोग से जो एक दो या तीन जीव रह जाते हैं वह बालकरूप से उत्पन्न होते हैं। मद्य, मधु (शहद) और मांस, तथा मक्खन में असङ्ख्य कीड़े उसी रंग के उत्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त बातों को निश्चय करानेवाली प्राकृतगाथाएँ यहाँ पर दी जाती हैं—

"तहिं पंचिंदिअ जीवा इत्थीजोणीनिवासिणो।
मणुआणं नवलक्खा सव्वे पासेई केवली" ॥ १ ॥
"इत्थीणं जोणीसु हवन्ति बेइन्दिया य जे जीवा।
इक्को य दुन्नि तिन्निवि लक्खपहुत्तं तु उक्कोसं" ॥ २॥
"पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुअ दिट्ठंतेणं तत्ताइ सिलागनाएण" ॥ ३ ॥
"इत्थीण जोणिमज्झे गब्भगयाइं हवन्ति जे जीवा।
उप्पज्जन्ति चयन्ति य समुच्छिमा असंखया भणिया"॥४॥
"मेहुणसंनारूढो नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं;
तित्थयरेणं भणियं सद्दहिअव्वं पयत्तेणं" ॥ ५ ॥
"मज्जे महुम्मि मंसम्मि नवणीयम्मि चउत्थए।
उप्पज्जन्ति असंखा तव्वन्ना तत्थ जन्तुणो" ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त गाथाओं का भावार्थ पहिलेही लिखा जा चुका है इसलिये अब विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

पाठकों ने अच्छी तरह से समझ लिया होगा कि वस्तुतः ब्रह्मचर्य अहिंसा पालन के लिये ही है, तथापि यदि लौकिक व्यवहार पर भी

दृष्टि दी जाय तो और भी विशेष स्पष्ट होगा। देखिये किसीकी बहिन या स्त्री पर कुदृष्टि करने से जो दुःख होता है उसका विवेचन करना असंभव है और दुःख देना ही अहिंसा का स्वरूप है। अतएव ब्रह्मचर्य पालन अहिंसा के लिये है और उस ब्रह्मचर्य को ही शील कहते हैं। अथवा शील से सदाचार भी लिया जाता है और जिसके पालने में किसीको बाधा न हो वही सदाचार कहलाता है; अतएव सदाचार सबका उपकारक ही होता है क्योंकि उससे किसीका भी अपकार नहीं होता।

यथा–

"लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः" ॥ १ ॥

भावार्थ–प्रामाणिक लोगों के अपवाद से डरना, और दीनों के उद्धार में आदर करना, तथा आदर किये हुए गुणों को जानना तथा सुन्दर दाक्षिण्य को सदाचार कहते हैं, ऐसे सुन्दर आचार को ही शील कहते हैं; तथा जिसके आचरण से इन्द्रियों का निग्रह होता है उसे तप कहते हैं, अर्थात् कषायों की शान्ति और सर्वथा आहार का त्याग तप है।

यथा–

" कषायविषयाऽऽहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः" ॥ १ ॥

अर्थात्–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि कषाय और पञ्चेन्द्रिय के विषयों का जिसमें त्याग है उसीको उपवास कहना चाहिए, इससे अतिरिक्त तपस्या को तत्त्ववेत्ता लोग लङ्घन कहते हैं।

लेकिन बहुतोंको देखकर आश्चर्य होता है कि दशमी के रोज खान पान में चार आने से उनका कार्य सिद्ध होता है किन्तु एकादशी के रोज आठ आने का माल उड़ जाता है तो भी उपवास ही कहा जाता है यह क्या कोई उपवास (तप) है? जिस

तप से कर्मों का नाश हो उसी का नाम तप है। मन, वचन और शरीर से किसी जीव की हानि नहीं करना किन्तु समस्त जीवों को अपने समान ही मानने को दया कहते हैं; क्योंकि जैसे अपने शरीर में फोड़ा होने से वेदना का अनुभव होता है और उसके हजारों उपचार करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य के लिये उपचार करना सर्वथा पण्डितों को उचित है क्योंकि अन्यजीवों पर जो दया नहीं करता वह कदापि पण्डित नहीं कहलाता है।

यथा–

"आत्मवत् सर्वभूतेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
मातृवत् परदारेषु यः पश्यति स पण्डितः (यः पश्यति स पश्यति)" १

भावार्थ–जो पुरुष सब प्राणियों में अपनी आत्मा के समान बर्ताव करता है और दूसरे के द्रव्य में पत्थर के समान बुद्धि करता है तथा परस्त्री को माता की तरह देखता है वही पण्डित है, अथवा वही नेत्रवाला है।

देखिये पूर्वोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि सब प्रकार जीवों को शान्ति देनीही दया है। और पूर्वोक्त शास्त्र, शील, तप, दया जिसमें हो उसे धर्मरत्न जानना चाहिए। इससे भिन्न कोई धर्म नहीं है किन्तु इससे भिन्न जो कुछ होगा वह भद्रिक जीवों को भव-भ्रमणकरानेवाला ही होगा। इसी कारण से नीतिकार श्लोकरत्नों को भूमण्डल में छोड़ करके परीक्षा करने के लिये प्रेरणा करते हैं, तथापि वर्तमान कालके मनुष्य पक्षपातरहित होकर विचार नहीं करते, किन्तु विशुद्ध और निर्मल अहिंसा धर्मका अनादर करके हिंसा करने में कुयुक्तियों का उपयोग करते हैं। वस्तुतः अहिंसादि सामान्य धर्म समस्त दर्शनानुयायियों को संमत है।

यथा–

" पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् " ॥ १ ॥

याने अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन,

और सर्वथा परिग्रह याने मूर्च्छा का त्याग, ये पांच पवित्र महाव्रत समस्त दर्शनानुयायी महापुरुषों को बहुमानपूर्वक माननीय हैं, अर्थात् संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, मीमांसक, साङ्ख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भवै, भागवत, नग्नव्रत, जटिल आदि आधुनिक तथा प्राचीन समस्त मतवालों ने यम, नियम, व्रत, महाव्रतादि के नाम से मान दिया है और देते भी हैं। तथा इस विषय में पुराणों की साक्षी भी इस तरह देते हैं–

महाभारतीय शान्तिपर्व के प्रथम पाद में लिखा है कि–

"सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत!।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत् कुर्यात् प्राणिनां दया" ॥१॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जो प्राणियों की दया फल देती है वह फल चारो वेद नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सर्वतीर्थों के स्नान वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते हैं।

और यह भी कहा है–

"अहिंसालक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया" ॥१॥

अर्थात् दया ही धर्म है और प्राणियों का वध ही अधर्म है, इस कारण से धार्मिक पुरुषों को सर्वदा दया ही करनी चाहिए। क्योंकि विष्ठा के कीड़े से लेकर इन्द्र तक सबको जीविताशा और मरणभय समान है। और भी देखिये–

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताऽऽकाङ्क्षा तुल्यं मृत्युभयं द्वयोः" ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट ही है।

अब जैनशास्त्र के प्रमाण से दशवैकालिक का यथार्थ वचन दिखलाया जाता है–

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं" ॥ १ ॥

भावार्थ—समस्त जीव जीने ही की इच्छा करते हैं किन्तु मरने की कोई भी इच्छा नहीं करता, अतएव प्राणियों का वध घोर पापरूप होने से साधुलोग उसका निषेध (त्याग) करते हैं । इस बातको दृढ़ कराते हुए तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि—

"दीयते म्रियमाणस्य कोटिर्जीवित एव वा ।
धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति" ॥१॥

अर्थात्—अगर मरते हुए जीव को कोई आदमी करोड़ अशर्फी दे और कोई मनुष्य केवल जीवन दे तो अशर्फियों की लालच को छोड़ वह जीवन की ही इच्छा करेगा क्योंकि स्वभाव से जीवों को प्राणों से प्यारी और कोई वस्तु नहीं है । इस बात को विशेष दृढ़ करने के लिये यह दृष्टान्त है—

एक समय राजसभा में बुद्धिमान पुरुषों ने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि प्राण से बढ़कर कोई चीज नहीं है, इस बात को सुनकर राजा ने परीक्षा करने के लिये चार पुरुषों को बुलाया और हर एक के हाथ में तेल से भरा हुआ कटोरा देकर आज्ञा दी कि तुम सबलोग कटोरे को ले करके शहर के किले की चारों तरफ प्रदक्षिणा करो किन्तु पात्र से रास्ते में एक भी बूँद तेल का न गिरे अगर गिरेगा तो पहिले को दसहजार अशर्फियों का दण्ड होगा, और दूसरे को पचास हजार, तथा तीसरे को लाख और चौथे को कहा गया कि तुह्मारी जान ही लेली जायगी । इस राजा की आज्ञा के वशीभूत होकर चारो आदमी चले, किन्तु कटोरों के भरपूर होने से कुछ न कुछ गिरने का सम्भव था ही, इसलिये वे लोग धीरे २ बहुत ही सम्हाल कर चले किन्तु वैसा करने पर भी पहिले और दूसरे से आधी दूर पहुँचने पर कितनी ही बूँदें गिरीं, तीसरे से अन्त में जाकर कुछ बूँदें गिरीं, लेकिन जिससे यह कहा गया था कि तुह्मारी जान ही लेली जायगी उससे तो एक बूँद भी नहीं

गिरी। क्योंकि उसने मन, वचन और काया की एकाग्रता से काम किया था; अर्थात् जैसा भरा पुरा कटोरा उसने राजा के पास से उठाया था वैसा ही पहुँचा दिया। इसलिये राजा देखकर चकित हुआ कि अहो! देव से भी दुर्लभ कार्य जीविताशा से हो सकता है। इसलिये निश्चय से जीविताशा को नाश करनेवाले पुरुष महापापी हैं, और अभयदान देनेवाला महादानी शास्त्र में कहा गया है—

यथा—

"महतामपि दानानां कालेन हीयते फलम्।
भीताभयप्रदानस्य क्षय एव न विद्यते" ॥१॥

"कपिलानां सहस्राणि यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्याद् न च तुल्यं युधिष्ठिर!" ॥२॥

"दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वेऽप्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्" ॥ ३ ॥

"नातो भूयस्तपो धर्मः कश्चिदन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत् प्रदीयते" ॥ ४ ॥

"वरमेकस्य सत्त्वस्य दत्ता ह्यभयदक्षिणा।
न तु विप्रसहस्रेभ्यो गोसहस्रमलङ्कृतम्" ॥५॥

"हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः" ॥६॥

"यथा मे न प्रियो मृत्युः सर्वेषां प्राणिनां तथा।
तस्माद् मृत्युभयान्नित्यं त्रातव्याः प्राणिनो बुधैः" ॥७॥

"एकतः क्रतवः सर्वे समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्" ॥ ८ ॥

"एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य प्राणिणः प्राणरक्षणम्" ॥ ९ ॥

भावार्थ—बड़े से भी बड़े दान का फल कुछ काल में क्षीण हो जाता है, किन्तु डरे हुए प्राणी को अभय देने से जो फल उत्पन्न होता

है उसका क्षय नहीं होता, अर्थात् अभयदान से मोक्ष होता है । १

ब्राह्मणों को हजारों कपिला गौएँ दी जावें और यदि केवल एक जीव को भी अभयदान दिया जाय तो बराबर ही फल नहीं है बल्कि अभयदान का फल अधिक है । २

इष्ट वस्तु के दान से, तपस्या करने से, तीर्थसेवा से या शास्त्र के पढ़ने से, जो पुण्य होता है वह पुण्य अभयदान के सोलहवें भाग के सदृश भी नहीं है । ३

भयभीत प्राणी को जो अभयदान दिया जाता है उससे बढ़कर पृथ्वी पर तप अधिक नहीं है अर्थात् सर्वोत्तम अभयदान ही है । ४

एक जीव को अभयदान रूप दक्षिणा देनी श्रेष्ठ है, किन्तु भूषित भी हजारों गौओं का दान देना वैसा श्रेष्ठ नहीं है । ५

हेम (सुवर्ण), धेनु (गौ) तथा पृथ्वी के दाता संसार में अनेक हैं किन्तु प्राणियों को अभय देने वाले जगत् में दुर्लभ हैं । ६

हे अर्जुन ! जैसे मुझे मृत्यु प्रिय नहीं है वैसे ही प्राणिमात्र को मृत्यु अच्छी नहीं लगती अतएव मृत्यु के भय से प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए । ७

एक तरफ समग्रदक्षिणावाली यज्ञ और दूसरी तरफ भयभीत प्राणी की प्राणरक्षाकरना बराबर है । ८

तथा एक तरफ सुवर्ण का सुमेरुदान, तथा बहु रत्नवाली पृथ्वी का दान रक्खा जाय और एक तरफ केवल प्राणी की रक्षा रक्खी जावे तो समान ही है । ९

विवेचन—पूर्वोक्त श्लोक जो पुराणों के हैं पाठकों ने उनको देखा होगा कि इनमें अभयदान की ही प्रशंसा की है, जैनशास्त्र में तो अभयदान को मोक्ष का कारण माना है । उसी रीति से पुराणों में भी लिखा है, तथापि कितने ही लोग शास्त्रमोहित होकर अभयदान की महिमा को नहीं समझते । यहाँ पर प्रथम श्लोक सब दानों में अभय दानको ही श्रेष्ठ बतलाता है और अभयदान देनेमें द्रव्यका भी

कुछ खर्च नहीं पड़ता है, केवल मन में दयाभाव रखकर छोटे बड़े सभी जीवों की यथाशक्ति रक्षा तथा क्रूरता का सर्वथा त्याग करना चाहिये; और अपने सुख के लिये अन्य जीवोंका प्राण लेना किसीको उचित नहीं है, इसीसे लिखा हुआ है कि–

"न गोप्रदानं न महीप्रदानं नाऽन्नप्रदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्" ॥२९८॥

पृ. ७७ पञ्चतन्त्र ।

अर्थात् विद्वान् लोग संपूर्ण दानों में जैसा अभयदान को उत्तम मानते हैं वैसा गोदान, पृथ्वीदान और अन्नदान आदि किसी को भी प्रधान नहीं मानते हैं ।

कितने ही अज्ञानी जीव विना विचारे ही मच्छर, डाँस खटमल, जूँआ, वगैरह छोटे २ जीवों को स्वभाव से ही मार डालते हैं, और बहुत से तो घोड़े के बाल की मूरछल से, या हाथ से, या घर में धूआँ करके, या गरम जल से खटमल आदि जीवों को मारते हैं, परन्तु यदि कोई उनको समझावे तो वे ऊटपटांग जवाब देकर अपना बचाव करने का यत्न करते हैं, लेकिन वस्तुतः वैसे जीवों के मारने से भी बहुत पाप होता है। इस विषय को दृढ़ करानेवाला वाराह पुराण का श्लोक देखिये–

" जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानि कदाचन ।
ये न हिंसन्ति भूतानि शुद्धात्मानो दयापराः" ॥ ८ ॥

१३२ अ. ५३२ पृ.

भावार्थ–मनुष्य, गौ, भैंस बकरी वगैरह और अण्डज अर्थात् सब प्रकार के पक्षी, उद्भिज्ज याने वनस्पति, और स्वेदज याने खटमल, मच्छर, डांस, जूआँ, लीख वगैरह समस्त जन्तुओं की जो पुरुष हिंसा नहीं करते हैं वेही शुद्धात्मा, और दयापरायण सर्वोत्तम हैं ।

विवेचन—पूर्वोक्त श्लोक से स्पष्ट हुआ कि समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिये, याने किसी जीव को किसी प्रकार से भी मारना उचित नहीं है।

खटमल, मच्छर, मच्छी, जूआँ वगैरह पहिले तो मनुष्य के पसीने और गन्दगी से पैदा होते हैं, किन्तु पीछे वे अपने २ पूर्वजों के खून से उत्पन्न होते हैं। परन्तु जहां कहीं वैसे जीव मरते हैं वहां पर पहिले से दूने बल्कि चौगुने उत्पन्न होते हैं अत एव उनको मारना लाभदायक न होकर हानिकारकही है; यद्यपि वे जीव अपना२ काल पूरा करके स्वयं मरेंगे तथापि उनको मारना नहीं चाहिये क्योंकि अभयदान जैसा उत्तम है वैसा कोई भी उत्तम धर्म नहीं है यह बात पूर्वोक्त श्लोकसे स्पष्ट हो ही चुकी है। इसलिये जब कोई जीव अपने शरीर पर बैठे तो उसे कपड़े से सहज में हटादेना चाहिए; और जमीन को भी जहाँ तक बनसके देख देख कर चलना चाहिए जिससे कोई जीव मरने न पावे। यदि किसी को द्रव्य कुछ भी खर्च न करके धर्म करने की इच्छा हो तो उसके लिये अहिंसा धर्म के सिवाय कोई दूसरा धर्म नहीं है। इसीसे श्रीमद्भगवद्गीता में भी दैवीसम्पत् और आसुरीसंपत् जो दिखलाई गई हैं, उनमें दैवीसम्पत् तो मोक्ष को देनेवाली है, और आसुरीसम्पत् केवल दुर्गति का कारण है। और दैवीसंपत् में भी केवल अभयदान को ही मुख्य रक्खा है।

यथा—

" अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् " ॥ १ ॥
" अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् " ॥ २ ॥
" तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानता।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !" ॥ ३ ॥

गीता अ० १६

भावार्थ–अभय याने भयका अभाव १, सत्त्वसंशुद्धि चित्तसंशुद्धि, अर्थात् चित्तप्रसन्नता २, आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय में श्रद्धा ही ज्ञानयोगव्यवस्थिति है ३, और अपने भोगने की वस्तु में से यथोचित अभ्यागत को देने को दान कहते हैं ४, बाह्येन्द्रियों को नियम में रखना ही दम कहलाता है ५, तथा ईश्वर की पूजा रूप ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ का यह अर्थ भगवद्गीता के पृ. २७ कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में २३ वाँ श्लोक पहिलेही लिख दिया है, कि–"**यज्ञायाचरतः कर्म**"–अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म के स्वीकार से ।

अत एव यहां पर भी वही अर्थ घटता है, क्योंकि अन्य यज्ञ के हिंसामय होने से अभय, अहिंसा, दया तीनों वस्तु पृथक् २ दिखलाई गई हैं । यदि यहां पर हिंसामय यज्ञ का कथन होता तो दैवीसंपत् के कारण जो छब्बीस गिनाये हैं, उनमें परस्पर विरुद्ध भाव हो जाता, अत एव यज्ञ का अर्थ यहाँ पर ईश्वर पूजा से अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता है ६, तत्त्वविद्या का पाठ ही स्वाध्याय है ७; तप तीन प्रकार का है, वह पृ. ९४ अध्याय १७ वें में कहा है कि—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते" ॥१४॥
"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते" ॥१५॥
"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतद् तपो मानसमुच्यते" ॥१६॥

भावार्थ– देव, ब्राह्मण, गुरु और पण्डित की पूजा, शौच-अन्तःकरणशुद्धि, सरलता ब्रह्मचर्य, अहिंसारूपही शरीर का तप

कहलाता है। उद्वेग को नहीं करनेवाला वाक्य, सत्य, प्रिय, हितकर और स्वाध्याय तथा अभ्यास यह वाङ्मय तप है। मनकी प्रसन्नता, चन्द्रमाके तुल्य शीतलता, मौन होना, आत्मनिग्रह, और भाव की शुद्धता मानस तप कहलाता है। इस शारीरिक, मानसिक, वाचिक रूपसे तीन प्रकार का तप लिखा है ८; अवक्रता को आर्जव कहते हैं ९, जिसमें पर की पीड़ा किसी प्रकार की न हो उसे अहिंसा कहते हैं १०, यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं ११, अत्यन्त ताड़न किये जाने पर भी मन में कुछ भी व्याकुलता नहीं आना अक्रोध है १२, उदार भावसे दान देनाही त्याग है १३, मन में उत्पन्न हुए विकल्पों को दबा देनाही शान्ति है १४, परोक्ष में दूसरे के दोषों को नहीं कहना ही अपैशुन्य है १५, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार पदार्थों में से किसी पुरुषार्थ के साधन करनेकी सामर्थ्यरहित–दीन जीवों में अनुकम्पा करने को दया कहते हैं, १६, विषय में लालच के त्याग को अलोलुपता माना है १७, अक्रूरता अर्थात् सरलता को मार्दव कहते हैं १८, अकार्य करने में लोकलज्जा को ह्री कहते हैं १९, अनर्थदण्डवाली क्रियासे मुक्त होकर स्थिर भाव रखना ही अचपलता है २० दुःखावस्था में अपनी सत्ता से नहीं हटना अर्थात् गम्भीरताही तेज कहलाती है। २१, शक्ति रहने पर भी किसीसे व्यर्थ परिभवादि पाने पर क्रोध नहीं करनेको क्षमा कहते हैं २३, दुःखों की परम्परा आनेपर भी स्थिरता (दृढ़ता) रखना धृति कहलाती है २३, आभ्यन्तर और बाह्य पवित्रता को शौच माना है २४, किसी की बुराई करने की इच्छा नहीं करना ही अद्रोह है २५, अहंकाररहितता को नातिमानता कहते हैं २६।

भावि कल्याणवान् पुरुष कोही दैवी संपत् होती है; प्रायः दम्भ, मद, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, तथा अज्ञानादि आसुरीसंपत् नरकगामी जीवको होती है; सर्वोत्तम दैवीसंपत् दिखाई है; उसमें अभयदानादि छब्बीस गुणोंका वर्णन देखनेसे सिद्ध होता है कि कदापि हिंसा से

धर्म नहीं है। देखिये—मनुस्मृति, वाराहपुराण, कूर्मपुराणादि में तो हिंसा करनेवाले को प्रायश्चित्त दिखलाया है; इसलिये भव्यजीवों को उस प्रायश्चित्त का भागी नहीं बननाही श्रेष्ठ है; क्योंकि "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अर्थात् कीचड़ में पहिले पैर डालकर पीछे धोने की अपेक्षा उसमें पहिलेही से पैर नहीं डालना अच्छा है। यदि ऐसे महावाक्यों पर ध्यान दिया जाय तो कदापि प्रायश्चित्त लेने का समय ही न आवे। मनुस्मृति के ११ वें अध्याय का ४४८ वाँ पृष्ठ देखिये।

यथा—

"अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत्" ॥१५९॥

भावार्थ—जिसका अन्न खानेलायक नहीं है जैसे चमार आदि शूद्रों का अन्न खाकर, और स्त्री तथा शूद्र का जूँठा खाकर, तथा सर्वदा अभक्ष्यही याने नहीं खानेलायक मांस को खाकर शुद्ध होना अगर चाहे तो सात दिन तक यव का पानी पीना चाहिये; इत्यादि।

विवेचन—प्रायश्चित्त विधि में मांस खानेसे प्रायश्चित्त भी दिखलाया है, तो भी हिंसा से लोग क्यों नहीं डरते हैं? विधिविहित मांस खाने में दोष न माननेवालों को देखना चाहिये कि श्रीमद्भागवतीय चतुर्थ स्कन्ध के २५ वें अध्याय में—प्राचीनबर्हिष राजा ने नारद जी से पूछा कि मेरा मन स्थिर क्यों नहीं रहता है? तब नारदजी ने योगबल से देखकर कहा कि आपने जो प्राणियों के वधवाले बहुत से यज्ञ किये हैं इसीसे आपका चित्त स्थिर नहीं रहता है। ऐसा कहकर योगबल से राजा को यज्ञमें मारे हुए पशुओंका दृश्य आकाश में दिखलाया और नारदजी ने कहा कि हे राजन्! दयारहित होकर हजारों पशुओं को यज्ञ में जो तुमने मारा है वे पशु इस समय क्रुद्ध होकर यह रास्ता देख रहे हैं कि राजा मरकर कब आवे और

हम लोग उसको अस्त्रों से काट कर कब अपना बदला चुकावें। देखिये श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में—

"भो भोः! प्रजापते! राजन्! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे।
संज्ञापितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः" ॥ ७ ॥
"एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
संपरेतमयैः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः" ॥ ८ ॥

इन दोनों श्लोकों का भावार्थ ऊपरही स्पष्ट हो चुका है।

इसके बाद प्राचीनबर्हिष राजा भयभीत होकर नारद के चरण पर गिर पड़ा और कहने लगा कि हे भगवन्! अब मैं हिंसा नहीं करूंगा किन्तु मेरा उद्धार कीजिये। तब नारदजी ने ईश्वरभजनादि शुभकृत्यों को बतला कर उसका उद्धार किया; यह बात श्रीमद्भागवत में लिखी है। इस स्थल में विशेष न लिखलर श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्ध को देखजाने का मैं अनुरोध करता हूँ। यज्ञ में हिंसा करने का निषेध महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षाधिकार में अध्याय २७३ पृष्ठ १५४ में लिखा है।

यथा—

"तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसाऽऽत्मनस्तदा।
तपो महत् समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया" ॥१८॥
"अहिंसा सकलो धर्मोऽहिंसाधर्मस्तथा हितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि नो धर्मः सत्यवादिनाम्" ॥२०॥

भावार्थ— स्वर्ग के अनुभाव से एक मुनि ने मृग की हिंसा की, तब उस मुनि का जन्मभर का बड़ा भारी तप नष्ट होगया, अतएव हिंसा से यज्ञ भी हितकर नहीं है। वस्तुतः अहिंसा ही सकल धर्म है, और अहिंसा धर्म ही सच्चा हितकर है, मैं तुम से सत्य कहता हूं कि सत्यवादी पुरुष का हिंसा करनेका धर्म नहीं है।

विवेचन—पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में लिखा है कि किसी मुनि के आगे मृग का रूप धर कर धर्म आया। तब उसको मुनि ने स्वर्ग के

लिये मारा, इस कारण से मुनि का सब तप नष्ट होगया; तो विचार करने की बात है कि जब ऐसे मुनि का भी तप हिंसा करने से नष्ट होगया तब बिचारे उन लोगों का क्या हाल होगा कि जिन्होंने कभी तप का लेशमात्र भी नहीं अर्जन किया ? केवल सांसारिक सुख में लम्पट यज्ञनिमित्त हिंसा करके कौनसी गति को पावेंगे ? यही विचारलेना चाहिये ? तथा देखिये महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षधर्माधिकार अध्याय १६५ पृष्ठ १४१ में यज्ञ का स्पष्ट ही निषेध किया है--

यथा—

"छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः" ॥ २ ॥
"स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषां तु कल्पिता" ॥ ३ ॥
"अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्तिता" ॥ ४ ॥
"सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्
कामकाराद् विहिंसन्ति वहिर्वेद्यान् पशून्नरः" ॥ ५ ॥
"तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता" ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रथम श्लोक में छिन्न शरीरवाले वृषभ का और गौओं का विलाप देखकर, तथा मारने के लिये यज्ञवाट में ब्राह्मणों को देख कर विचक्ष्णु राजा ने निर्वचन किया कि गौवों का कल्याण हो, और उसके बाद जो जो अहिंसा धर्म के नाशक हैं उनलोगों को आगे के श्लोक से आशीर्वाद दिया कि मर्यादारहित महामूर्ख नास्तिकशिरोमणि संशयवान् अव्यक्तसिद्धान्तानुयायी पुरुषों ने ही हिंसा को मान दिया है, और तुच्छ इच्छा पूरण करने के लिये पशुओं को मनुष्य मारते हैं किन्तु धर्मशास्त्र के विचार से यह उचित नहीं है, क्योंकि धर्मातमा मनुजी सभी कर्मोंमें अहिंसाही करने को कहते हैं,

इस कारण से सूक्ष्म धर्म को प्रमाण से करना। तत्त्ववेत्ताओं ने भी सर्वभूतधर्म से अहिंसाही बड़ी मानी है।

विवेचन–राजा विचक्ष्णु क्षत्रिय होकर भी हिंसा को देख कर त्रस्त हुए, किन्तु वर्णोंके गुरु ब्राह्मणों को कुछ भी डर नहीं लगता, यह भी एक आश्चर्य ही है। कितने ही मूर्ख (गँवार) तो हिंसा करने में बड़ी बहादुरी मानते हैं, और कहते हैं कि हिंसा करने से हिंसकों की संख्या बढ़ती है जिससे युद्धादि कार्य में विशेष विजय होने की संभावना है, किन्तु उनलोगों की यह कल्पना निर्मूल है; क्योंकि देखिये राजा विचक्ष्णु और प्राचीनबर्हिष ने यदि हिंसा का त्याग किया और हिंसाकर्म की निन्दा भी की, तो क्या उनका राज्य नष्ट हो गया ?, अथवा वे लोग लड़ाई में अशक्त हो गये ?, या वे शत्रुवों से हार गये ?, और ब्राह्मण लोग श्राद्ध में, मधुपर्क में, यज्ञ में यथेष्ट मांस खाने से क्या विजयी हुए ? अथवा लड़ाई में सफलता प्राप्त की ? मैं तो यही कहता हूं कि वे लोग पेट को बढ़ाकर दरिद्र हो जायँगे और दरिद्र होकर फिर कुछ भी सिद्ध नहीं करसकेंगे। राजाने हिंसा करने वाले ब्राह्मणों को आशीर्वाद कैसा दिया ? यह बात चतुर्थ श्लोक के अक्षरार्थ से ऊपर ही कही हुई है किन्तु मैं उसको कुछ विस्तार करनेका भी प्रयत्न करता हूं–

हिंसाकर्म से भिन्न कर्म को मर्यादा कहते हैं–उसको स्थिर याने व्यवस्थित नहीं रखनेवाले ही अव्यवस्थितमर्यादावाले पुरुष कहे जाते हैं; उसका कारण केवल मूर्खता ही है, अत एव दूसरा विशेषण 'विमूढैः' दिया है, किन्तु यह भी बिना कारण नहीं कहा जासकता, इसलिये 'नास्तिकैः' यह विशेषण दिया है। धर्म-श्रद्धारहित पुरुष को नास्तिक कहते हैं, अत एव 'संशयात्मभिः' यह भी विशेषण दिया है और संशयशील वही पुरुष है जो आत्मा और देह में कभी अभेद बुद्धि और कभी भेद बुद्धि करता हो। तथा आत्मा यदि भिन्न है तो कर्ता है या अकर्ता, और यदि कर्ता है तो वह एक है या

अनेक, तथा यदि एक है तो सङ्गवान् है या असङ्ग, इत्यादि संशयवाले के लिये ही " संशयात्मभिः " यह कहागया है, और ' अव्यक्तैः ' यह जो विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि यज्ञादि कर्मों से ही अपनी ख्याति (प्रसिद्धि) चाहनेवाला पुरुष हिंसा को श्रेष्ठ मानता है।

स्पष्ट रूप से ऐसे श्लोकों के रहने पर भी लोग हिंसाकरना बन्द नहीं करते, यह बड़ा ही आश्चर्य है; अथवा इन्हें महामोह के पाश में फँसा हुआ समझना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि यज्ञ के उद्देश से भी कदापि मांस खाना उचित नहीं है।

यही बात महाभारत शान्तिपर्व के २६५ वें अध्याय में भी लिखीहै कि–

"यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति, नैष धर्मः प्रशस्यते" ॥ ८ ॥

भावार्थ– यज्ञपरायण जो मनुष्य [केवल यज्ञों का, वृक्षों का और यज्ञस्तम्भों का उद्देश्य करके मांस खाने को छोड़ कर) वृथा मांस नहीं खाते, यह धर्म भी प्रशस्त नहीं है, अर्थात् विधिविहित मांस का खाना भी उचित नहीं है। तथा हिंसा का निषेध भी इसी अध्याय में दिखलाया है।

यथा–

"सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतद् नैतद् वेदेषु कल्पितम् " ॥ ९ ॥

भावार्थ– मदिरापान, मत्स्यादन, मधु-मांसभोजन, आसव याने मद्य का पान, और तिलमिश्रित भात का भोजन, ये सब धूर्तों से ही कल्पित हुआ है किन्तु वेदकल्पित नहीं है।

विवेचन–व्यासर्षि ने स्वयं यह कहा कि वेद में हिंसा नहीं है और यदि है तो धूर्तों ने ही अर्थ का अनर्थ कर डाला है, यह बात इसी नवम श्लोक से स्पष्ट होती है। फिर भी हिंसा करनेवाले पुरुषों ने क्यों सब जगह बलिदान की बहुत महिमा बढाई है? और वे केवल यज्ञ में ही

पशु की हिंसा करते हों सो भी नहीं, किन्तु यज्ञस्तम्भ के लिये जिस वृक्ष को प्रसन्न करते हैं उसके पहिले भी बलिदान करते हैं फिर उसका मांस यज्ञ के करानेवाले खाते हैं और वृक्ष का जो यूप बनता है उसको जब यज्ञमण्डप में स्थापन करते हैं उस समय भी बलिदान देते हैं। यज्ञाश्रित वृक्ष का और यज्ञस्तम्भ का उद्देश करके जो मांस खाते हैं वह पूर्वोक्त आठवें श्लोक से स्पष्ट मालूम होता है, किन्तु व्यासर्षि ने तो इसको भी स्वीकार नहीं किया, बल्कि तिरस्कार ही किया है।

जिस देव के समीप बलिदान दिया जाता है उसका भजन (पूजन) सुरापानतुल्य है, अर्थात् उसकी सेवा सुरापान के समान पाप का कारण है। यही बात पद्मपुराण (आनन्दाश्रम सीरीज़ में मुद्रित) के अध्याय २८० पृष्ठ १९०८ में कही है कि–

"यक्षाणां च पिशाचानां मद्यमांसभुजां तथा।
दिवौकसां तु भजनं सुरापानसमं स्मृतम्" ॥ ९५ ॥

भावार्थ–यक्ष, पिशाच और मद्यमांसप्रिय देवताओं का भजन सुरापान के समान ही कहा है, अर्थात् सुरापान करने से जो पापबन्ध होता है वही पापबन्ध इन देवताओं के भजन पूजन से भी होता है। फिर भी जो लोग श्राद्ध में मांस खाने का आग्रह करते हैं उनलोगों ने प्रायः श्रीमद्भागवत के ७ वें स्कन्ध का १५ वां अध्याय नहीं देखा है, यदि देखा होता तो कभी आग्रह नहीं करते। देखिये उसके श्लोक ७ वें और ११ वें को–

"न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया" ॥ ७ ॥
"तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
संतुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः" ॥ ११ ॥

भावार्थ–धर्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष तो श्राद्ध में न किसी को

मांस देते हैं और न खाते हैं, क्योंकि मुनियों के खानेयोग्य व्रीही आदि शुद्ध अन्न से पितरों को जैसी परम प्रीति होती है, वैसी पशु की हिंसा से नहीं होती । ११ वें श्लोक के पहिले अर्थात् दशवें श्लोक मे कहा है कि यज्ञ करनेवाले को देखकर पशु डरते हैं कि यह हत्यारा अज्ञानी हमलोगों को मारेगा, क्योंकि यह परप्राण से स्वप्राण का पोषण करनेवाला है । इत्यादि अधिकार के परामर्श करने के लिये ११ वें श्लोक में 'तस्मात्' पद दिया है; इसी कारण से धर्मज्ञ पुरुष दैविक कर्म के योग्य अन्न नीवारादि से, संतुष्ट होकर निरन्तर नैमित्तिक क्रियाओं को करें, परन्तु कोई पुरुष हिंसा कदापि न करे । यदि कोई पुरुष पूर्वोक्त वाक्यपर यह शङ्का करे कि सत्ययुग में ही यज्ञ, श्राद्ध और वलिदान में मांस खानेका निषेध है; किन्तु कलियुग में तो पूर्वोक्त कर्मानन्तर मांस खानाही चाहिये, तो इसके उत्तर में मैं यह कहता हूँ कि सर्वजनप्रासिद्ध ब्रह्मवैवर्त पुराण और पाराशर स्मृति में कहे हुए कलियुग में बहुत से कार्य उनको नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस बातके प्रतिपादक श्लोक उसमें ऐसे लिखे हैं ।

यथा—

"अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् " ॥ १ ॥

तथा बृहन्नारदीय पुराण के अध्याय १२ में भी लिखा है कि—

" देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा" ॥१॥
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः " ॥

भावार्थ—अश्वमेध, गोमेध, संन्यासी होना, श्राद्धसंबन्धिमांसभोजन, और देवर से पुत्र की उत्पत्ति, ये पांचों बातें कलियुग में वर्जित हैं । इसी तरह नारदीय पुराण में कहा है कि—कलियुग में देवर से पुत्र की उत्पत्ति, मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में मांस का दान और वानप्रस्थाश्रम नहीं करना चाहिये ।

और बृहत्पराशरसंहिता के ५ वें अध्याय में इस तरह मांस का निषेध लिखा है कि–

" यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन् ।
सोऽविद्वान् चन्दनं दग्ध्वा कुर्य्यादङ्गारविक्रयम् ॥ १ ॥
क्षिप्त्वा कूपे तथा किञ्चित् बाल आदातुमिच्छति ।
पतत्यज्ञानतः सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा " ॥ २ ॥

भावार्थ–जो पुरुष प्राणी का वध करके मांस से पितरों की तृप्ति करना चाहता है वह मूर्ख चन्दन को जलाकर कोयलों को बेचना चाहता है, अर्थात् उत्तम वस्तु को जला देता है । और किसी पदार्थ को कूएँ में छोड़ कर फिर उसे लेनेकी इच्छा से बालक जैसे अज्ञान के वश स्वयं कूएँ में गिर पड़ता है, वैसेही मांस से श्राद्ध करनेवाले अज्ञान के प्रभाव से दुर्गति को पाते हैं ।

यज्ञ में हिंसा करने से धर्म नष्ट होता है इस बात को सूचन करनेवाला महाभारत (वेङ्कटेश्वर प्रेस में छपा हुआ) आश्वमेधिक पर्व ९१ अध्याय पृ० ६३ में लिखा है–

यथा–

" आलम्भसमयेऽप्यस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज ! बभूवुः कृपयाऽन्विताः " ॥११॥
" ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः " ॥१२॥
" अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर !" ॥१३॥
" धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ! ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते" ॥१४॥
" विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्तेषु महान् भवेत् ।
यज्ञबीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्षपरमोषितैः " ॥१६॥

भावार्थ–हे युधिष्ठिर ! यज्ञ मण्डप में अध्वर्यु लोगों से वध समय में पशुओं के ग्रहण करने पर ऋषि लोग कृपावन्त हुए । उसी-समय दीन पशुओं को देख करके तपोधन–ऋषिलोग इन्द्र के पास जाकर बोले कि–हे बड़े धर्म की इच्छा करने वाले इन्द्र ! यह यज्ञ-विधि शुभ नहीं है, किन्तु तेरा अज्ञानमात्र है; क्योंकि यज्ञ में पशूसमूह विधिदृष्ट नहीं है, बल्कि यह तेरा समारम्भ धर्म का घात करनेवाला है; इस यज्ञ से धर्म नहीं होगा, क्योंकि हिंसा, धर्म नहीं गिना जाता है । इसीसे केवल विधि से दिखलाये हुए यदि तीन वर्ष के पुराने बीज से यज्ञ करोगे तो विशेष धर्म होगा ।

विवेचन–पूर्वोक्त श्लोकों के बाद ऋषि और देवताओं के साथ यज्ञ विषयक वाद-विवादवाला हिंसामिश्रितधर्मनिन्दा नाम का संपूर्ण अध्याय है । जो राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेकर अर्थ का अनर्थ किया इसलिये वह नरक में गया, यह बात सर्वजनविदित है । इसी प्रकार का अधिकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अध्याय ३३५ पत्र २४३ में भी है । यथा–

युधिष्ठिर उवाच–

" यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः ।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ? " ॥ १ ॥

भीष्म उवाच–

" अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ! " ॥ २ ॥

" अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः" ॥३॥

ऋषय ऊचुः—

" बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ " ॥ ४ ॥

"नैष धर्मः सतां देवाः ! यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ?" ॥५॥

भीष्म उवाच—

"तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः" ॥६॥

"अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः ।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्" ॥७॥

"ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः" ॥ ८ ॥

"कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ? ।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा" ॥९॥

"अपृच्छन् सहिताऽभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात् ।
भोः ! राजन् ! केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ?" ॥१०॥

"एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः ।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः" ॥११॥

"कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ! ।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप !" ॥ १२ ॥

"देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् ! वदस्व नः ।

भीष्म उवाच—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्" ॥ १३ ॥

"छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।
कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः" ॥१४॥

"ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्तस्माद् दिवः पत" ॥ १५ ॥

भावार्थ—युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि—भगवान् का अत्यन्त भक्त राजा वसु परिभ्रष्ट होकर भूमितल को क्यों प्राप्त हुआ?,

इसके उत्तर में भीष्मपितामह ने कहा कि विवादकथावाला पुराना इतिहास यहां तुमसे मैं कहता हूँ– कि हे भारत ! ऋषि लोगों का और देवताओं का विवाद इस तरह हुआ कि देवता उत्तम ब्राह्मणों से कहने लगे कि अज से ही यज्ञ करना और अज से बकरा ही लेना दूसरे पशु को ग्रहण नहीं करना; किन्तु ऋषियों ने अपना पक्ष प्रकट किया कि यज्ञ में बीजादि से होम करना, क्योंकि यह वैदिकी श्रुति, अज से बीजही का ग्रहण करती है, इसलिये बकरे का मारना अच्छा नहीं है । हे देवताओ ! यज्ञ में बकरे की हिंसा करना सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है, क्योंकि सब युगों से श्रेष्ठ यह सत्ययुग है, इस में पशु को कैसे मारना उचित है ?, इस तरह देवताओंके साथ जब विवाद चलरहा था उसी समय आकाश में चलनेवाला लक्ष्मीवान् समस्त सैन्य वाहनयुक्त श्रेष्ठ राजा वसु उस देश को प्राप्त हुआ, जहां देवता और ऋषि लोग विवाद कर रहे थे । सत्य के प्रभाव से आकाश में रहनेवाले राजा वसु को देखकर ऋषियोंने देवताओं से कहा–कि राजा वसु यज्ञविधि को करानेवाला दानेश्वर सब प्राणियों को हितकर हमलोगों के संशय का छेदन करेगा, क्योंकि यह राजा वसु कभी अन्यथा वाक्य नहीं बोलेगा । ऐसा विचार कर एकत्रित हुए देवता और ऋषि लोग राजा वसु के पास आकर कहने लगे कि–हे राजन् ! किस पदार्थ से यज्ञक्रिया करनी चाहिए ?, अज से या अन्न से ?, हम लोग आपको इस विषय में प्रमाण मानते हैं, अत-एव आप हमलोगों के संशय का निवारण कीजिए । तदनन्तर उन सत्पुरुषों को हाथ जोड़ के राजा वसु बोला कि–हे ऋषि वर ! आप लोग सत्य कहिये कि किसको कौन मत अभीष्ट है ? ऋषियोंने कहा कि धान्योंसे ही यज्ञ करनेका तो हमलोगों का पक्ष है, और देवता-ओं का पक्ष पशुकी हिंसा करके यज्ञ करनेका है । अत एव हे राजन् ! आप हमलोगों के इस संशय को हटाइए । तदनन्तर देवताओं के मत को जानकर वसु ने देवताओं के पक्ष का ही आश्रयण किया

अर्थात् अजशब्द का छाग ही अर्थ है यह बात पक्षपात के आवेश में होकर कह दिया, अर्थात् अज शब्द का अर्थ बकरा ही करके यज्ञ करना चाहिये। ऐसा जब उसने कहा तब तो सूर्य के समान तेजस्वी मुनिलोग क्रुद्ध हुए और विमानस्थ देवपक्षपाती राजा वसु को शाप दिया कि जो तुमने पक्षपात से देवताओंका ही पक्षग्रहण किया है इसलिये आकाश से तुम्हारा पृथ्वीपर पात हो, अर्थात् तुम नरक को प्राप्त हो। उसके बाद ऋषियों के वाक्य के प्रभाव से राजा वसु नीचे गिरकर नरक में गया।

इन पूर्वोक्त श्लोकों से सिद्ध होता है कि यज्ञ में भी हिंसा करने का विशेष निषेध है। राजा वसुके समान सत्यवादी नराधिप ने भी दाक्षिण्य के आधीन होकर जो अर्थ का अनर्थ कर डाला, इसलिये वह स्वयं अनर्थ का भागी हुआ, और उसके उद्धार के लिये देवताओं ने बहुतही प्रयत्न किया; तो फिर आजकाल के मांसलोलुप जन बिचारे भद्रिक स्वर्ग के अभिलाषी प्राणियों के धन का नाश कराकर पूर्वोक्त वाक्यानुसार यजमान को नरकगामी बनाकर स्वयं (यज्ञ करानेवाले) भी नरक में गिरते हैं। अत एव ऋषियों ने अजशब्द का अर्थ पुराना धान ही किया है। और इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्दादि कोई भी प्रमाण का विरोध नहीं है। इस अहिंसा शास्त्र को प्रमाण (संमान) करनेवाले मुनियों का यह अर्थ है। और तीन प्रकार का अर्थवाद वृद्ध पुरुषों ने जो माना है; उसमें मुनियों का मत केवल भूतार्थवादरूप अर्थवाद है किन्तु गुणवाद, अनुवादरूप नहीं है। क्योंकि गुणवाद विरोध में होता है, जैसे सन्ध्याकरनेवाला कोई पुरुष पत्थर पर बैठा है उस पत्थर को कोई पुरुष यदि "सन्ध्यावान् प्रस्तरः" ऐसा कहे, तो सन्ध्यावान् और प्रस्तर का अभेद प्रत्यक्ष बाधित है, तथापि गुणस्तुतिरूप वाक्य होने से यह गुणवादरूप अर्थवाद माना जा सकता है। किन्तु मुनियों के मत में कोई विरोध नहीं है अत एव वह गुणवाद नहीं है। और निश्चि-

तार्थ में ही अनुवादरूप अर्थवाद होता है। जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" अर्थात् अग्नि हिम का औषधि है, यह बात आबालगोपाल प्रसिद्ध होने पर भी उसीका जो कथन किया गया वह अनुवादरूप अर्थवाद है। प्रस्तुत में मुनियों ने जो अज शब्द का धान्य अर्थ किया है वह प्रायः समस्त प्राणियों में प्रसिद्ध न होने से अनुवादरूप अर्थवाद नहीं हो सकता। और जहाँ पर विरोध और निश्चितार्थ दोनों नहीं है वहाँ भूतार्थवाद ही होता है-जैसे "रावणः सीतां जहार" अर्थात् रावण ने सीता का हरण कर लिया, इसमें न तो कोई विरोध है, और न पहिले ऐसा निश्चय ही था, किन्तु बात तो ठीक ही है, इसी तरह मुनियों का पक्ष भी भूतार्थवाद ही है, परन्तु अजशब्द का पशु अर्थ बतानेवाले देवताओं का पक्ष तो पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण से ही दूषित है, तदनन्तर शास्त्रप्रमाण से भी दूषित है, उसीप्रकार अनुभव और लोकव्यवहार से भी दोषग्रस्त है। क्योंकि पशुहनन के समय पशु मारनेवाले पुरुष की मनोवृत्ति, और शरीराकृति, प्रत्यक्ष ही परम क्रूर दिखाई देती है।

पाठकवर्ग! पशुवध से स्वर्ग होना बुद्धिमानों के अनुभव में भी ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि 'यद् दीयते तत् प्राप्यते' अर्थात् जो दिया जाता है वही मिलता है इस न्याय के अनुसार तो सुखदेने-वाला सुख, और दुःखदेनेवाला दुःख, अभय दाता अभय, और भयदेनेवाला पुरुष भय को ही प्राप्त होना चाहिये। किन्तु यज्ञ में जो पशु मारे जाते हैं वे नतो निर्भय, और न सुखी ही दिखाई देते हैं, बल्कि भयभ्रान्त और महादुःखी ही दिखलाई पड़ते हैं; तो फिर पशु-मारनेवाला स्वर्ग में किस तरह जा सकता है? और लोकव्यवहार में भी कोई उत्तम जाति का पुरुष मृतप्राणी का स्पर्श भी नहीं करता और यदि कोई मरे हुए जीव को छूता है तो वह नीच ही गिना जाता है। अब यह अवसर विचार करने का है कि यज्ञमण्डप में वेद मन्त्रों द्वारा याज्ञिक लोग, बकरे के मुह को यव के आटा

आदि से बन्द करके उसपर मुष्ट्यादि प्रहार से गतप्राण कर देते हैं, तदनन्तर उसके अवयवों को अलग अलग करके उसमें से बहुत सा हिस्सा हवन के काम में लाते हैं किन्तु बहुत सा हिस्सा तो स्वयं खाजाते हैं, तथा जो कुछ अवशिष्ट भाग उसका बचता है उसको यज्ञ कर्म में भाग लेने के लिए यज्ञ में आये हुए आस्तिकों को प्रसादरूप से देते हैं । अब इन याज्ञिकों की किस में गणना करनी चाहिये ? इसका विचार में पाठकलोगों के ऊपर ही निर्भर करता हूँ ।

पूर्वोक्त बातों से यह सिद्ध किया जाता है कि किसी कारण से भी पशु से यज्ञ करना उचित नहीं है। जब राजा वसु भागवत, दानीश्वर, सत्यवादी, श्रेष्ठ और सब भूतों के प्रियंकर होने पर भी अजशब्द का पशु ही अर्थ मानकर नरक में गये, तो फिर साधारण मनुष्योंकी क्या दशा होगी ? यह विचारणीय है । अब महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय ११६ पृष्ठ १२६ मे युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से जो अहिंसाविषयक प्रश्न किया है कि– मांस खाने से क्या और कैसा दोष होता है ? और उसके त्याग करने से क्या गुण है ?; वही दिखलाया जाता है ।

यथा–

युधिष्ठिर उवाच–

"इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः ।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव" ॥१॥
"अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च ।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्" ॥२॥
"तत्र मे बुद्धिरत्रैव विषये परिमुह्यते ।
न मन्ये रसतः किञ्चिन् मांसतोऽस्तीति किञ्चन" ॥३॥
"तदिच्छामि गुणान् श्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो ! ।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ !" ॥ ४ ॥

"सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ ! यथावदिह धर्मतः ।
किञ्च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे" ॥ ५ ॥
"यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने ।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह ! " ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यलोग, लोक में महाराक्षस की तरह दिखाई देते हैं, जो नाना प्रकार के भक्ष्यों को छोड़ कर मांसलोलुप मालूम होते हैं, क्योंकि नाना प्रकार के अपूप (पूआ) तथा विविधप्रकारे के शाक, खंड (चीनी) से मिश्रित पक्वान्न और सरस खाद्य पदार्थ से भी विशेषरूप से आमिष (मांस) को पसन्द करते हैं। इस कारण इस विषय में मेरी बुद्धि मुग्धसी हो जाती है कि मांस भोजन से अधिक रसवाला क्या कोई दूसरा भोजन नहीं है ? इससे हे प्रभो ! मांस के त्याग करने में क्या २ गुण होते है ? पहिले तो मैं यह जानना चाहताहूँ; पीछे खाने में क्या २ दोष हैं यह भी मुझे जिज्ञासित है । हे धर्मतत्त्वज्ञ ! यथार्थ प्रमाण के द्वारा यहां पर मुझे भक्ष्य और अभक्ष्य बतलाइये, अर्थात् मांस खाने में जैसा दोष और गुण होता हो वैसा कहिये ।

भीष्म उवाच—

"एवमेतन्महाबाहो ! यथा वदसि भारत ! ।
न मांसात् परमं किञ्चित् रसतो विद्यते भुवि" ॥ ७ ॥
"क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम् ।
अध्वना कर्षितानां च न मांसाद् विद्यते परम्" ॥८॥
"सद्यो वर्द्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां दधाति च ।
न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप ! "॥९॥
"विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ! ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणुः ॥१०॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः " ॥११॥

"न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे" ॥१२॥
"शुक्राच्च तात ! संभूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते" ॥१३॥
"यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ! ।
न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः" ॥२०॥
"दयावतामिमे लोकाः परे चाऽपि तपस्विनाम् ।
अहिंसा लक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः" ॥२१॥
"अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम" ॥२३॥
"क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम् ।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च" ॥२४॥
"नैनं व्यालमृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः ।
मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद् यो भये परान्" ॥२५॥
"प्राणदानात्परं दानं न भूतं च भविष्यति ।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम्" ॥२६॥
"अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ! ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः" ॥२७॥
"जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे ।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च" ॥२८॥
"नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह ।
तस्मात्प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत्" ॥३२॥
"सर्वमांसानि यो राजन् ! यावज्जीवं न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः" ॥३३॥
"ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः" ॥३४॥
"मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।

एतद् मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ! " ॥३५॥
"येन येन शरीरेण यद् यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते" ॥ ३६ ॥
"अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः " ॥ ३७ ॥
"अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् " ॥३८ ॥
"सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वाऽपि नैतत्तुल्यमहिंसया " ॥ ३९ ॥
"अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता " ॥ ४० ॥
"एतत्फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव ! ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि " ॥ ४१ ॥
(श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस में छपाहुआ महाभारत अनुशासनपर्व के पत्र १२६-से१२७ तक)

विवेचन-इन पूर्वोक्त श्लोकों के अत्यन्त सरल होने से इनकी व्याख्या करने की विशेष आवश्यकता नहीं है तथापि सामान्य रूप से यहां कुछ विवेचन करके आगे चलता हूं । भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर के पूर्वोक्त प्रश्नों का यह उत्तर दिया कि हे भारत ! "पृथ्वी में कोई वस्तु मांस की अपेक्षा किसको अच्छी नहीं मालूम होती है यह स्पष्ट किये विना बनता नहीं है इसलिये जो मांस को उत्तम मानते हैं वे पुरुष दिखलाये जाते हैं-अर्थात् घायल पुरुष, क्षीण, संतापी, विषयासक्त और मार्गादि परिश्रम से थके हुए पुरुष ही मांस की अपेक्षा से अधिक अच्छा पदार्थ अपनी समझ से कुछ भी नहीं समझते हैं और वेही लोग केवल मांसाहारसे ही शरीर की पुष्टि मानते हैं, इसालिये उनकी समझ से मांस से अच्छा कोई दूसरा भक्ष्य नहीं है । किन्तु धर्मात्मा पुरुष तो मांसाहार को कदापि स्वीकार नहीं करते । हे कौरवनन्दन ! मांसाहार त्याग करने से मनुष्यों को

जो गुण होते हैं उनका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है । जो पुरुष दूसरे के मांस से अपने मांस की वृद्धि करना चाहता है उस निर्दय पुरुष से दूसरा पुरुष हजार कुकर्म करनेवाला भी अच्छा ही है, क्योंकि संसार में प्राण से बढ़कर कोई भी दूसरा वस्तु प्रियतर नहीं है, अतएव हे पुरुषश्रेष्ठ ! अपने आत्मा पर जैसा तुम प्रेमभाव रखते हो वैसाही दूसरे के प्राणोंपर भी करो । तथा वीर्य से ही मांस की उत्पत्ति होती है यह बात भी सभी को संमत है क्योंकि इसमें किसी को कुछभी संदेह नहीं है, अतएव उसके खाने में बहुत दोष हैं और त्याग करने में बहुत पुण्य है । हे युधिष्ठिर ! सब प्राणियों में दया करनेवाले पुरुष को कभी भय नहीं होता, और दयावान् पुरुष को और तपस्वीजनों को हीं यह लोक और परलोक दोनों अच्छे होते हैं; इसलिये हमलोग अहिंसा को ही परम धर्म मानते हैं । जो पुरुष दया में तत्पर होकर सब प्राणियों को अभयदान देता है वही पुरुष सब भूतों से अभय पाता है, ऐसा मैंने सुना है । धर्मात्मा पुरुष तो आपत्तिकाल में और सम्पत्तिकाल में सब भूतों की रक्षा ही करता है । किन्तु वर्त्तमानकाल के कितने ही स्वार्थी पुरुष दया नहीं करते और कितने ही धर्मतत्त्व के जानकार होनेपर भी अपने पास पाले हुए गौ, भैंस, घोड़े वगैरह को जब बेकार देखते हैं तब उन्हें पशुशाला में छोड़ देते हैं या दूसरों के हाथ बेच देते हैं और अज्ञानीलोग कसाइयों तक के हाथ बेच देते हैं किन्तु बहुत से नास्तिकलोग तो अनुपयोगी जानवरों को गोली से मारदेते हैं, यदि इसका मूल कारण देखा जाय तो हृदय में दयादेवी का संचार न होना ही है, तथा सामान्यनीति को भी स्वार्थान्ध होने के कारण नहीं देखते हैं, किन्तु सच्चे धार्मिक पुरुष तो अनुपयोगी पशु का भी पालन करते हैं ।

पूर्वोक्त निःस्वार्थ दया करनेवाले पुरुष पर व्याघ्र, सिंह, पिशाच, राक्षसादि कोई भी क्रूर जन्तु कभी उपद्रव नहीं करते । इसलिये संसार में प्राणदान से अधिक कोई दान नहीं है, क्योंकि प्राण से अधिक प्रिय

कोई भी चीज नहीं दिखाई पड़ती है। हे भारत! सब प्राणियों को मृत्यु के तुल्य कुछ भी अनिष्ट दिखाई नहीं देता, अर्थात् मृत्युकाल में कैसा ही दृढ़ पुरुष क्यों न हो उस समय उसको भी डर मालूम होता ही है। जिन महानुभाव पुरुषों की समाधि (सुख) से मृत्यु होती है उनको भी स्वेद कम्पादिरूप शरीर धर्म तो अवश्य होते हैं क्योंकि वह शरीर का स्वभाव ही है। देखिये योगियों का जब शरीर से संबन्ध छूटता है तब वे केवल आत्मतत्त्व में ही लवलीन होते हैं, उस अवस्था में भी द्रव्य दुःखों से पीड़ित होकर शरीर कांपता है, और हाथ पांव भी हिलते हैं। ध्यानी पुरुष को भी वेदनीय कर्म होगा तो जरूर शरीर का धर्म दृष्टिगोचर होगा, तथापि इससे ध्यानी कभी अध्यानी नहीं माना जा सकता। दृष्टान्त यह है कि महावीर देव ने अनन्त बलवान् और मेरु की तरह निष्कम्प, तथा पृथ्वी की तरह दृढ़ होने पर भी कर्णकीलकार्पण के समय तो आक्रन्द किया ही; इससे यह न समझना चाहिये कि भगवान् ध्यान से भ्रष्ट होकर पौद्गलिक भाव में लीन हुए किन्तु वह तो शरीर का धर्म ही है। देखिये, वर्तमान समय में अस्त्रविद्या में कुशल डाक्टर लोग औषधि के प्रयोग से रोगी को बेहोश करके उसके शरीर के अवयवों को काटते हैं और काटने के समय रोगी के हाथ पाँव को दो चार आदमी पकडे रहते हैं और उस समय भी रोगी हाथ पैर हिलाताही है और अस्फुट शब्द को बोलताही है; किन्तु काटने के बाद जब औषध (क्लोरोफार्म) उतर जाता है उस समय यदि उससे पूछा जाय कि काटने के समय तुमको क्या हुआ था? तो वह यही कहता है कि मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीरका धर्मही कम्पादि क्रियावाला है। यह विना आत्मा के उपयुक्त हुए ही स्वाभाविक होता है तथापि शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त है यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी। क्योंकि मृत शरीर में कोई चेष्टा नहीं होती है, जीवित शरीर में कम्प, स्वेद, मूर्छा और चलनादि क्रिया मालूम

पड़ती है; और यह दुःखरूप कार्य के ज्ञापक चिह्न हैं, क्योंकि मरण के समय प्रायः पूर्वोक्त चिह्न संसारी जीवों में दीखते हैं । अतएव हिंसा त्याज्य है, और अपनी आत्मा की तरह सबको देखना उचित है । यदि समस्त पृथ्वीपर घूमकर अनुभव प्राप्त किया जाय तो सब जीवों को प्राण से अधिक कोई वस्तु प्यारी नहीं मालूम होगी अतएव सब प्राणियों में दया करनेवाला जीव ही आत्मतत्त्वज्ञ माना जाता है । इसलिये दया का विशेषभाव भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को दिखलाया है कि हे राजन् ! जीवनपर्यन्त सकलमांसत्यागी जो पुरुष होता है वह स्वर्ग में उत्तमोत्तम स्थान को पाता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

यदि महाभारत को हिन्दू लोग पञ्चम वेद मानते हैं तो पूर्वोक्त समस्त श्लोक महाभारत के अनुशासन पर्व में दान धर्म की महिमा के समय अहिंसा धर्म के फल में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को दिखलाये हैं, उन पर क्यों नहीं ध्यान देते ? । अब मैं उनका विशेष विस्तार न करके अन्तिम श्लोक मात्र का लक्ष्य रखकर पाठक महाशयों को सूचित करता हूँः—

हे कुरुपुङ्गव ! अहिंसा का स्वर्ग मोक्षादिरूप बड़ा भारी फल प्रतिपादन किया हुआ है, जिस अहिंसा के गुणों को सौ वर्ष पर्यन्त भी अगर कोई वर्णन करे तो भी वह पूर्ण नहीं हो सकता । अन्तिम श्लोक के पूर्व श्लोकमें भी लिखा है कि संपूर्ण यज्ञ, दान, सर्व तीर्थोंका स्नान, और सब दानों का जो फल है वह भी अहिंसा की बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि हिंसाकरनेवाला गर्भवास और नरक के दुःख को अवश्य भोगता है । यह बात उसी अध्याय के निम्न लिखित श्लोक के देखने से प्रतीत होती है—

यथा—

" गर्भवासेषु पच्यन्ते क्षाराम्लकटुकै रसैः ।
मूत्रस्वेदपुरीषाणां परुषैर्भृशदारुणैः " ॥ २९ ॥
" जाताश्चाप्यवशास्तत्र च्छिद्यमानाः पुनः पुनः ।

पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः" ॥ ३० ॥
"कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः" ॥३१॥

भावार्थ–क्षार, आम्ल, और कटु रसों से मांसभक्षी पुरुष गर्भवास के समय परिताप को प्राप्त होते हैं, तथा मल मूत्रादि द्वारा भयङ्कर दुःख को भी प्राप्त होते हैं, तथा नरक गति में उत्पत्ति के समय भी अवश होकर वारं वार नरक को जाते हैं और तत्तद्योनि में जाने पर भी कुम्भीपाक में पकाये जाते हैं, तथा उन नारकी जीवों को अनेक प्रकार के शस्त्रों से छेदते हुए असिपत्रादि वन में यमदूत लोग लेजाते हैं, जिस पत्रके गिरते ही उन दुष्टों का शिरश्छेद होता है । इसी प्रकार नरकपाल लोग वहां से फिर उन्हें अन्यत्र लेजाते हैं । देखिये-यह सब वेदना मांसाशी जीवही प्रायः पाते हैं, इसलिये ही परप्राण से स्वप्राण की रक्षा करनेवाले मूर्खशिरोमणि गिने जाते हैं । अतएव समस्त नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रों में परोपकार के लिये क्षणभङ्गुर शरीर के ऊपर मोह करनेका निषेध है । जैसे–

"जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः ।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः" ॥१८॥

भावार्थ–बहुत से साधुजन अपने जीवनकी मूर्छा(मोह)छोड़ कर, निज मांस के द्वारा दूसरों के मांस की रक्षा करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं । इत्यादि अनेक श्लोक, मांस त्याग के लिये महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय ११४–११५ पृ. १२५ वें में दिखाई देते हैं; उनमें से थोड़े ही श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं–

"पुत्रमांसोपमं जानन् खादते यो विचक्षणः ।
मांसं मोहसमायुक्तः पुरुषः सोऽधमः स्मृतः॥११॥ अध्याय ११४
"यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेद् मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर !" ॥ १० ॥

"न भक्षयति यो मांसं न च हन्याद् न घातयेत् ।
तद् मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्" ॥ १२ ॥
"स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति" ॥ १४ ॥
"मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम" ॥ १६ ॥
"सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते" ॥ १८ ॥
"सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः" ॥२०॥अ.११५

इत्यादि बहुत से जो श्लोक महाभारत में लिखे हैं उन्हें जिज्ञासुओं को उसी स्थल पर देखलेना उचित है । इन पूर्वोक्त श्लोकों में समस्त शास्त्र का रहस्य दिया हुआ है अतएव जीवन की इच्छा न रखकर, जो उत्तम पुरुष स्वमांस से पर मांस की रक्षा करते हैं, अर्थात् मरणान्त तक परोपकार करने की इच्छा करते हैं, वे ही पुरुष देवलोक के सुख को पाते हैं । और जो पुरुष मांस को तुच्छ मानकर और पुत्रमांस की उपमा देकर भी मोह से उसे खाता है उससे बढ़कर तो अधर्मी कोई नहीं है क्योंकि धर्मशास्त्र में मांसत्यागी पुरुष को ही धर्मात्मा माना है । इसीलिये लिखा है कि कोई एक मनुष्य यदि सौ वर्ष तक महीने महीने अश्वमेध यज्ञ करे, और दूसरा केवल मांस का ही त्याग करे, तो वे दोनों तुल्य ही हैं, कदाचित् भूल से या अज्ञान से मांस कभी खा लिया हो और पीछे छोड़ दे, तो जो फल चारों वेदों से और संपूर्ण यज्ञों से नहीं मिलता है वह फल केवल उसे मांस त्याग से ही मिल जाता है । पाठकवर्ग ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसा सीधा और सरल उपदेश होने पर भी मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति में क्यों पड़ते हैं ? अस्तु, मैं तो उनके कर्म का ही दोष देकर आगे चलता हूँ । एक बड़े खेद की यह भी

बात है कि बहुत से मांसाहारी लोग तो अपनी चतुराई से नये नये श्लोक बनाकर नयी नयी कल्पनाद्वारा भव्यपुरुषों को भ्रमजाल में डालने के लिये प्रयत्न करते हैं। यथा–

" केचिद् वदन्त्यमृतमस्ति पुरे सुराणां
केचिद् वदन्ति वनिताऽधरपल्लवेषु।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षा
जम्बीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे " ॥ १ ॥

अर्थात्–यद्यपि कोई लोग कहते हैं कि देवलोक में अमृत रहता है, और कोई कहते हैं कि स्त्री के अधरोष्ठपल्लव में अमृत स्थित है; किन्तु सकलशास्त्रविचारचतुर हमलोग (मांसाहारी) कहते हैं कि नीबू के जल से भरपूर मछली के टुकड़े में ही अमृतास्वाद है।

सज्जन महाशय! तत्त्ववेत्ताओं ने तो पूर्वोक्त श्लोक के तृतीय पाद का " ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारशून्याः " ऐसा ठीक ठीक पाठ बना दिया है क्योंकि विचारशून्य मनुष्य की इच्छा है कि वह चाहे जैसी बकवाद करे, क्योंकि सद्बुद्धि के अभाव से ही मनुष्य भारी अनर्थ करता है; याने देव को अदेव और अदेव को देव, गुरु को अगुरु और अगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म, और अधर्म को धर्म, तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व, भक्ष्य को अभक्ष्य और अभक्ष्य को भक्ष्य, इत्यादि विपरीत मानकर भयङ्कर भूल में पड़कर संसार सागर में (वह जीव) सदा घूमताही रहता है। इसीलिये सब लोगों को कल्पित बातों पर ध्यान न देकर वास्तविक अहिंसा धर्म को ही स्वीकार करना चाहिये। किन्तु जो मनुष्य मांसरसलम्पट होता है वही अपनी इच्छानुसार मनमाने श्लोक भी बना लेता है। यथा—

"रोहितो नः प्रियकरः मद्गुरो मद्गुरुप्रियः।
हिल्सी तु घृतपीयूषो वाचा वाचामगोचरः" ॥ १ ॥

भावार्थ–कोई कहता है कि रोहित मत्स्य हमको अत्यन्त प्रिय है, और मद्गुर नामक मत्स्य तो मेरे गुरु को प्रिय है; तथा हिल्सी

जाति का मत्स्य घृत और अमृत के समान है, और वाचाजाति के मत्स्य का स्वाद कहने में नहीं आसकता। देखिये ऐसे कल्पित श्लोकों को बनाकर मांसाहारी लोग विचारे धर्मतत्त्व के अनजान पुरुषों को भी परिभ्रष्ट करते हैं। इस पूर्वोक्त श्लोक को बङ्गदेश के मनुष्य प्रायः कहा करते हैं। और 'केचिद् वदन्त्यमृतमस्ति पुरे सुराणामित्यादि' श्लोक तो प्रायः मैथिल कहते रहते हैं। बङ्गदेशनिवासियों में कितनेही मनुष्यों के मत्स्यभक्षण आदि कुत्सित व्यवहार को देखकर अन्य कवियों ने कवितारूप से बङ्गवासियों का हास्य किया है कि–

"स्थाने सिंहसमा रणे मृगसमाः स्थानान्तरे जम्बुका
आहारे बककाकशूकरसमाश्छागोपमा मैथुने।
रूपे मर्कटवत् पिशाचवदना क्रूराः सदा निर्दया
बङ्गीया यदि मानुषा हर! हर! प्रेताः पुनः कीदृशाः"॥१॥

भावार्थ–अपने स्थान में सिंह की भांति स्थिति करनेवाले, रण में मृग (हरिण) की तरह भागनेवाले, दूसरे के स्थान में शृगाल जैसे, बगले, काक और शूकर की तरह अभक्ष्य आहार करने वाले, विषय सेवनमें बकरे जैसे, बन्दर की सदृश रूपवाले, पिशाच जैसे मुखवाले अर्थात् भयंकर तथा क्रूर स्वभाव वाले और दया करके रहित ऐसे मांस भक्षणादि कुत्सित व्यवहार करने वाले बङ्गवासी लोग अगर जो मनुष्य कहे जावें तो भला फिर प्रेतों में किसकी गणना होगी अर्थात् यही मनुष्यरूप से प्रेतगण हैं।

एवं रीत्या कान्यकुब्जों के व्यवहार पर भी एक कवि ने ऐसा लिखा है कि–

"कान्यकुब्जा द्विजाः सर्वे सूर्या एव न संशयः।
मीनमेषादिराशीनां भोक्तारः कथमन्यथा?"॥ १ ॥

भावार्थ–इसमें कुछभी सन्देह नहीं है, कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण सूर्य ही हैं यदि वह ऐसे न होते तो मछली तथा बकरे इत्यादि का भक्षण क्यों करते?।

अब प्रसङ्गानुसार यहां पर यह भी कह देना उचित है कि जो मांसादि को खानेवाले कहते हैं कि तन्त्राक्रिया करनेवालों को तो अवश्यही मद्य, मांसभक्षण तथा बलिप्रदान करनाही चाहिये क्योंकि यह सब बातें शास्त्र संमत हैं इस विषय में देवीभक्त किसी सज्जनने ठीक कहा है कि—

"या योगीन्द्रहृदि स्थिता त्रिजगतां माता कृपैकव्रता
सा तुष्येत् श्वपचीव किं पशुवधैर्मांसासवोत्सर्जनैः ? ।
तस्माद् वीरवराऽवधारय तदाचारस्य यद् बोधकं
रक्षोभिर्विरचय्य तच्च वचनं तन्त्रे प्रवेशीकृतम्" ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सब जीवों पर सदा दयाही रखनेवाली, योगाभ्यासियों के हृदय में निवास करनेवाली, तीनों जगत् की माता देवी क्या चाण्डाली की भांति पशुवध से तथा मांस और मद्य देने से प्रसन्न हो सकती है अत एव हे वीरवर ! विचार की बात है कि यह सब वचन मांसभक्षी राक्षसों ने किसी द्वारा बनवाकर तन्त्र शास्त्र में रख दिये हैं ।

अब उपरोक्त उदाहरणों से आप के अन्तःकरण में यह विचार तो ठीकही बैठ गया होगा कि हिंसा, परस्त्रीगमन तथा मांसभक्षण करने से कभी धर्म नहीं हो सकता तथापि अगर कोई यह कहे कि हां हिंसादि करने से भी धर्म होता है तो उसको रोकने के लिये नीचे का श्लोक अवश्यही समर्थ हो सकता है ।

"धर्मश्चेत् परदारसङ्गकरणाद् धर्मः सुरासेवनात्
संपुष्टिः पशुमत्स्यमांसनिकराहाराच्च हे वीर ! ते ।
हत्या प्राणिचयस्य चेत् तव भवेत् स्वर्गापवर्गाप्तये
कोऽसत्कर्मतया तदा परिचितः स्यान्नेति जानीमहे" ॥१॥

भावार्थ—हे हिंसादि कर्मों में वीर ! यदि तुमको परस्त्रीगमन, मद्यसेवन से धर्म हो और पशु तथा मत्स्योंके आहार करने से शरीरपुष्टि हो और प्राणिगण को मारने से स्वर्ग तथा मोक्ष की

प्राप्ति होवे तो फिर कुकर्मी पुरुष कौन कहा जा सकता है यह मैं नहीं कह सकता अर्थात् उक्त कर्मों को करनेवाले ही पापी और नरकादि के क्लेशों को भोगने वाले होते हैं।

इसी प्रकार मैथिलों का व्यवहार देखकर किसी कवि ने अवतारों की संख्या में जो भगवान् ने नृसिंहावतार धारण किया है उसकी भी उत्प्रेक्षा की है कि—

"अवतारत्रयं विष्णोर्मैथिलैः कवलीकृतम् ।
इति संचिन्त्य भगवान् नारसिंहं वपुर्दधौ" ॥ १ ॥

भावार्थ—विष्णु ने पहिले तीन अवतार धारण किए अर्थात् मत्स्य, कच्छ और वाराह रूप से प्रकट हुए, किन्तु उनको मैथिलों ने खा डाला। तब तो भगवान् ने क्रोध करके नारसिंह शरीर को धारण किया, क्योंकि मैथिल यदि उसको खाते तो स्वयं ही भक्षित हो जाते। यद्यपि यह श्लोक हास्यप्रयुक्त है, तथापि वास्तविक विचार करने पर भी मैथिलों का व्यवहार मत्स्य, कच्छप वगैरह जीवों के संहार करने का अवश्य है।

सामान्य नीति यह है कि जिसके कुल में भारी पण्डित या महात्मा हुआ हो वह कुल भी उत्तम माना जाता है, इसलिये उस कुल में कोई आपत्ति आवे तो लोग उसके सहायक होते हैं। तो जिसको लोग भगवान् मानते हैं उस भगवान् का अवतार जिस जाति में हो, उस जाति का यदि नाश होता हो तो उसका उद्धार करना चाहिये, किन्तु उद्धार के बदले नाश ही किया जाता हो तो कैसा अन्याय है? यह भी एक विचारणीय बात है। और भी एक विचार करने का अवसर है कि जो पुरुष मछली खाता है वह समस्त मांस को ही खाता है, यह बात मनुस्मृति के ५ वें अध्याय के पृ. १८१ में श्लोक १५ देखिये—

"यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्माद् मत्स्यान् विवर्जयेत्" ॥१५॥

भावार्थ–जो पुरुष जिसका मांस खाता है वह पुरुष उसका भक्षक गिना जाता है, जैसे बिल्ली चूहे को खाती है तो वह बिल्ली मूषकादक मानी जाती है, उसी प्रकार मत्स्य को खानेवाला मत्स्याद गिना जाता है, किन्तु वह मत्स्यादमात्रही कहा जाता हो सो भी नहीं, किन्तु सर्वमांसभक्षी गिना जाता है। अतएव मत्स्यों का मांस खाना सर्वथा अनुचित है। अपनी, जाति की, धर्म की और घर की पवित्रता की रक्षा करनी हो तो मत्स्य का भक्षण सर्वथा त्याग करना चाहिये।

विवेचन—मत्स्य खानेवाले को जो सर्वमांसभक्षी माना है वह बहुत ही ठीक है, क्योंकि मत्स्य तो सब पदार्थों को खाता है, अर्थात् समुद्र में या नदी में, जो किसी जीव का मृत शरीर पड़जाता है तो उसको मत्स्यही खाता है और उसके खाने के साथ साथ उसका मल मूत्र भी खाता है, तो फिर जिसने मत्स्य का मांस खाया उसने तो मानों मनुष्य का मल मूत्र भी खालिया। अत एव कल्याणाभिलाषी जीवों को ऐसे कुत्सित आहार का कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिये। अब मैं मांसाहार के निषेध करनेवाले कुछ थोड़े से पौराणिक श्लोकों को दिखलाता हूं। महाभारत शान्तिपर्व के २९६ अध्याय पृष्ठ १८८ में राजा जनक ने पराशर ऋषि से प्रश्न किया है कि कौन कर्म श्रेष्ठ है?–

यथा–

जनक उवाच–

"कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम!।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा"॥ ३५॥

पराशर उवाच—

"शृणु मेऽत्र महाराज! यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा"॥ ३६॥

भावार्थ– प्रश्न- हे द्विजसत्तम! अहिंसा कर्म तथा हिंसा कर्म में कौन धर्मयोग्य कर्म है और कौन अधर्मयोग्य है? उत्तर–हे महाराज

जनक ! जो कर्म अहिंसा याने हिंसा दोष से रहित है वही कर्म पुरुषों की सर्वदा रक्षा करता है । अत एव अहिंसाकर्म धर्म, और हिंसाकर्म अधर्म मानागया है । आगे वाराहपुराण में भी कहा है कि–

"जीवहिंसानिवृत्तस्तु सर्वभूतहितः शुचिः ।
सर्वत्र समतायुक्तः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अध्याय १२१ पृष्ठ ५२८

हिंसादीनि न कुर्वन्ति मधुमांसविवर्जकाः ।
मनसा ब्राह्मणीं चैव यो गच्छेन्न कदाचन ॥ २४ ॥

अध्याय १२५ पृष्ठ ५३०

विकर्म नाभिकुर्वीत कौमारव्रतसंस्थितः ।
सर्वभूतदयायुक्तः सत्त्वेन च समन्वितः ॥ ५ ॥

अध्याय १२२ पृष्ठ ५३१

न भक्षणीयं वाराहं मांसं मत्स्याश्च सर्वशः ।
अभक्ष्या ब्राह्मणैरेते दीक्षितैश्च न संशयः ॥ ३४ ॥
परीवादं न कुर्वीत न हिंसां वा कदाचन ।
पैशुन्यं न च कर्तव्यं स्तैन्यं वापि कदाचन ॥ ३५ ॥

अध्याय १२७ पृष्ठ ६२१

नित्ययुक्तश्च शास्त्रज्ञो मम कर्मपरायणः ।
अहिंसा परमश्चैव सर्वभूतदयापरः ॥ ३७ ॥

अध्याय ११७ पृष्ठ ५१०

भावार्थ–वाराहपुराण के कई श्लोक पहिले भी दिये जा चुके हैं किन्तु विशेषरूप से पूर्वोक्त श्लोक भी दिये गये हैं । इनका सारांश इस तरह है कि जीवहिंसा से निवृत्त पुरुष सब जीवों के हितकर और पवित्रपुरुष तथा सर्वत्र समभाववाला होताहै, याने उसको लोहा पत्थर और काञ्चन (सुवर्ण) समान होता है। तथा किसी हिंसादि अनर्थ कार्य को नहीं करता है, और मधु, मांस का त्यागी, होकर मन से भी परस्त्री ब्राह्मणी आदि के प्रति नहीं जाता है; और कुत्सित

कर्मों को न करके अपना कौमार व्रत पालन करता है, तथा सब भूतों में दयायुक्त होकर सत्त्व से युक्त भी रहता है।

वाराह का मांस, खाने के योग्य नहीं है और मत्स्य का मांस भी अभक्ष्य है। और दीक्षित ब्राह्मणों को तो कदापि इन्हें नहीं खाना चाहिये, क्योंकि उनको वे सर्वथा अभक्ष्य हैं। और सत्पुरुष को परनिन्दा, हिंसा, चुगली, और चोरी भी नहीं करनी चाहिये। नित्यकर्मयुक्त शास्त्र को जाननेवाला मेरे कर्म में परायण, अहिंसा को परम धर्म माननेवाला, और सब सूक्ष्म बादर जीवों की दया में तत्पर हो, इत्यादि अनेक बातें वाराह पुराण में लिखी हुई हैं। इसलिये ये सब बातें एसियाटिक सोसायिटी के छपे हुए वाराह पुराण में देखने से पाठकों को स्पष्ट मालूम होंगी। इसी तरह कूर्म पुराण में भी अहिंसा धर्म की साक्षी देनेवाले श्लोक हैं—

यथा—

"न हिंस्यात् सर्वभूतानि नानृतं वा वदेत् कचित्।
नाहितं नाप्रियं ब्रूयात् न स्तेनः स्यात् कथञ्चन" ॥१॥

अध्याय १६ पृष्ठ ५५३

भावार्थ–सब भूतों की हिंसा नहीं करनी, झूठ नहीं बोलना अहित और अप्रिय नहीं बोलना और किसीप्रकार की चोरी भी नहीं करनी चाहिये।

विवेचन–पुराणों मे हिंसा करने, चोरी करने तथा अहित अप्रिय और झूठ बोलने की भी मनाही की गयी है। इतना लिखे रहने पर भी स्वार्थान्ध पुरुष अमूल्य महावाक्यों का अनादर करके जिसमें प्राणियों का अहित और अप्रिय दोनों हों, ऐसेही कामों को करते और कराते हैं और करनेवाले को अच्छा मानते हैं। जहाँ बलिदान होता है वहां पर मरनेवाले जीव का अहित और अप्रिय नहीं तो क्या होता है? यह भी विचार करने के योग्य है। क्योंकि प्राण से प्यारी कोई भी चीज दुनियां भर में नहीं है, यह बात जैन सिद्धान्त से तथा महाभारत आदि से सिद्ध हो

चुकी है। किन्तु अब विचारने की बात यह है कि बलिदान करके जो प्राणियों के प्राण लिये जाते हैं, उसमें उनका अहित और अप्रिय संपूर्ण रीति से मालूम होता है। इसीलिये एक स्थान में यज्ञ के वास्ते एक बकरा बाँधा हुआ बें बें कर रहा था उसपर कई कवियों ने भिन्न २ प्रकार की उत्प्रेक्षा की--एक ने ऐसी उत्प्रेक्षा की कि बकरा कहता है कि मुझे जल्दी स्वर्ग पहुंचा दो, तो दूसरे ने यह उत्प्रेक्षा की कि यह बकरा कहता है कि इस राजा का कल्याण हो, जिसने केवल तृण आहार को छुड़ाकर अमृताहार का भागी बनाया; तब तीसरे कवि ने कहा कि यह बकरा वैदिक धर्म को धन्यवाद देरहा है कि यदि वैदिक धर्म न होता तो हमारे ऐसे अज्ञानी पशु को स्वर्ग कौन ले जाता ?; इस प्रकार की जब कल्पनाएँ चल रहीं थीं; उसी समय एक दयालु पुरुष कहने लगा कि यह पशु यज्ञ करनेवालों से विनति करता है कि--

"नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ?"॥१॥

भावार्थ--हे यज्ञ करनेवाले महाराज ! मैं स्वर्ग के फलोपभोग का प्यासा नहीं हूं और न मैंने तुमसे यह प्रार्थना ही की है कि तुम मुझे स्वर्ग पहुंचादो, किन्तु मैं तो केवल तृण के ही भक्षण से सदा प्रसन्न रहता हूं, अतएव हे सज्जन ! तुम्हें यह कार्य (यज्ञ) करना उचित नहीं है, और यदि तुम्हारा मारा हुआ प्राणी स्वर्ग में निश्चय से जाता ही हो, तो इस यज्ञ में अपने माता पिता आदि बन्धुओं को ही मारकर स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचा देते ?।

जो अहिंसाधर्म की पुष्टि पुराण, स्मृति आदि बहुत से ग्रन्थों में की हुई है, उसको मैं यहाँ न दिखलाकर, केवल अहिंसा की महिमा और उसके सङ्गकरनेवाले की अपूर्व शक्ति, तथा हिंसक पुरुष की दुर्दशा ही दिखलाता हूँ।

अहिंसा की महिमा कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने इस तरह की है–

यथा–

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः" ॥ ५० ॥
"अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनाऽऽवली।
भवभ्रमिरुजार्तानामहिंसा परमौषधी" ॥ ५१ ॥

योगशास्त्र द्वि. प्र. पृ. २८५

भावार्थ–अहिंसा सब प्राणियों की हित करनेवाली माता के समान है, और अहिंसा ही संसाररूप मरु (निर्जल) देश में अमृत की नाली के तुल्य है; तथा दुःखरूप दावानल को शान्त करने के लिये वर्षाकाल की मेघपङ्क्ति के समान है; एवं भवभ्रमणरूप महारोग से दुःखी जीवों के लिये परमौषधि की तरह है।

अहिंसा समस्त व्रतों में भी मुकुट के समान मानी गई है—

"हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतभुजां चक्रवर्त्ती नराणां
शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम्।
सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां
यद्वत् तद्वद् व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत्?" ॥१॥

भावार्थ–जैसे पर्वतों में मेरु, देवताओं में इन्द्र, मनुष्यों में चक्रवर्ती, ज्योतिर्मण्डल में चन्द्रमा, वृक्षावली में कल्पवृक्ष, ग्रहों में सूर्य, जलाशयों में सिन्धु, और वासुदेव-बलदेव-चक्रवर्ती, तथा ६४ इन्द्रों में जिनराज उत्तम हैं, वैसेही समस्त व्रतों में श्रेष्ठ पदवी को अहिंसा ही पाती है, अर्थात् अहिंसा सबसे श्रेष्ठ है। अतएव जिस धर्म में दया न हो वह धर्म किसी काम का नहीं है। क्योंकि शस्त्ररहित सुभट और विचारहीन मन्त्री, किले के विना नगर, नायक रहित सेना, दन्तहीन हस्ती, कलाशून्य पुरुष, तप से विहीन मुनि, प्रतिज्ञाभङ्ग पुरुष, ब्रह्मचर्य रहित व्रती, स्वामी के विना स्त्री, दान विना धनाढ्य का धन, स्वामी-

हीन देश, विद्या के विना विप्र, गन्धहीन पुष्प, दन्तविना मुख, वृक्ष और कुसुम के विना सरोवर, पातिव्रत्यधर्महीन स्त्री जैसे अच्छी नहीं लगती है वैसेही दया के विना धर्म अच्छा नहीं लगता है। किन्तु दयावान् पुरुष सर्वत्र समदृष्टि होने से आदेयवचन, पूजनीयवाक्, महितकीर्ति, परम योगी, शान्तिसेवधि, परोपकारी, ब्रह्मचारी इत्यादि विरुदों से अलङ्कृत होता है, अतएव पशु पक्षी भी उसकी गोद में निर्भय होकर क्रीड़ा करते हैं, क्योंकि पशु पक्षी स्वयं क्रूर स्वभाव को छोड़कर जन्म वैर को भी जलाञ्जलि देते हैं और स्वभाव से दयाभाव में मग्न होकर महात्मा के उपदेश को पान करने के लिये उत्साही से मालूम पड़ते हैं। इसलिये जिसके ऊपर दयादेवी की कृपा होती है, उसको सब प्रकार की निर्मल बुद्धि उत्पन्न होजाती है, और वही जगत् का पूज्य होता है, तथा उसीकी महिमा अवर्णनीय होती है।

यथा—

"सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशात् केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याऽऽजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजेयु-
र्दृष्ट्वा सौम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्"॥१॥

भावार्थ—शान्ति में लीन और निष्कलुषितभाववाले योगी को देख कर कितनेही जीव जन्मजात वैर को जलाञ्जलि देते हैं; अर्थात् हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की तरह प्रेम से स्पर्श करती है, और गौ व्याघ्र के बच्चे को निजपुत्र की बुद्धि से प्रेम के वश होकर स्पर्श करती है; तथा बिल्ली हंस के बालक को स्नेह बुद्धि से देखती है और मयूरी भी सर्प से मित्रता करती है, इत्यादि।

विवेचन—समस्त जन्तुओं पर दयाभाव रखनेवाला पुरुषही महात्मा गिना जाता है, जिसमें दयाभाव कुछभी दूषित होने न पावे इसीलिये अन्य नियमों को भी महात्मालोग पालन करते हैं। क्योंकि समस्त

महात्मा पुरुषों का लक्ष्य अहिंसा ही पर है और उनका उपदेश भी वैसाही होता है, यदि मध्यस्थ बुद्धि से उनलोंगों का सिद्धान्त देखा जाय तो न्यूनाधिक रीति से सभी बात जीवदयापूर्वक ही मालूम होगी। किन्तु कालान्तर में दयारहित पुरुषों के मन में अनेक कल्पनाएँ उत्पन्न हुईं, इसलिये उन्होंने ही अर्थ को अनर्थ करडाला। क्योंकि महाभारत में ऋषियों ने अज शब्द का अर्थ तीन वर्ष का पुराना धान ही माना है, यह बात पहिले भी कही जा चुकी है। यद्यपि अनेक कविलोग बलिदान शब्द को लेकर नयी नयी कल्पनाएँ करके हजारों जाति के जीवों के पक्के शत्रु (दुश्मन) बन गये हैं; किन्तु वास्तव में बलिदान शब्द का तो यह अर्थ है कि बलि याने नैवेद्य का दान करना, जिससे हजारों गरीबोंके पेट भरें, जैसी नैवेद्य चढ़ाने से लोग आशीर्वाद दें, जिससे अपनी कामना पूर्ण हो, न कि दूसरे के प्राण की हिंसा हो; किन्तु जो लोग ऐसा न करके देवदेवियों को बकरा मार कर संतुष्ट करना चाहते हैं वे तो प्रत्यक्ष ही अन्याय करते हैं।

बकरीद के रोज मुसलमान लोग व्यर्थही असङ्ख्य जीवोंके प्राण ले लेते हैं यदि खुदाके नामसे उनके किसी सच्चे फकीर से पूछा जाय तो वह अपने धर्मशास्त्र से भी इसे अन्याय ही कहेगा। क्योंकि जब खुदा दुनियां का पिता है तब दुनियां के बकरी, ऊंट, गौ वगैरह सभी प्राणियों का वह पिता हुआ, तो फिर वह खुदा अपने किसी पुत्र के मारने से खुशी किस तरह होगा ?, अगर होता हो तो उसे पिता कहना उचित नहीं है। और विचार दृष्टि से भी देखिये कि मुसलमान लोग जो एकही दातून को बहुत दिन अपने काम में लाते हैं उसका कारण यही है कि जहांतक हो दातून के लिये भी नयी २ वनस्पति को न काटना पड़े। अब रहा यह कि जो काल को मारने के लिये कुरान में सूचना दी है उसका बहुत से आधुनिक मुसलमान लोग तो सर्प, बीछू, सिंह, व्याघ्रादि अर्थ करते हैं; इसलिये उन जीवोंके मारने के लिये सभी बालक से लेकर वृद्ध

पर्यन्त यत्न किया करते हैं, किन्तु वास्तविक में काल से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि का ही महात्माओं ने ग्रहण किया है, इसलिये उन्हींको मारना चाहिये । क्योंकि पक्के शत्रु आत्मा के वेही हैं, सर्पादि उस प्रकार के तो नहीं हैं । क्योंकि सर्पादि के मारने से काल का मारना नहीं गिना जासकता है । कदाचित् यह कहा जाय कि वे अपने सुख के लिये ही मारे जाते हैं सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस जगह पर जितने ही जहरीले जीव मरते हैं, वहां पर उतनेही वे ज्यादा पैदा होते हैं । इसलिये गुजरात देश में प्रायःकरके कोई भी हिन्दू सर्प बीछू को नहीं मारता, किन्तु मारनेवालों में केवल मुसलमान ही देखाई पड़ते हैं, इसलिये वहाँ पर वे जीव बहुत कम उत्पन्न होते हैं, यदि मुसलमान भी नहीं मारते होते तो सर्प बीछू आदि का गुजरात में बिलकुल ही डर न होता । पूर्वदेश, बङ्गाल, और मगध आदि देशों में तो ब्राह्मण भी सर्प, बीछू, आदि जीवों को मारने में जरा भी पाप, अथवा अपवाद नहीं मानते, जैसे ही जीव दृष्टि में आया कि तुरन्त मार डालते हैं । यद्यपि समस्त देश के कुछ न कुछ मनुष्य उन्हें मारते ही हैं किन्तु गुजरात की अपेक्षा कई गुने अधिक इस देशमें जो सर्प, बीच्छू आदि जीव देखने में आते हैं; उसका कारण यही है कि जिस जगह उन जीवों का खून गिरता है वहीं पर उन जीवों की ज्यादा उत्पत्ति होती है । और मारनेवाला भी सर्पावस्था को प्राप्त होकर उस सर्प से अवश्य मारा जायगा । क्योंकि जो जीव एक दफे जो कर्म करता है उसको वह कम से कम दस गुना भोगता है । यावत्परिणाम के वश से सौ गुना, हजारगुना, लाखगुना, और करोड़गुना भी कर्म का बन्ध पड़जाता है । सर्पादि के मारने से न तो लोकोपकार होता है और न स्वोपकार ही होता है, किन्तु पूर्वोक्त बातों से दोनों का अपकार ही सिद्ध होता है । क्योंकि पहिले जो थोड़े सर्प थे, उनको अब वह मारकर बढ़ावेगा, और मारनेवाले को मरनेवाले जन्तु का भव

अवश्य धारण करना पड़ेगा । अत एव काल शब्द से आत्मा के वास्तविक शत्रु क्रोधादि को ही लेना चाहिये, और उनके ही मारने की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये । जो हिन्दू और मुसलमानों में आजतक महात्मा हुए हैं, वे सब दयाभाव से ही हुए हैं । और जैनों के लिये यह कथन तो सिद्धसाधनरूप है । क्योंकि पूर्वोक्त श्लोकों में दिखलाया गया है कि महात्मा पुरुष के प्रभाव से ही क्रूर जन्तु भी शान्त होगये हैं और हो जाते हैं, तब स्वभावसरल जीवों की कथा ही क्या है ? । योगवासिष्ठ में जो मोक्ष के चार द्वारपाल बताये गये हैं उनमें एक शम भी गिनाया गया है; क्योंकि शमशाली पुरुष, समस्त जीवों को विश्वासपात्र ही दिखाई देता है ।

यथा–

" मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः " ॥ ४७ ॥

योऽ वाऽ पृष्ठ ४

" मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि" ॥ ६२ ॥

योऽ वाऽ पृष्ठ ६

अर्थात्–मोक्षद्वार में शम, सद्विचार, सन्तोष, और साधुसमागमरूप चार द्वारपाल हैं, इन चारों द्वारपालों के विचार करने में पहिले ही शम का विचार किया है । उसमें पूर्वोक्त ६२ वें श्लोक में लिखा है कि शमशाली पुरुष से संपूर्ण क्रूरजन्तु और शान्तजीव विश्वास पाते हैं । अर्थात् जीवों को उनसे बिलकुल भय नहीं होता है, क्योंकि वे तो दयाप्रधान पुरुष हैं ।

जीवहिंसा करनेवाले जीवों की दुर्दशा कैसी होती है, देखिये–

यथा–

" श्रूयते प्राणिघातेन रौद्रध्यानपरायणौ ।

सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च सप्तमं नरकं गतो " ॥ २७ ॥

पृष्ठ २०२ योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश.

भावार्थ—सुना जाता है कि प्राणियों का घात करके रौद्रध्यान में तत्पर सुभूम और ब्रह्मदत्त दोनों सातवें नरक में गये। इसी कारण से जो लोग लङ्गड़े लूले होते हैं, सो तो अच्छा ही है, लेकिन संपूर्ण अङ्गवाला होकर भी जो हिंसा करता है वह ठीक नहीं है।

यथा—

" कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान्।
अपि संपूर्णसर्वाङ्गो न तु हिंसापरायणः" ॥२८॥

पृष्ठ २६० यो० शा० द्वि० प्र०

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर ही लिख दिया गया है। यदि यहाँ पर कोई शङ्का करे कि जिस हिंसा से रौद्रध्यान हो, वह नहीं करनी, किन्तु शान्ति के लिये की हुई हिंसा से तो रौद्रध्यान नहीं होता, इसलिये वह हिंसा तो निर्दोष है। इसके उत्तर में हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

" हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी" ॥ २९ ॥

पृष्ठ २६० यो० शा० द्वि० प्र०

याने विघ्न की शान्ति के लिये की हुई हिंसा भी, उलटे विघ्न की ही करनेवाली होती है। जैसे किसीकी कुल की रीति है कि अमुक दिन हिंसा करनी चाहिये; किन्तु वह हिंसा भी कुल का नाश करनेवाली ही है। देखिये कुलक्रम से प्राप्त भी हिंसा को छोड़कर कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस कैसा सुखी हुआ ?।

यथा—

" अपि वंशक्रमायातां यस्तु हिंसां परित्यजेत्।
स श्रेष्ठः सुलस इव कालसौकरिकात्मजः " ॥३०॥

यो० शा० पृ २६१ द्वि०प्र०

यदाह–

" अवि इच्छन्ति य मरणं न य परपीडं कुणन्ति मणसा वि ।
जे सुविइअसुगइपहा सोयरिअसुओ जहा सुलसो " ॥ १ ॥

यो० द्वि० २६१

तात्पर्य–कुल क्रम से प्राप्त हिंसा को भी त्याग करना चाहिये, हिंसा त्याग करने से जैसे कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस श्रेष्ठ गिना गया है ।

प्राकृत गाथा का भावार्थ–जो पुरुष मृत्यु की इच्छा तो करता है परन्तु दूसरे को दुःख देने की मन से भी इच्छा नहीं करता है, वह उत्तम रीति से सुगति के मार्ग का ज्ञाता होता है, जैसे काल-सौकरिकपुत्र सुलस के कुटुम्ब ने उसे हिंसा करने के लिये बहुत ही प्रेरणा की, किन्तु उसने हिंसा नहीं की । यह दृष्टान्त विस्तार से योगशास्त्र में लिखा हुआ है । उसका सार यही है कि जब सुलस के कुटुम्ब ने अनेक युक्ति से हिंसा करने के लिये उसे बाध्य किया, यहाँ तक कि सुलस के पाप में भी भाग लेने को कबूल किया । तब सुलस लाचार हो कुह्लाड़ा लेकरके तो चला, किन्तु अपने कुटुम्ब के अन्तःकरण में प्रतिबोध करने के आशय से तथा स्वयं हिंसा से सर्वथा छूटने के विचार से जान बूझ कर उसने अपने ही पैर पर कुह्लाडा मारलिया । जिससे उसका पैर रुधिर और मांस से पूर्ण दिखाई देने लगा, तदनन्तर उसके चिल्लानेपर सभी कुटुम्ब इकट्ठा हुआ । उसके बाद जब उनलोगों के उचित रीति से दवा वगैरह करने पर भी सुलस की वेदना शान्त न हुई, तब उसने अपने कुटुम्ब से यह कहा कि हमारे दुःख में से थोड़ा थोड़ा तुमलोग भी बाँटलो । उस समय एक वृद्ध ने उत्तर दिया कि किसीकी वेदना क्या किसीसे बाँटी जा सकती है ! । तब तो सुलस बोला कि जब तुमलोग प्रत्यक्ष दुःख के भागी नहीं हो सकते हो तो क्या परोक्ष नरकादि दुःख में भाग लेने की शक्ति तुमलोगों में है !, जो मुझको

झूठ मूठ हिंसा में फँसाते हो ? । इत्यादि अनेक युक्तिद्वारा बेचारा सुलस पाप कर्म से किसी प्रकार मुक्त हुआ । शास्त्रकारों ने इसीलिये तो सुलस को श्रेष्ठ दिखलाया है ।

जो कोई प्राणी इसी तरह जीवहिंसा का त्याग करेगा वही श्रेष्ठ गिना जायगा । किन्तु शान्ति के लिये जो पुरुष हिंसा करते हैं वे तो मूर्ख ही हैं; क्योंकि दूसरे की अशान्ति उत्पन्न करके अपनी शान्ति करनेवाले को विचारशून्य पुरुष समझना चाहिये । अतएव बहुत जगह जब कोई उपद्रव होता है तब धर्मात्मा पुरुष तो ईश्वर भजन, दान, पूजादि करते हैं, किन्तु नास्तिक और निर्दय मनुष्य प्रायः बलिदान देने की कोशिश करते हैं और अन्त में वे लोग भद्रिकलोगों को भी उस उन्मार्ग पर लेजाते हैं ।

यथा—

" विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः पात्यते नरकावनौ ।
अहो ! नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः " ॥ १ ॥

पृष्ठ २७६ यो० शा० द्वि० प्र०-

भावार्थ—बिचारे विश्वासू भद्रिक बुद्धिवाले लोग भी निर्दय, लोभान्ध और हिंसा शास्त्र के उपदेशकों से वञ्चित होकर नरकभूमि में जाते हैं; अर्थात् वे निर्दय, अपने भक्तों को नरक में ले जाते हैं ।

यह कुरीति तो गुजरात आदि सामान्य देश में भी प्रचलित है, याने निर्दय मनुष्य बकरे बगैरह जीव को मारकर अशान्ति से शान्ति चाहनेवाले दिखाई पड़ते हैं; इसीलिये महाशान्त—स्वभाव के पक्षपाती भी, हेमचन्द्राचार्य आदि आचार्यों ने जीवदयापर अत्यन्त प्रीति रखने के कारण हिंसाशास्त्र के उपदेश करनेवाले पुरुषों को नास्तिकातिनास्तिकशब्द से कहा है ।

यथा—

" ये चक्रुः क्रूरकर्माणः शास्त्रं हिंसोपदेशकम् ।
क ते यास्यन्ति नरके नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः?"॥३७॥

भावार्थ–जिन क्रूरकर्माओं ने हिंसोपदेशक शास्त्रों को रचा है, वे नास्तिकों से भी नास्तिक होने के कारण किस नरक के भागी होंगे यह नहीं मालूम पड़ता है ? । अर्थात् वे चाहे अपने मनमें आस्तिक होनेका दावा भलेही करें, वस्तुतः तो वे नास्तिकों से भी नास्तिक हैं । क्योंकि नास्तिकों के फन्दे में साधारण भी मनुष्य सहज में नहीं आते, इसलिये वे लोग आस्तिकों का वेष धरकर मुग्धलोगों को विश्वास दिलाते हैं, अतएव वे बेचारे अनभिज्ञ अनर्थकारिणी हिंसा आदि निन्दनीय कृत्यों को भी धर्मही मानने लगते हैं ।

जिस हिंसा का दोष कदापि छूटही नहीं सकता उस हिंसा करनेवाले की नरकगति हिंसोपदेशकों ने भी अवश्य मानी है, किन्तु विचार करने से मुझे तो यही मालूम होता है कि जब हिंसोपदेशकलोग सत्यवक्ताओं से युक्तिपूर्वक विचार में परास्त होने लगे हैं तब डरकर अपने भक्तों के पास अपने सत्यवक्ता होने का घमण्ड रखने के लिये उन्होंने यह लिखा है कि यज्ञ, मधुपर्क, श्राद्ध और देवपूजा आदि में जो हिंसा की जाती है उसका फल यद्यपि स्वर्ग है, तथापि साथही साथ हिंसाजन्य पाप से नरकादि दुःख भी भोगना पड़ता है । इससे दुनियां के लोग उन्हें सत्यवक्ता मानते हैं कि 'देखिये यह ऐसे सत्यवक्ता हैं कि अपनी हार्दिक कुछ भी बात छिपी नहीं रखते' । परन्तु अपने सत्यवक्ता कहाने के लिये ही हिंसा में दोष उन्होंने माना है अन्यथा वे कदापि दोष न मानते ।

वर्त्तमान समय में जीवदयापालक मनुष्यों को देखकर याज्ञिक लोग, हिंसा की पुष्टि विशेष करते हैं और क्षत्रियों के लिये तो वे लोग हिंसा करना धर्मही बतलाते हैं और कहते हैं कि क्षत्रिय लोगों-को मृगया (शिकार) करने में कुछ भी दोष नहीं है, क्योंकि मांसाहार न करने पर शत्रुओं से देश की रक्षा होही नहीं सकती । ऐसे अनेक कारण दिखाते हैं, किन्तु वे उनकी युक्तियां बुद्धिकमान पुरुषों को ठीक नहीं मालूम देती हैं । देखिये शिकार के लिये दोष न मानना

तो राजाओं के प्रिय होने के लियेही लिखा है, क्योंकि यदि शिकार करने में दोष न होता तो धर्मिष्ठ राजा लोग उसको क्यों छोड़ते ?। और युक्ति से भी देखा जाय तो राजा का धर्म यही है कि निरपराधी जीव की रक्षाही करे न कि उसको मार डाले। अतएव निरपराधी जीवों को मारने वाले क्षत्रियों के पुरुषार्थ को महात्मा लोग एक प्रकार से तिरस्कारही करते हैं कि–

“ रसातलं यातु यदत्र पौरुषं क्व नीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनाऽतिदुर्बलो हहा ! महाकष्टमराजकं जगत्” १

“ पदे पदे सन्ति भटा रणोत्कटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते ! कुविक्रमं कृपाऽऽश्रये यः कृपणे मृगे मयि” २॥

भावार्थ–जो दुर्बल जीव बली से मारा जाता है इस विषय में जो पौरुष है वह रसातल को चला जाय; और अदोषवान् याने निर्दोष जीव अशरण हो अर्थात् उसका कोई रक्षक न हो यह कहाँ की नीति है; बडे कष्ट की बात है कि विना न्यायाधीश संसार अराजक हो गया है।

दूसरे श्लोक में कवियोंने हरिण का पक्ष लेकर अहिंसा धर्म का उपदेश राजाओं के करने के लिये युक्तिपूर्वक उत्प्रेक्षा की है कि–हे क्षत्रियो ! यदि तुह्मारे अन्तःकरण में स्थित हिंसा का रस तुह्में पूर्ण करना हो तो स्थान स्थान में लाखों जो संग्राम में भयङ्कर सुभट तैयार हैं, क्या वहां पर वह रस तुह्मारा पूर्ण नहीं हो सकता है ?। अर्थात् उनलोगों से लड़कर यदि शस्त्रकला को सफल करो तो ठीक है; किन्तु कृपा करने के लायक और कृपण मेरे ऐसे बेचारे मृग में जो हिंसारस को पूर्ण करना चाहते हो इसलिये इस तुम्हारे दुष्ट पराक्रम को धिक्कार है।

विवेचन–क्षत्रियों का धर्म शस्त्रवान् शत्रु के संमुख होने के लिये ही है, किन्तु वह भी योग्य और शास्त्रयुक्त और नीतिपूर्वक, निष्कपट होकर, तथा इतनाही नहीं किन्तु उत्तमवंशी वीर राजा के साथही करना चाहिये।

ऐसा नियम है कि जो मनुष्य हार जाता है वह अपने मुख में घास लेकर और नम्र होकर यदि शरण में आजावे तो वह माफी पाता ही है किन्तु वह मारा नहीं जाता । इस लिये मृग कहता है कि हे राजन्! न तो मेरे पास शस्त्र है और न मैं उत्तम कुल में राजाही हुआ हूँ किन्तु हमेशा मुख में घास रखनेवाला मैं निरपराधी जीव हूँ मुझे यदि मारोगे तो तुह्मारी कीर्ति कैसी होगी यह विचारणीय है ?। कहा हुआ है कि–

" वैरिणोऽपि विमुच्यन्ते प्राणान्ते तृणभक्षणात् ।
तृणाहाराः सदैवैते हन्यन्ते पशवः कथम् ? " ॥ १ ॥
" वने निरपराधानां वायुतोयतृणाशिनाम् ।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी विशिष्येत कथं शुनः ?"॥२३॥
" निर्मातुं क्रूरकर्माणः क्षणिकामात्मनो धृतिम् ।
समापयन्ति सकलं जन्मान्यस्य शरीरिणः ॥ " ॥२५॥
" दीर्यमाणः कुशेनापि य स्वाङ्गे हन्त ! दूयते ।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ?" ॥२४॥

इत्यादि अनेक श्लोकों से राजाओं के शिकार करने का निषेध प्रत्यक्ष सिद्धही है । इतनाही नहीं किन्तु जो वन में झरने का पानी और घास खाकर रहनेवाले निरपराधी जीवों को मांस के लोभी लोग मारते हैं वे क्या कुत्ताओं से विशेष गिने जासकते हैं ?। क्योंकि–

" सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ! ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि " ॥ ४१ ॥

भागवत ३ स्कन्ध, ७ वां अध्याय ।

भावार्थ–जीवों के अभय दान देने की एक कला को भी संपूर्ण वेद, यज्ञ, तप, दान आदि नहीं कर सकते हैं । और भी लिखा है कि–

" ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्"॥१४॥

भागवत ११ स्कन्ध ५ अध्याय ।

भावार्थ–निश्चलभाव को प्राप्त होकर अहिंसा धर्म को न जानकर अपने को अच्छा मानने वाला जो असाधु पुरुष पशुओं से द्रोह करता है, वह उन पशुओं से दूसरे जन्म में अवश्य खाया जाता है। और श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि–

" आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः" ॥३२॥

अध्याय ६ पत्र ११९ बहुत छोटा गुटका।

भावार्थ–जो महात्मा सब में अपने समानही सुख और दुःख दोनों मानता है वही परम योगी माना जाता है।

अब विचारने की बात है कि–

"स्वच्छन्दं वनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्?" ॥१॥

भावार्थ–यदि वन में उत्पन्न हुए शाक से भी स्वच्छन्दता पूर्वक उदर पूर्ण होजाता है तो इस नष्ट उदर के वास्ते कौन पुरुष घोर पाप करे ?।

देखिये, क्रूर काम करने वाले अपनी क्षणभर की तृप्ति के लिये अन्य जीवका जन्म नष्ट करते हैं क्या यह कोई बुद्धिमान् पुरुष योग्य मानेगा ? ! क्योंकि अपने अङ्ग में एक सुई लगने से भी जब दुःख होता है, तो तीक्ष्ण शस्त्रोंसे निरपराधी जीवोंका नाश करना क्या उचित है ? । प्रसंगानुसार 'बकरीविलाप' द्वारा जो सुन्दर उपदेश भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने किया है सो भी नीचे दिखलाया जाता है–

मानुष जनसों कठिन कोउ, जन्तु नाहिं जगबीच ।
बिकल छाड़ि मोहि पुत्र लै, हनत हाय सब नीच ॥
बृथा जवन को दूसहीं, करि वैदिक अभिमान ।
जो हत्यारो सोइ जवन, मेरे एक समान ॥
धिक् २ ऐसो धर्म जो, हिंसा करत विधान ।
धिक् २ ऐसो स्वर्ग जो, बध करि मिलत महान ॥

शास्त्रन को सिद्धान्त यह, पुण्य सु परउपकार।
पर पीड़न सों पाप कछु, बढ़ि के नहिं संसार ॥
जज्ञन में जप जज्ञ बढ़ि, अरु सुभ सात्त्विक धर्म।
सब धर्मन सो श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म ॥
पूजा लै कहँ तुष्ट नहिं, धूपदीप फल अन्न।
जो देवी बकरा वधे, केवल होत प्रसन्न ॥
हे बिश्वम्भर ! जगतपति ! जगस्वामी जगदीस !।
हम जगके बाहर कहा, जो काटत मम सीस ॥
जगमाता ! जगदम्बिके ! जगतजननि ! जगरानि !।
तुम सन्मुख तुम सुतनको सिर काटत क्या जानि ? ॥
क्यों न खींच कै खड्ग तुम, सिंहासन तें धाय।
सिर काटत सुत बधिक को, क्रोधित बलि ढिग आय ॥
त्राहि २ तुमरी सरन, मैं दुखनी अति अम्ब !।
अब लम्बोदरजननि बिनु मो को नहिं अवलम्ब ॥

अब मांसाहार के लिये कबीर जी आदि महात्माओं ने क्या कहा है ?, उसे देखिये–

"माँस अहारी मानई, प्रत्यक्ष राक्षस जान।
ताकी संगति मति करै, होइ भक्ति में हानि" ॥ १ ॥
"माँस खाय ते ढेढ़ सब, मद्य पीवैं सो नीच।

---

१ कबीर के प्रमाण देने से कबीर को हम कुछ प्रमाणिक पुरुष नहीं समझते। एक सत्य कबीर की साखी नाम की पुस्तक छपी है, वह भी ठीक नहीं है। कबीर की भाषा बहुत जगह ग्रामीण है उन्हें शास्त्रीयभाषा का ज्ञान नहीं मालूम पड़ता है। और उनका लेख रागद्वेष से भी पूर्ण हमें दिखाई देता है, यह बात साखी के अन्तिम दर्शननिन्दापरक बचनों से ही मालूम होती है। जिसमें उन्होंने जैनदर्शन की व्यर्थ असत्य आक्षेपों द्वारा निन्दा की है। तथापि उनमें दयादि सामान्य गुणों का पुष्टि करने वाला गुण, अवश्य प्रशस्य था; इसलिये उनकी कविता बाल जीवों को माननीय होने से यहाँ पर दी जाती है।

कुल की दुर्मति पर हरै, राम कहै सो ऊँच " ॥ २ ॥
"माँस मछलिया खात हैं सुरापान से हेत ।
ते नर नरके जाहिंग, माता पिता समेत " ॥ ३ ॥
"माँस माँस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय ।
आँखि देखि नर खात है, ते नर नरकहिं जाय " ॥६॥
"यह कूकर को भक्ष है, मनुप देह क्यों खाय ।
मुख में आमिप मेलिके, नरक परंते जाय " ॥ ७ ॥
"ब्राह्मण राजा बरन का, और पवनी छत्तीस ।
रोटी ऊपर माछली, सब बरन भये खबीस " ॥ ८ ॥
"कलिजुग केरा ब्राह्मणा, माँस मछलिया खाय ।
पांय लगे सुख मानई, राम कहे जरि जाय " ॥ ९ ॥
"तिल भर मछली खाय के, कोटि गऊ दै दान ।
काशी करवट लै मरै, तौ भी नरक निदान" ॥ १६ ॥
"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ।
जो बकरी को खात है, तिनका कौन हवाल" ॥१८॥
"कबिरा तेई पीर हैं, जो जानै पर पीर ।
जो पर पीर न जानि है, सो काफर बेपीर" ॥ ३६ ॥
"हिन्दू के दया नहिं, मिहर तुरक के नाहिं ।
कहै कबीर दोनूं गया, लख चौरासी मांहिं" ॥ ३९ ॥
"मुसलमान मारे करद सो, हिन्दू मारे तरवार ।
कहै कबीर दोनूं मिलि, जैहैं यम के द्वार" ॥ ४० ॥

कबीर के कथानुसार शिकार आदि सभी हिंसा कार्य निषिद्ध और अनुचित हैं ।

सप्त व्यसनों की सर्व दर्शनकारों ने जो सूचना दी है, उसमें शिकार को भी एक व्यसन माना है यथा—

"द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्ये परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति" १

भावार्थ–जूआ, मांसाहार, सुरापान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, और परदारागमन– ये सात व्यसन, मनुष्यों को घोर से भी घोर नरक को प्राप्त करते हैं।

विवेचन–पापर्धि, मृगया, ये सब शिकार के नाम हैं, नाम से सिद्ध होता है कि जिसमें पाप की ऋद्धि हो वह पापर्द्धि है और व्यसन शब्द से सिद्ध होता है कि शिकारादि कृत्य महाकष्टमय हैं इतना दोष होने पर भी राजा का धर्म शिकार करना जो मानते हैं वे भी किसी अंश में जो तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं यह भी एक देखने लायक बात है। कदाचित् कोई आदमी यह साहस करके कहे कि शिकार करनेवाला शस्त्रविद्या में यदि कुशल हो तो देशरक्षा इसके द्वारा विशेष होगी, इसलिये ही राजाओं को शिकार में दोष नहीं माना है। इसका उत्तर यह है कि अपने को कुशल बनने के लिये अन्यजीवों का कुशल उच्छिन्न करना क्या मनुष्यों के लिये उचित है? कदापि नहीं। प्राचीन पुरुष जो निशानेबाज होते थे तो क्या वे जीव मारने से ही होते थे?; नहीं, किन्तु एक ऊँचे स्थान पर नीबूँ या और कोई चीज रख कर उसको उड़ाते थे, जब वे स्थिर निशानों में कुशल हो जाते थे उसके बाद अस्थिर निशानों का अभ्यास करते थे। याने सूखे मिर्च को डोरी से ऊँचे टाँगते थे जब वह वायु के जोरसे हिलने लगता था तब उसे गोली से उड़ाते थे। इत्यादि अनेक प्रकार की अहिंसामय क्रिया से कुशलता प्राप्त करते थे, जैसे वर्तमान समय में भी कई एक अङ्गरेज लोग झूठी वस्तु बनाकर उसपर घोडाओं को दौड़ाते हैं तथा निशानों पर पूर्वोक्त कोई चीज रखकर अभ्यास करते हैं। जब सीखने के लिये अनेक रास्ते हैं तो अन्य को दुःख देकर स्वयं कुशल बननेवाले को कोई बुद्धिमान उचित नहीं गिनेगा। यदि राजा महाराजा को खुश करने के लिये शिकार करने की आज्ञा दी हो तो हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कभी २ दाक्षिण्यता भी दुर्जनता का काम कर जाती है; किन्तु स्वार्थान्धता ही अनर्थ को उत्पन्न

करती है। शिकार में कोई दोष न मानना, और शिकार राजा का भूषण कहना इत्यादि दाक्षिण्य और स्वार्थान्धता ही से है। सर्वप्रकार की जीवहिंसा में जो दोष माना है उसे मैं पुराणों के द्वारा पहिले ही सिद्ध कर चुका हूँ।

सुश्रुत में भी कहा हुआ है कि—

" पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः।
दूषयेदम्लपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ॥ ८ ॥

सुश्रुत, पृष्ठ १९८

भावार्थ—मत्स्य श्लेष्माकारक, वृष्य, निद्राकारक और मांसभक्षी होता है; और अम्ल पित्त का दूषित करता हुआ कुष्ठ रोग उत्पन्न करता है।

भिन्न भिन्न दर्शनकारों के भिन्न भिन्न आशय के द्वारा भिन्न भिन्न रीति से माने हुए आत्मतत्त्व के भिन्नता के कारण हिंसा शब्द में जब तक विवाद दृष्टि गोचर होता है तब तक अहिंसा धर्म की सिद्धि होनी अशक्य है। अतएव तत्संबन्ध में थोड़ा लिखकर इस निबन्ध को समाप्त करना चाहता हूँ। कितने ही दर्शनकार आत्मा और शरीर को एकान्त रीति से भेद मानते हैं। उनके अभिप्रायानुसार शरीर के छेदन, भेदन दशा में हिंसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि आत्मा शरीर से एकान्ततः भिन्न है। और एकान्त देहात्मा को अभिन्न मानने वाले महात्माओं के सिद्धान्तानुसार तो परलोकभाव और हिंसा भी नहीं सिद्ध होसकती है, क्योंकि देह के नाश में देही आत्मा का भी नाश होगा, तब आत्मा घट पट की तरह अनित्य हुआ, तो फिर जैसे घट पट के नाश से कोई हिंसा नहीं मानता वैसेही अनित्य आत्मा के नाश से न तो हिंसा होगी और न कोई परलोकगामी होगा, और जब परलोकगामी कोई नहीं होगा तो परलोक का ही अभाव सिद्ध होगा। अतएव कथञ्चित् शरीर से भिन्नाभिन्नता से ही जीव की स्थिति अङ्गीकार करनी चाहिये; याने

किसी प्रकार से तो आत्मा शरीर से भिन्न है और किसी प्रकार से अभिन्न है ऐसा युक्तियुक्त माना जाय तब जो शरीर नाश के समय पीड़ा उत्पन्न होती है उसे हिंसा कहते हैं; और शरीर नाश होने से आत्मा पदार्थ दूसरी गति प्राप्त करता है इसलिये परलोक भी सिद्ध होता है । हिंसा का स्वरूप इस प्रकार तत्त्ववेत्ताओं ने दिखलाया है । यथा–

"दुःखोत्पत्तिर्मनःक्लेशस्तत्पर्यायस्य च क्षयः ।
यस्यां स्यात् सा प्रयत्नेन हिंसा हेया विपश्चिता" ॥ १ ॥

भावार्थ–जिसमें दुःख की उत्पत्ति, मन को क्लेश, और शरीर के पर्यायों का क्षय होता हो, उस हिंसा को यत्नपूर्वक बुद्धिमान पुरुषों को त्याग करना चाहिये। विषय, कषाय, निद्रा, मादक वस्तुओं का पान करना, विकथादिरूप प्रमाद से दुःखोत्पत्ति, मनःक्लेश, और जीव से धारण किये हुए शरीर का नाशकरना ही हिंसा मानी जाती है । वह हिंसा संसाररूप वृक्ष के बढ़ाने के लिये अमोघ बीज है । यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि योगी भोगी दोनों को चलने फिरने से हिंसा लगती है तो किस प्रकार संसाररूप वृक्ष का नाश हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि प्रमादी (अज्ञानी) पुरुष विना उपयोग भी क्रिया किया करता है, उससे जीव चाहे मरे, या न मरे यह दूसरी बात है, किन्तु हिंसा का पाप तो उस प्रमादी के शिरपर चढ़ता ही है परन्तु अप्रमादी पुरुष उपयोगपूर्वक गमनागमनक्रिया करता है यदि कदाचित् उसमें जीव मर भी जाय तो हिंसाजन्य दोष उसके शिरपर शास्त्रकारों ने नहीं माने हैं; क्योंकि परिणाम से ही बन्ध होता है, अतएव राजकीय न्याय भी इसीके अनुसार होता है, अर्थात् मारने के इरादे से ही मारनेवाले को फाँसी होती है, और मारने की इच्छा न करने पर अगर किसी कारण से कोई जीव मर जावे, तो उसे फाँसी नहीं मिलती, बल्कि निर्दोष समझकर छोडदिया जाता है । क्योंकि हिंसा न करने पर भी मारने के इरादेमात्र से ही बहुत से पुरुषों को दोषपात्र मानकर न्याय-

युक्त दण्ड दिया जाता है । वैसेही प्रमादी पुरुष के हाथ पैर से कदाचित् जीव न भी मरे, तो भी परिणाम की शुद्धि न होने से दोष का पात्र तो वह अवश्य गिना जाता है और अप्रमादी पुरुष यत्नपूर्वक कार्य करे और फिरभी भावीभाव के योग से यदि कदाचित् कोई जीव मर भी जाय तो भी हिंसाजन्य दोष उसके शिरपर नहीं पड़ता इस तरह तत्त्ववेत्ताओं का अभिप्राय है । दशवैकालिक सूत्र में भी शिष्य इसतरह गुरु से प्रश्न करता है कि–

" कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।
कहं भुजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ" ॥ १ ॥

भावार्थ–कैसे चलें और कैसे खडे हों और कैसे बैठें तथा कैसे सोवें और कैसे खावें और कैसे बोलें जिसमें पाप कर्म मुझसे न हो ? ।

आचार्य उत्तर देता है कि–

" जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ" ॥ १ ॥

भावार्थ–यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक खडे हो, यत्नपूर्वक बैठो और यत्नपूर्वक सोवो, यत्नपूर्वकही खाओ और यत्नपूर्वक बोलो तो पाप कर्म नहीं लगेगा । अर्थात् उपयोगपूर्वक कार्य करने से हिंसाजन्य दोष से दूषित मनुष्य नहीं होता है । अतएव योगी और भोगी के विषय में प्रश्नकरनेवाले को पूर्वोक्त कथन से सन्तोष मिलेगा। किन्तु एकान्तरूप से आत्मा को नित्यमाननेवाले और एकान्त पक्ष से आत्मा को अनित्य माननेवाले के मन्तव्यानुसार दोनों पक्ष में हिंसा शब्द का व्यवहार नहीं होगा । क्योंकि एकान्त आत्मा के नित्य माननेवाले के पक्ष में आत्मा अविनाशी है अर्थात् उसका नाश होनेवाला नहीं है। उसीतरह अनित्य पक्षवालों के मत में भी आत्मा प्रतिक्षण विनाशी होने से स्वयं नष्ट होनेवाला है उसका नाश्यनाशकभाव दुर्घट है, तो फिर हिंसा किसकी ? । जहां हिंसा शब्द का प्रयोग ही नहीं है वहां अहिंसा धर्म की महिमा खरशृङ्ग के समान असत्कल्पनास्वरूप ठहरेगी।

अतएव स्याद्वादमतानुसार कथञ्चित् नित्यानित्यभाव आत्मा में स्वीकार करना ही होगा, तब परिणामी आत्मा का उत्पाद, व्यय होने में कुछ भी विरोध नहीं आवेगा। और उत्पाद व्यय होने से भी पदार्थ का मूलस्वरूप जो तद्भावाव्ययरूप नित्यत्व है वह बनाही रहता है। नित्यैकान्तवादी नित्य का लक्षण 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' इस तरह करते हैं। अर्थात् जो न कभी पतनको प्राप्त हो, और न उत्पन्न हो, ऐसी स्थिर जो वस्तु है वह नित्य है। किन्तु यह संसारी जीव में लक्षण नहीं घटेगा, क्योंकि जन्म मरणादि क्रिया आत्मा के जीवपरत्व में ही दिखाई देती है। इसी तरह एकान्त अनित्य पक्षमें अनित्य का लक्षण 'तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिकत्वं' है, अर्थात् प्रथम क्षण में सभी पदार्थों की उत्पत्ति, और द्वितीय क्षण में स्थिति, और तृतीय क्षण में नाश होता है ऐसे माननेवालों के मतानुसार सांसारिक व्यवहार सुव्यवस्थित नहीं बनेगा। क्योंकि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा, अनेक नर तिर्यञ्चादि पर्यायादि का अनुभव करता है, अतएव अनित्य है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा अच्छेदी, अभेदी, अविनाशी शुद्ध, बुद्ध, अविकारी, असंख्यप्रदेशात्मक, सच्चिदानन्दमय पदार्थ है और इसी आत्मा को प्राण से मुक्त करने को ही हिंसा कहते हैं। यह हिंसा आत्मा में युक्तियुक्त नित्यानित्यभाव मानने ही में सिद्ध होती है। अत एव हिंसा के त्याग करने को ही अहिंसा धर्म कहते हैं। विपर्यासबुद्धिवाले पुरुष कुतर्काधीन बनकर कहते हैं कि घातकजन्तुओं के मारने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक जीव के मर जाने से अनेक जीव बचाये जायँगे। किन्तु जो लोग ऐसा मानते हैं उनकी भूल है। क्योंकि संसार में प्रायः समस्त प्राणी किसी न किसी अंश में किसी जीव के हिंसक दिखाई देते ही हैं तो पूर्वोक्त न्यायानुसार सभी जीवों के मारने का अवसर प्राप्त होगा, तब तो लाभ के बदले उलटी हानि ही होगी। अतएव हिंसक जन्तुओं के मारने को धर्म

मानना सर्वथा अनुचित है। चाहे हिंसक हो चाहे अहिंसक हो, सभी प्रकार के जीवों को भय से मुक्त करने में परम धर्म है; क्योंकि परिणाम में बन्ध और क्रिया में कर्म दिखलाया है।

चार्वाक के संबन्धी संसारमोचक कहते हैं कि– दुःखित जीवों को मारदेने से उनके दुःख का नाश होजाता है और दुःख से जीवों को मुक्त करना ही परम धर्म है। ऐसी स्थूल युक्ति से धर्ममाननेवाले यदि थोड़ी भी दीर्घदृष्टि से देखते तो ऐसी भारी भूल में कभी न पड़ते। यद्यपि हाथ, पांव के टूट जाने से, अथवा ज्वरादि वेदना से विह्वल जीवों को देख करके मारने की क्रिया उनके सुख के लिये गोली से वे भले ही करें किन्तु वास्तविक रीति से देखा जाय तो स्वल्प वेदनावाले को अत्यन्त वेदनावान् बनाते हैं। क्योंकि जो जीव इस भव में स्वल्प वेदना का अनुभव करता था वही परलोक में अब गर्भादि की अनन्त वेदना सहन करेगा। तथा पूर्व वेदना से जो अधिक गोली लगने से वेदना होती है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है इसलिये वे जीव आर्तरौद्रध्यान वाले होने से नरकादि गति के भागी होते हैं। अतएव दुःख से मुक्त करने के आशय से गोली मारना उनका भ्रान्तिरूप ही है। यदि यह आशय सच्चा भी हो तो जिस तरह पशुओं की पीडा छुडाना चाहते हैं उसी तरह अपने माता पिता को भी दुःखित देखकर उन्हें मारकर उस दुःखसे उन्हें मुक्त क्यों नहीं करते हैं?। क्योंकि मनुष्य को सर्वत्र समान दृष्टि ही रखना उचित है। दुःखी प्राणियों के मारने से धर्म माननेवालों को सुखी जीवों का भी संहार करना चाहिये, जिससे कि उन जीवों से संसारवर्धक पाप कर्म न होने पावें। इत्यादि अनेक अनर्थरूप आपत्तियां आ पड़ती हैं; इसीलिये संसारमोचकों को उचित है कि कुयुक्ति रूप कदाग्रह से मुक्तहोकर वस्तुतः संसारमोचक बनें। नास्तिकशिरोमणि चार्वाक तो यह कहते हैं कि– जब आत्मा पदार्थ का ही ठिकाना नहीं है तो फिर हिंसा किसकी होगी?। तात्पर्य यह है कि भूतों (पृथिव्यादि) से

चलनादि सभी क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे—ताड़ी, गुड़, आटा वगैरह पदार्थ से एक मादकशक्ति विचित्र उत्पन्न होती है। उस शक्ति के प्रध्वसाभाव में ही लोग मरण का व्यवहार करते हैं, किन्तु मरने के बाद कोई भी परलोक में नहीं जाता। क्योंकि जब आत्मा पदार्थ की सत्ताही नहीं है तब परलोक प्राप्ति कहां से होगी और परलोक का कारण पुण्य पाप जब सिद्ध नहीं हुआ तब पुण्य पाप का कारण धर्म अधर्म भी सिद्ध न होगा। और धर्म अधर्म की अस्त दशा में तप, जप, योग, ज्ञान, ध्यान आदि क्रिया सब विडम्बना प्राय है, इत्यादि कुविकल्प करनेवाले चार्वाकों को समझना चाहिए कि पूर्वोक्त युक्ति बतानेवाला कोई पदार्थ चार्वाक के पास है या नहीं। और यदि है तो वह पदार्थ जड़रूप है या ज्ञानरूप ?। यदि जडरूप है तो जड में ऐसी शक्ति नहीं है कि आस्तिकों को नास्तिक बना सके। और यदि ज्ञानरूप कहा जाय तो जड़ से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होगा। क्योंकि चार या पांच भूतों से शक्ति उत्पन्न होने में जो दृष्टान्त दिया जाता है वह विषम दृष्टान्त है क्योंकि ताडी वगैरह पदार्थ में मदशक्ति तो होती है किन्तु पृथिव्यादि पदार्थों में ज्ञान गुण नहीं होता अतएव पञ्चभूतों से उत्पन्न होनेवाली शक्ति में क्या ज्ञान गुण दिखाई पड़ता है ?। तथा जो शक्ति हमारे तुह्मारे में है वह भी भिन्न स्वभाववाली दिखाई देती है; इसी तरह अन्य में भी अन्य प्रकारकी मालूम पड़ती है। अतएव वह शक्ति भूतों से सर्व प्रकार स्वतन्त्र माननी पड़ेगी, तथा कर्माधीन भी माननी होगी। क्योंकि विचित्र प्रकार के कर्मों से विचित्र स्वभाववाली देख पड़ती है। उसी शक्ति को आस्तिकलोग आत्माशब्द से कहते हैं। किन्तु यदि चार्वाक लोगों से प्रकारान्तर से पूछा जाय कि तुम लोग नास्तिक मत की दृढ़ता के लिये जो हेतु देते हो वह प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ?। अप्रामाणिक तो नहीं कहकसते, क्योंकि सारा कर्त्तव्य ही तुह्मारा अप्रामाणिक हो जायगा। और प्रामाणिक पक्ष में प्रश्न उठता है कि उसमें प्रमाण प्रत्यक्ष है या परोक्ष ?। परोक्ष प्रमाण को तो परलो-

कादि के मानने के डर से तुम नहीं मान सकोग। अब केवल प्रत्यक्ष बचता है। क्योंकि 'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः' यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानोगे तो वह तुह्मारा प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणीभूत है या नहीं, ऐसा कहने वालों को समझाना पड़ेगा। जो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणीभूत है तो कौन प्रमाणसे प्रमाणीभूत है ?; इस पर यदि कहोगे कि प्रत्यक्ष से, तो वह प्रत्यक्ष प्रमाणीभूत है, या नहीं; इत्यादि अनवस्थादोष आ जायगा; इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाण मानने के लिये अनुमान करना पड़ेगा, जैसे प्रत्यक्षं प्रमाणं, अव्यभिचारित्वात्, यदव्यभिचारि तत् प्रमाणं, यथा घटज्ञानम्, इत्यादि अनुमान का आधार, प्रत्यक्ष की प्रमाणता स्वीकार करने में लेना पड़ेगा। तो फिर जब अनुमान अनायास सिद्ध हुआ तो आत्मा पदार्थ भी सिद्ध होगया। क्योंकि–"अस्ति खलु आत्मा, सुखदुःखादि संवेदनवत्त्वात्, यः सुखदुःखादिसंवेदनवान् स आत्मा, यथा अस्मदाद्यात्मा" इत्यादि युक्तियों से आत्मसिद्धि होने के बाद, परदेहादि में भी आत्मा की सिद्धि होगी। तो फिर आत्मसिद्धि होनेके बाद परलोकादि की सिद्धि स्वाभाविक हो जायगी, और परलोकादि भी पुण्यपाप से सिद्ध हुआ तो धर्माधर्म भी सिद्ध ही है। धर्माधर्म की सत्त्वदशा में, तप, जप, ज्ञान, ध्यानादि सभी कृत्य सफल हैं। तिसपर भी इनको जो निष्फल कहते हैं उन्हें विचारशून्य कहना चाहिये। और जहाँ पर आत्मा पदार्थ सिद्ध है वहां पर अहिंसा का विचार युक्तिसिद्ध है। यद्यपि बहुत से लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं तथा बहुत से लोग इन्द्रिय को ही आत्मा मानते हैं। इत्यादि अनेक तरह के कल्पितमतजाल दुनियाँ में फैले हुवे हैं। जिनमें मछलियों की तरह भद्रिक लोग फसकर कष्ट को पारहे हैं। उन लोगों पर भावदया लाकर यथाशक्ति शुभ मार्ग दिखलाने की जो चेष्टा करता है वही पारमार्थिक परोपकारी है।

शरीर और इन्द्रियों को आत्मा माननेवाले वस्तुतः चार्वाक के संबन्धी हैं, क्योंकि शरीर को ही जो आत्मा मानते हैं उनसे यदि

पूछा जाय कि मृतावस्था में शरीर तो वैसाही बना रहता है किन्तु पहिले की तरह उसमें चेष्टा क्यों नहीं देखी जाती? । उसके उत्तर में वे लोग यदि यह कहें कि वैसी एक शक्ति का उसमें अभाव होगया है, तो उनसे यह पूछना चाहिये कि वह तुह्मारी शक्ति शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? । अभिन्न पक्ष का आश्रय नहीं लिया जा सकता । क्योंकि अभिन्न हो तो फिर मृत शरीर में भी वह शक्ति होनी चाहिये । भिन्न मानोगे तो वह शक्ति चिद्रूप है या अचिद्रूप ? । अचिद्रूप पक्ष मानने में, अहं सुखी, अहं दुःखी यह प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होगा । और यदि चिद्रूप मानोगे तो शब्दान्तर से शरीर से भिन्न आत्मा ही सिद्ध हुआ। अब इन्द्रिय को आत्मा मानने वाले का भ्रम दूर किया जाता है । इन्द्रिय को आत्मा माननेवालों के मत में जो सामुदायिक ज्ञान होता है अब वह नहीं होना चाहिये । अर्थात् मैंने सुना और मैंने देखा, तथा मैंने स्पर्श किया इत्यादि सामुदायिक प्रतीति आबालगोपाल को जो होती है वह नहीं होगी । क्योंकि सुननेवाला तो करणेन्द्रिय है और देखनेवाला चक्षुरिन्द्रिय है, तथा गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय है एवं रसलेनेवाला रसनेन्द्रिय है, और स्पर्श करनेवाला स्पर्शेन्द्रिय है । तो जब इन्द्रियादि ही आत्मा तुम्हारे मत में हैं तो तत्तत् इन्द्रियों से भिन्न भिन्न ज्ञान होना चाहिये किन्तु वैसा न होकर सामुदायिक ज्ञान होता है । अतएव इन्द्रियों का एक नायक आत्मा अवश्य होना चाहिये । ऐसा न हो तो मृतावस्था में इन्द्रियाँ तो नष्ट नहीं होती हैं किन्तु ज्ञान नहीं होता । उसका कारण वहां पर आत्मा का अभाव होनाही मानना पड़ेगा । क्योंकि आत्मा शरीर और इन्द्रियों को छोड़कर गत्यन्तर करता है इसलिये आत्मा इन्द्रिय नहीं है । किन्तु भिन्न ही है ।

वास्तविक में तो आत्मा नित्य है किन्तु कर्म के संबन्ध से जन्म मरणादि होने की अपेक्षा से अनित्य माना जाता है । जैनशास्त्रकार द्रव्यमात्र को उत्पाद स्थिति व्ययात्मक मानते हैं । आत्मा भी एक

सच्चिदानन्दमय द्रव्य है वह भी स्थिति उत्पाद व्यय शब्द का भागी होता है। स्थिति कहने से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अच्छेदी, अभेदी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है। उत्पाद, व्यय, जन्म मरणादि को लेकर आत्मा में पर्यायार्थिकनय स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि उनका अन्योन्य कार्यकारणभाव है। वही अनादि काल का व्यवहार चित्त में रखकर तत्त्ववेत्ताओं ने आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता और कायपरिमाण माना है किन्तु वास्तविक में उसमें कायपरिमाणत्व भी नहीं है क्योंकि वह तो अरूपी पदार्थ है। और परिमाण तो रूपी पदार्थ में ही होता है। आकाश में यह परिमाण जो माना जाता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु औपचारिक है। वैसे ही आत्मा का परिमाण नहीं है किन्तु कर्मरूप शृङ्खला से बँधे हुए शरीर का संबन्धी होने से शरीरी कहा जाता है। याने कायपरिमाण जो माना हुआ है सो युक्तियुक्त है। व्यापक परिमाण मानने से अनेक आपत्तियाँ आती हैं, क्योंकि व्यापक परिमाण मानने से घटपट के नाश के समय आत्मा को व्यापक होने से दुःख सुख होना चाहिये किन्तु होता नहीं है। इसका उत्तर यही है कि ज्ञान होने का नियम शरीर मानना, 'शरीरावच्छेदेन ज्ञानमुत्पद्यते' ऐसा मानने से भी ठीक नहीं होता है। क्योंकि मोक्षावस्था में शरीर नहीं है इस लिये ज्ञान नहीं होना चाहिये। और मृतावस्था में शरीर के रहने पर ज्ञान होना चाहिये। इसके उत्तर में कदाचित् यह कहा जाय कि मृतावस्था में आत्मा नहीं है, वाह ! व्यापक परिमाणवाला आत्मा जब सर्वत्र है तब मृत शरीर में क्यों न हो ? मोक्षावस्था में ज्ञान है या नहीं है ?। है तो वह हमको इष्ट है। वाह ! क्या कर्मों को छोड़ कर मुक्तिगामी जीव अज्ञान के भागी होते हैं, मुक्ति में ज्ञानादि यदि न मानाजाय तो पाषाण और मुक्तात्मा का भेद क्या होगा ?, इत्यादि अनेक आपत्तियाँ आत्मा के व्यापक मानने में आती हैं। अतएव औपचारिक कायपरिणाम आत्मा में मानना ही उचित है, उस आत्मा के

दुःखी या क्लेशी अथवा प्राणमुक्त करने से हिंसा होती है। उस हिंसा का त्याग रूप अहिंसा धर्म संपूर्ण प्राणियों को शुभावह है।

बहुत से लोग तो केवल शब्दशास्त्र को ही पढ़कर अपने को बड़ा पण्डित मानते हैं, उनसे कोई जिज्ञासु पुरुष पूछे कि– हे महाराज ! जैनधर्म कैसा है ? तो उसके उत्तर देने के लिये और अपने पाण्डित्य की रक्षा करने के लिये तथा संसार समुद्र की वृद्धि करने के लिये जैनधर्म का स्वरूप न जानकर कहते हैं कि ईश्वर को जैनी लोग नहीं मानते हैं, और आत्मा को अनित्य मानते हैं, तथा श्राद्धादि कृत्यों को भी वे लोग मिथ्या मानते हैं। इत्यादि अपने मन का जवाब देकर जिज्ञासु मनुष्यको उसकी कल्याणेच्छा से अस्त व्यस्तकर देते हैं। ऐसी उनलोंगों कि बनावटें अब भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती हैं।

पाठक महाशय ! जहां तक जैनशास्त्र नहीं देखा जायगा और पक्षपात रूप चश्मा नहीं हटाया जायगा वहाँ तक धर्मक्रिया भी विडम्बना रूपही है; जैनोंने रागद्वेषादि अठारह दूषण रहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय, शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन, वीतराग देव, जो कि अर्हन् अरिहन्तादि शब्दों से प्रसिद्ध है उसी को ईश्वर माना है। आत्मा के संबन्ध में जैन शास्त्रकारों ने जो खोज की है वह दूसरे दर्शनों मे कहीं भी देखने में नहीं आती है। जैनों का नित्यानित्य का स्वरूप जो पक्षपातरहित देखा जाय तो अवश्य ही एकान्तपक्ष बुद्धिमानों से तिरस्कारदृष्टि से देखा जायगा।

आत्मा मूलरीति से नित्य है किन्तु जन्म मरणादि धर्मों को लेकर नये नये पर्यायान्तर को धारण करता है इसलिये अनित्य दिखलाया है। सापेक्षित आशयों को न जानकर जो पण्डितलोग अण्ड बण्ड कहने को साहस करते हैं वह उनकी बड़ी भारी भूल है। हिंसा कर्म से युक्त श्राद्धादि जो है उसको ही जैन नहीं मानते हैं, इतनाही नहीं, किन्तु उस श्राद्ध करनेवाले को भी निषेध करते हैं। यथा–

“ एकस्थानचरोऽपि कोऽपि सुहृदा दत्तेन जीवन्नपि

प्रीतिं याति न पिण्डकेन, तदिदं प्रत्यक्षमालोक्यते ।
जातः क्वाप्यपजीवितश्च किल यो, बिभ्रन्नलक्षां तनुं
मुग्धैः श्वेव स तर्प्यते प्रियजनः पिण्डेन कोऽयं नयः"?॥१॥

भावार्थ-एक स्थान में रहनेवाला हो तथा जीता भी हो तो भी वह मित्र के दिये हुए कल्पित अन्न से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है । यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है, अर्थात् स्वयं भोजन करने से ही तृप्ति होती है । मृत्यु पाकरके कहीं पर उत्पन्न भये हुए तथा परोक्ष शरीर को धारण करनेवाले प्रियजन अर्थात् माता पितादि कुत्ते की माफिक मूर्ख लोगों से भोजन कराकरके तृप्त किये जाते हैं । यह कौनसा न्याय है ? । दूसरी बात यह है कि मांस बिना श्राद्धक्रिया ठीक नहीं होती है वैसीही कल्पित युक्तियाँ देकरके ब्राह्मणों की मांसद्वारा तृप्ति की जाती है । किन्तु ऐसे श्राद्ध करने की सम्मति कौन धर्मप्रिय देगा ? । एक दफे ऐसा हुआ था कि पिताके श्राद्ध के रोज पुत्र ने एक भैंसा खरीदा, जोकि पिता का जीव था, उसको मारकर उसने श्राद्ध किया और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया उसके बाद खुद जब भोजन करने बैठा, तब एक ज्ञानी महात्मा भिक्षा के निमित्त वहाँ गये किन्तु महात्मा जी भिक्षा न लेकर ही चले गये, इससे वह श्राद्ध करनेवाला मुनि जी के पीछे चला और पैरपर पड़कर बोला कि हे पूज्य-वर्य ! मेरे घर पर आप पधार कर भी विना भिक्षा लिये ही क्यों चले आये ? । मुनि ने शान्त स्वभाव से तब जवाब दिया कि जहां मांसाहार होता हो वहां से भिक्षा लेनेका मुनियों का आचार नहीं है । मुझे तुह्मारे घर में आने से वैराग्य की वृद्धि हुई है । तब उसने कहा कि मेरे घर जाने से आपकी वैराग्य वृद्धि का क्या कारण है सो कृपाकरके कहिये । उसके उत्तर में मुनि ने उपकारबुद्धि से कहा कि जिसका श्राद्ध तुमने किया है उसी का जीव जो महिष था उसे तुमने मारा है । और जो कुत्ती मांसमिश्रित हड्डी को खाती है वह तेरी माता है, और जिसको तूं गोद में बैठा कर मांसयुक्त कवल देता है वही तेरा

पक्का दुश्मन है इत्यादि कारणों को देख करके मुझे वैराग्य हुआ है। तब उसने कहा कि यह बात सत्य है कि नहीं इसमें निश्चय कैसे हो ? । मुनि ने कहा कि कुत्ती जहां ज़मीन खनती है वहां पर द्रव्य है अर्थात् कुत्ती तुझे गडा हुआ धन बतावेगी । कुत्तों के स्वभावानुसार कुत्तीने उस जमीनको खनडाला, तदनन्तर उसमें से द्रव्य प्राप्त हुआ । और उसको निश्चय हुआ कि श्राद्ध करने से यह अनर्थ हुआ। अर्थात् हिंसा हुई । श्राद्ध करने से पिता को पहुँचता है यह बात झूठी है क्योंकि अपना किया हुआ ही अपने को मिलता है। श्राद्धादिकृत्य स्वार्थान्ध मनुष्योंने अपनी जीविका के लिये ही चलाया है । यह समझकरके, उसने प्रतिज्ञा की कि आज से कभी श्राद्ध नहीं करना। यह बात जान करके भी मांसाहार के लोलुप बहुत से ब्राह्मणाभासों ने मिलकर विचार किया कि श्राद्ध में साधुओं को भिक्षा नहीं देनी चाहिये । जो बात आज भी पर्वदेश में प्रचलित है । कूर्मपूराण में लिखा है कि अतिथि–साधु वगैरह को भोजन कराकर श्राद्धकरनेवाले को भोजन करना चाहिये । तथा उनको न खिलाकर खानेवाले को बड़ा पातक कहा है।

यथा–

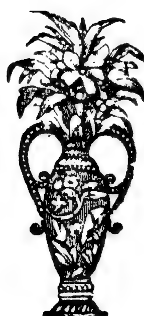
"भिक्षुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थितः।
उपविष्टस्तु यः श्राद्धे कामं तमपि भोजयेत् ॥ १ ॥
अतिथिर्यस्य नाश्नाति न तत् श्राद्धं प्रशस्यते।
तस्मात् प्रयत्नात् श्राद्धेषु पूज्या ह्यतिथयो द्विजैः ॥ २ ॥
आतिथ्यरहिते श्राद्धे भुञ्जते ये द्विजातयः।
काकयोनिं व्रजन्त्येते दाता चैव न संशयः ॥ ३ ॥

कूर्मपुराण २२ अध्याय पृ० ६०८

वर्तमान समय में उपरोक्तलेख से विपरीत ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। अतएव पूर्वोक्त बात से श्राद्ध में साधुओं को भिक्षा न देने की प्रवृत्ति चलाई गई है।

अब अन्त में जैनलोग ईश्वर तथा आत्मा इत्यादिको पूर्वोक्त रीतिसे मानते हैं किन्तु श्राद्धको नहीं मानते । क्योंकि अहिंसा से उत्पन्न होनेवाला धर्म क्या हिंसासे हो सक्ता है ?। जलसे उत्पन्न होनेवाला कमल क्या अग्निसे हो सकता है ? । मृत्युदेनेवाला विष अगर जीवनबुद्धिसे खाया जाय तो क्या वह जीवन दे सकता है ? वैसेही पापका हेतुभूत वध क्या कथनमात्रसे अवध हो सकता है ?।

सज्जनो ! अपने अन्तःकरण में मैत्री भावको धारण करो, भ्रातृभावशब्द को आगे करके कितनेही लोग मैत्री को भूल गये हैं। भ्रातृभाव यह है कि मनुष्यों के साथ प्रेमभाव रखना, और क्षुद्र-जन्तुओंसे लेकरके इन्द्रतक प्रेमभाव को ही मैत्रीभाव कहते हैं जब इस मैत्रीभाव को याद करोगे तबही तो मांसाहार छूटेगा और मांसाहार के छूट जाने पर ही वास्तविक में परमेश्वर के भक्त बनोगे ॥



मांसाहारनिषेध के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के अभिप्रायों का संग्रह।



(१)

अंग्रेजी के प्रसिद्ध विश्वकोश इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में मांसाहारपरित्याग के विषय में जो कुछ लिखा है उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

" मांसाहार परित्याग के लाभ अनेक बतलाये जाते हैं जिनमें प्रसिद्ध केवल ये ही हैं-

(१) स्वास्थ्यसम्बन्धी लाभ—जो लोग मांसाहार करते हैं संभव है कि उन्हें वे रोग पकड़लें जो कि उस पशुके शरीरमें रहे हों जिसका मांस वे खाते हैं। इसके अतिरिक्त जो पशु अपने नैसर्गिक भोजन घासके अतिरिक्त और २ पदार्थ खाते हैं उनका मांस खानेवाले बहुधा गठिया, वात, पक्षाघात प्रभृति वात-विकारोंसे उत्पन्न हुए रोगों से आक्रान्त होते हैं।

(२) अर्थ शास्त्र सम्बन्धी लाभ- फलाहार की अपेक्षा मांसाहार अधिक खर्चीला होता है। जितने में दो चार आदमी खा सकते हैं मांसाहार की व्यवस्था करने से उतनेमें एक आदमीको भी पूरा नहीं पड़ेगा।

(३) सामाजिक लाभ- एक एकड़ भूमि में धान, गेहूँ आदि बोये जाँय तो उसमें उत्पन्न हुए अन्नको जितने मनुष्य भोजन कर सकेंगे वही पैदावार यदि आहारोपयोगी पशुओंको खिला दी जाय तो उन पशुओंके मांस से उतने मनुष्यों का पेट नहीं भरेगा। जैसे, मान लीजिये कि एक एकड़ भूमि में सौमन धान पैदा हुआ उसे एक मनुष्य सालभर अपने सारे परिवारवर्गों के साथ खाता है लेकिन यदि हम दस पशु पालते हैं और उनके लिये उतनी भूमि निकाल दी है तो देखते हैं कि वे जानवर शीघ्रही उसे खा जाते हैं और उनके मांससे एक आदमी का भी साल भर तक भोजन निर्वाह होना मुश्किल है।

(४) जातीय उन्नति—सभी सभ्य जातियों का यह उद्देश्य होना चाहिये कि हमारी जाति में अधिक परिश्रमी, और कार्यक्षम व्यक्ति उत्पन्न हों

और उनकी संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि हो यह तभी संभव है जब कि लोग अधिक शाकाहार करें। ऐसा करने से यह होगा कि ज्यों २ निरामिष भोजन करनेवालों की संख्या बढ़ेगी त्यों २ कृषक लोग अधिक परिश्रम करके अन्न उत्पन्न करनेकी चेष्टा करेंगे और इस प्रकार से उस जाति या समाज में अधिक परिश्रमी लोग उत्पन्न होंगे।

(५) चारित्रिक उन्नति—जिस मनुष्य में साहस, वीरता और निर्भयता आदिके गुण आरम्भ में आ चुके हों उसे उचित है कि ज्यों २ उसका ज्ञान बढ़ता जाय त्यों २ मनुष्यता सीखे और पीड़ित जीवोंके साथ सहानुभूति करनेका अभ्यास पैदा करे। अतएव चूँकि निरामिष आहार करने से, मांसाहारद्वारा पशुओं पर जो अत्याचार किया जाता है और उन्हें पीड़ा पहुँचायी जाती है वह दूर हो जायगी इसलिये मांसाहारकी प्रवृत्तिका अवरोध करनाही सर्वथा उचित है।

(२)

खोराक, आरोग्य और बल.

लंडनकी काउन्टीकौंसिलका प्रयोग.

इ० स० १९०८ में 'लंडन वेजीटेरियन एसोसीएशन' के सेक्रेटरी मिस, एफ, आइ, निकलसनने १०००० लड़कोंको छ महीने तक वनस्पति के खोराक पर रक्खा था, और 'लंडन काउन्टीकौंसिल' ने इतनेही लड़कोंको छ महीने तक मांसाहार पर रक्खा था. छ महीने पश्चात् इन दोनों विभाग के बालकों की परीक्षा वहाँ के वैद्यकशास्त्रके जाननेवाले विद्वानोंने की थी, और उसमें यह सिद्ध हुआ था कि 'वनस्पति के आहार करनेवाले बालक मांसाहारी बालकों से अधिक तन्दुरुस्त, वजन में विशेष, और स्वच्छ चमड़ीवाले थे'

'लंडन काउन्टीकौंसिल' की विनती से उसी के प्रबन्धमें लंडनकी 'वेजीटेरियन एसोसीएशन सभा' लंडन के हजारों गरीब बालकोंको वनस्पति के आहार पर रखती है।

(३)

प्रॉ. एच. शाफहोझेन महाशय कथन करते हैं कि मांस खाने का स्वभाव यह कोई मनुष्य की मूल प्रेरणा नहीं है कारण कि पूँछ रहित बन्दरों की भाँति वह उसके दाँतों पर से मेवा खाने वाला है और इसी लिये मांस खाने के वास्ते तो उत्पन्न ही नहीं हुआ है.

(४)

डा. सिल्वेस्टर ग्रेहाम महाशय कहते हैं कि– शरीर संबन्धि बनावट के मुकावले की विद्या सिद्ध करती है कि मनुष्य स्वाभाविक रीति से फकत अन्न, फल, बीज. मेवा और अनाज के दानों के ऊपर निर्वाह करने वाला प्राणी है.

(५)

प्रमाणभूत डॉक्टरों का ढंढोरा (उद्घोषणा)

बहुत दफे ऐसा पूछा जाता है कि, वेजीटेरियन याने अन्न, फल और वनस्पति के भोजन के विषय में कौनसे प्रसिद्ध डॉक्टरों का मत है? उनलोगों के लिये यह जाहेर सूचना बहुत ही उपयोगी होगी. यह सूचना प्रसिद्ध डॉक्टरों ने प्रकट की है, और लंडन के पत्रों में भी छपी थी, इन डॉक्टरोंने स्वयं वेजिटेरियन भोजन पर रह करके अपने रोगियों पर प्रयोग करने के पश्चात् ही प्रसिद्ध किया है कि 'मनुष्यों की संपूर्ण तन्दुरस्ती के लाभ को अत्यन्त उपयोगी खोराक वेजीटेरियन है, न कि मांस मछली का।

" हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले डॉक्टरों ने वेजीटेरियनीझम याने अन्न, फल, वनस्पति के खोराक को विद्याकी सूक्ष्मता से अन्वेषण किया है और उनके मूल तत्वोंको अनुभव में लेनेके बाद यह सूचना करके प्रसिद्ध करते हैं कि-- ' वेजीटेरियन खोराक की रूढि विद्याके दृढ़ सिद्धान्त पर रची हुई है इतना ही नहीं किन्तु वह मनुष्य की जिन्दगी को उत्तम दशा की ओर लेजानेवाली है।

अन्न, फल, वनस्पति का खोराक, शरीर के बन्धनों को उपयोगी तत्त्व देता है, और रसायनिक तथा पदार्थ--विज्ञान शास्त्र की प्रयोगशाला के प्रयोगों पर से नहीं किन्तु बहुत से मनुष्योंने नियमित रीति से जी करके अपने उदाहरण से ऐसा सिद्ध कर दिखाया है कि, वे तत्त्व, मांस में से मिलते हुए तत्त्व से बहुत ही शिघ्र पाचन होते हैं।

हम वेजीटेरियनीझम को, विद्या की दृष्टि से संपूर्ण और संतोषकारक रूढि कहते हैं, तदुपरान्त पशु और जानवर दुःखों के आधीन होते हैं इस बात को ध्यान में लेनेसे और अन्न, फल, वनस्पति में से प्राप्त होनेवाले भोजन का स्वच्छ हाल देखने से निश्चय से मानते हैं कि मांसका भोजन छोड़ देनेसे तंदुरुस्ती को लाभ होता है तथा सुन्दरता की दृष्टिसे देखने से वेजीटेरियन भोजन अत्यन्त ऊँचे दरजे का है "।

(इस सूचना में तेरह हस्ताक्षर देखने में आते है ।)

रोबर्ट बेल, एम, डी.
जीयोर्ज ब्लेक, एम, बी, (एडिन)
ए, जे, एच, केस्पी, एम, आर, सी एस.
एच , एच , एस, डोरमन, एम, डी.
ओगस्टस जोन्स्टन, एम, बी, आर, सी, एस.
एच, वेलेन्टाइन, नेग्स, एम, आर, सी, एस. एल, आर, सी, पी.
ओल्बर्ट प्रेसवेल, एम, ए, एम, डी.
रोबर्ट, एच. पर्क्स, एम, डी, एफ, आर, सी, एस.
वोल्टर आर, हेडवेन, एम,डी,एल, आर, सी, पी, एम, आर, सी, एस.
जे, स्टेन्सन हुकर, एम, डी.
ओफ्रेड बोल्सेन, एम, डी.
जोन रीड, एम. बी. सी. एम.
ज्योर्ज बी, वोल्टर्स एम, डी.

(६)

प्रमाणभूत रसायन शास्त्रिओं का ढँढोरा.

उपरोक्त ढँढोरे के उपरान्त एक दूसरा ढँढोरा सायन्टिस्टो का है जो कि अन्न, फल, वनस्पति के खोराक की लोगों में प्रचार करने की कोशिश करते हैं, क्योंकि यह खोराक मजबूती और तन्दुरस्ती को देनेवाला तथा सस्ता भी है, यह सूचना इस तरह की है:—

" प्रजाकी शारीरिक हानि की नोंधके लिये ' इन्टर-डिपार्टमेन्टल ' कमेटी नियत की थी, उसीके रीपोर्ट में जो मत दिया है उसको हम लोग अनुमोदन देते हैं कि-- शरीर के बन्धनों को बिगाडनेवाले बहुत कार्यों में एक खास कारण ' खराब रीति से लिया हुआ और संपूर्ण जत्थे में नहीं लिया हुआ भोजन है ' और यही रीति शराब पीने को प्रेरणा करती है ।

पुनः इस रीपोर्ट द्वारा, मालूम होता है कि-- खोराक को बराबर रीति से तैयार करने में बहुतसा अज्ञानपना देखने में आता है जो खोराक थोडे खर्च में संपूर्ण पोषण देता है वह खोराक ज्ञानसे बहुत दुःख कम हो, इस लिये लंडन के दूसरे शहरों के लार्डमेयरो, और मेयरो, विगैरह को ऐसे ज्ञानके प्रचार करने के लिये सूचना करते हैं ।

इस में खोराक की मांसरूढी की हिमायत नहीं करके कहते हैं कि-- गेहूँ

का आटा, जव, चावल, मकई, मटर, दाल, सुखा मेवा, ताजी और सुखी फ्रुट, हरी वनस्पति विगैरह "वेजीटेरियन खोराकों की करकसर की रीतिसे और पुष्टि देनेवाली बाबत में, वास्तविक तत्त्वकी योग्यता पहेचानना सिखलाओ, क्योंकि इस अन्न, फल, वनस्पति के खोराक के उपयोग से समस्त वर्गकी तन्दुरस्ती बढ़ा सकोगे"

इस सूचना में प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त और भी हस्ताक्षर हैं:–

सर जेम्स, क्रिचटन ब्राउन, एफ, आर, एस.
सर विल्यम, क्रुकस, एफ, आर, एस.
सर लोडर ब्रान्टन एफ, आर, एस.
डॉ. रोबर्ट हचीन्सन.
डॉ. जॉन वरडो एफ, आर, एस.
डॉ- राबर्ट मीलर.
मि. एडवर्ड वेरडो.
डॉ. डब्ल्यु, आर, स्मिथ.
मि. ए, डी, क्रीप, के, सी, वी, ओ, सी, वी.
मि. डब्ल्यु, वी, तेगेटमीयर एफ, एल, एस.
मि. ए, पियर्स गोलल्ड.
डॉ. सीम्स वुडहेड.
मि. ज्यॉर्ज हेन्डसलो.
सर. म्युअल, विल्कस, वेरोनेट, एफ, आर, एस.

(७)

बेरन क्युवियर महाशय कहते हैं कि–मनुष्य संबन्धि शरीर की बनावट हरएक सूक्ष्मता में, फकत अन्न-फल-शाक के भोजन के लिये योग्यता सिद्ध करती है. यह ठीक है कि मांस के भोजनको छोड देने के लिये इतना कठिन प्रतिबन्ध लेने में आता है कि कितनेक मनुष्य कि जो कठिन मनवाले नहीं होते हैं वे कदाचित ही तिसको हटा सकते हैं परन्तु यह कोई उसके पक्ष में जाने वाला सिद्ध नहीं हो सकता है, इस भाँति तो एक मेंढे को नाविकों ने कितनेक समयतक मांसाहार पर पाला था उस मेंढे ने मुसाफरी पूरी होने पर अपने स्वाभाविक भोजन (शाकाहार) लेने की मनाइ की और इसी भाँति घोडे, कुत्ते और कबूतरों के भी उदाहरण मिलते हैं कि जिन्हों ने दीर्घकाल तक मांसाहार करने पर भी अन्त में अपने स्वाभाविक भोजन के मिलने पर मांसाहार के भोजन पर तिरस्कार दिखलाया ।

(८)

प्रो० लीनियस कहते हैं कि- मेवा फल और अनाज का भोजन मनुष्य के लिये सबसे विशेष योग्यता वाला है कि जो चौपायों, 'एनालोजी' के नियमों, जंगली मनुष्यों को, बन्दरों, मुख होजरी और हाथों का बनावट पर से सिद्ध होती है।

(९)

प्रॉ. सर रीचर्ड ऑवेन महाशय कथन करते हैं कि- बन्दरों को कि जिसके साथ दांत की बनावट में सब प्राणियों की अपेक्षा विशेष रूपसे मनुष्य मिलता आता है वे, फल, अनाज, गुठली वाले फलोंके बीज और दूसरे आकार कि जिसमें वनस्पति-वर्ग के सबसे पुष्टिकारक और रसकसवाले सोष्ट-रम धारण करनेवाले तत्त्व आते हैं वैसी वस्तुओं में से अपने नियमित भोजन को प्राप्त करते हैं और मनुष्यों और वन्दरों के दांतों के बीच का घनिष्ठ संबन्ध सिद्ध करते हैं कि मनुष्य दुनियां के प्रारम्भ काल से ही बगीचे के दरखतों के फल खांने के लिये ही उत्पन्न किये गये थे.

(१०)

प्रो. पीयरगेसेन्डी-कि जो सतरमीसदी के सब विद्वानों से श्रेष्ठ और सबसे नामाङ्कित तत्त्वज्ञानी होगये हैं वे कहते हैं कि-. मैं यहां पर पुनः कहता हूँ कि अपने स्वभाव की असली बनावट के उपर से अपने दांत मांसाहार करने के लिये नहीं परन्तु फकत मेवा खाने के लिये बनाये थे.

(११)

जगत्प्रसिद्ध महान् विद्वान् चार्ल्स डारविन स्पष्ट रीति से कहते हैं कि- उस काल में और उस स्थल में (फिर चाहै जो काल और जो स्थान हो) कि जब मनुष्य ने पहले पहल अपने बलका ढकना नष्ट करदिया तब वह अनुमान से गरम देशका रहनेवाला था यह वृत्तान्त फल फलादिकी तर्फ जाता है कि जिस फल फलादि के भोजन पर मुकाबले के नियम द्वारा अन्वेषण करते हुए वह उस समय निर्वाह करता था।

(१२)

प्रॉ. सर चार्लस बेल, एफ. आर. एस. महाशय कहते हैं कि- मेरा ऐसा अनुमान है कि इस भाँति कथन करने में जरा भी आश्चर्य नहीं है कि मनुष्य की बनावट के साथ संबन्ध रखने वाला हरएक वृत्तान्त सिद्ध कर देता है कि मनुष्य मूल से ही फ्रुट-फल खाने वाला प्राणी तरीके उत्पन्न हुआ था. यह मत दांतों और पाचन करने वाले अङ्गों की बनावट परसे तथा चमडी की बनावट तथा उसके अवयवों की रचना के ऊपर से मुख्य करके बनाने में आया है।

श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला में आजतक छपकर प्रकाशित हुए ग्रन्थों का सूचीपत्र ।

१.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	०-८-०
२.	हैमलिङ्गानुशासन	०-५-०
३.	सिद्धहेमशब्दानुशासन लघुवृत्तिसहित	३-०-०
४.	रत्नाकरावतारिका—दो परिच्छेद	१-०-०
५.	सिद्धहेमशब्दानुशासन—मूलमात्र	०-५-०
६.	मुद्रितकुमुदचन्द्रप्रकरण	०-८-०
७.	क्रियारत्नसमुच्चय—श्रीगुणरत्नसूरिविरचित	२-०-०
८.	श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनसूची	०-४-०
९.	कविकल्पद्रुम—हर्षकुलगणिरचित	०-४-०
१०.	सम्मतितर्काख्यप्रकरण - प्रथमखण्ड	३-०-०
११.	श्रीजगद्गुरुकाव्य	०-४-०
१२.	श्रीशालिभद्रचरित्र—टिप्पणसहित	१-४-०
१३.	श्रीपर्वकथासंग्रह—प्रथम भाग	०-४-०
१४.	षड्दर्शनसमुच्चय—राजशेखरसूरिकृत	०-४-०
१५.	शीलदूतकाव्य—चारित्रसुन्दरगणिकृत	०-४-०
१६.	निर्भयभीमव्यायोग—श्रीरामचन्द्रसूरिकृत	०-४-०
१७.	श्रीशान्तिनाथचरित्र—श्रीमुनिभद्रसूरिविरचित	३-०-०
१८.	रत्नाकरावतारिका—रत्नप्रभाचार्यकृत संपूर्ण	३-०-०
१९.	उपदेशतरङ्गिणी पत्राकार	३-०-०
२०.	न्यायार्थमञ्जूषा	३-०-०
२१.	गुरुगुणरत्नाकरकाव्य	०-८-०
२२.	विजयप्रशस्तिमहाकाव्य	५-०-०
१.	जैनतत्त्वादिग्दर्शन (हिन्दी भाषा)	०-२-०
२.	जैनशिक्षादिग्दर्शन ,,	०-२-०

मिलने का पता— हर्षचन्द भूराभाई

अंग्रेजीकोठी बनारस सिटी.

जैनसुधाबिन्दु ॥

पचा[redacted] भाग ॥

जिसमें स्वामीदयानन्द सरस्वती कृत प्रथमावृत्ति सत्यार्थ
प्रकाशान्तरस्थ द्वादश समुल्लास का यथार्थ रूप
खण्डन किया गया है ॥

जिसको

श्री परमपूज्य जक्त विख्यात अनेक महत पदालंकृत चौधरी
माणिकचन्द्र जी तत्पुत्र चौधरी सुमेरुचन्द्र जी तत्रात्मज
परम विद्वान ज्योतिष रत्नदिवाकर जैनधर्म्मानुरागी
सुज्ञ विज्ञ श्रीयुत पण्डित जीयालाल जी चौधरी
रईस फ़र्रुखनगर ज़िला गुरगांव ने लिखा ॥

और

फर्रुखनगर चित बिनोद पुस्तकालय के मैनेजर साहिब ने
हनुमत्प्रास कालाकांकर में छपा कर प्रकाशित किया ॥

(भूमिका)

अथ श्रीजैनसुधाबिन्दु लिख्यते ॥

दोहा—जयति जयति आदीश प्रभु गुण अनन्त भंडार ।
तुव पदरज शिर धार भवि उतरे भव दधि पार ॥ १ ॥
दयानन्द की योग्यता पक्षपात हठ द्वेष ।
सुधाबिन्दु को देखिये संशय रहै न शेष ॥ २ ॥

विदित हो कि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन समय में जितने ग्रन्थ लेखादि प्रकाशित किये उन पर नाम मात्र संक्षिप्त समालोचना तो पुस्तक "दयानन्द छल कपट दर्पण,, के प्रथम भाग मेंही लिखी गई है और "सत्यार्थ प्रकाश,, वा अन्यान्य स्वामी जी रचित जितनी पुस्तक हैं उन सब का यथार्थ उत्तर उक्त पुस्तक के दूसरे भाग में लिखा गया है, परन्तु वह पुस्तक आकार में बहुत बढ़ गई है, जिसके छपने में यथार्थ द्रव्य व्यय करने का अभाव समझ कर हम यह उचित समझते हैं कि उक्त पुस्तकांतरगत जो लेख नवीन और पुराचीन "सत्यार्थ प्रकाश,, के द्वादश समुल्लास के उत्तर में है, और उस लेख का केवल जैनी लोगोंही से सम्बन्ध है, "जैनसुधाबिन्दु,, नाम से जुदा पुस्तकाकार थोड़े से व्यय में मुद्रित करा कर प्रकाशित किया जाय जिस से "सत्यार्थ प्रकाश,, द्वादश समुल्लास के खण्डन के अभिलाषी जैनियों को निराश होना वा अधिक समय के लिये विलम्ब सहना न पड़े, और रसिक गण इससे यथार्थ लाभ उठावें, इसलिये इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध द्वारा प्रथम वार के छपे और उत्तरार्द्धद्वारा दूसरी तीसरी वार के छपे "सत्यार्थ प्रकाश,, के द्वादश समुल्लास में जो लेख है उसका यथार्थ उत्तर दिया जाता है, आशा है कि पाठक गण सत्यासत्य का निर्णय कर प्रसन्न होंगे। और जो लेख "सत्यार्थ प्रकाशांतरगत स्वामी जी का हम लेवेंगे,, उसकी आदि में (द) और अपनी समीक्षा की आदि में (स) यह सम्बोधन का चिन्ह लिखेंगे पाठक गण इसी पर ध्यान देवें । किंबहुना ॥

फ़र्रुख़नगर ज़िला गुरगांव
कार्तिक शुक्ला० ५ भृगुवासरे
सम्वत् १९५१ विक्रमी

भवदीय सदसद विवेकी
पण्डित जीयालाल चौधरी

अथ जैनसुधाबिन्दु पूर्वार्द्ध भाग लिख्यते ॥

दोहा—आदि जनेश्वर युगल पद बन्दूं शीश नमाय।
जैनसुधा की बून्द का देवहु पान कराय ॥ १ ॥
दयानन्द निज ग्रन्थ में निन्दे धर्म्म अपार।
जैन विषय जो लेख है तसु उत्तर यह सार ॥ २ ॥

प्रथम वार के छपे "सत्यार्थ प्रकाश,, पृष्ट ३९६ पंक्ति १ से ४ तक में स्वामी जी लिखते हैं ॥

(द) अथ जैन मत विषया व्याख्यास्यामः ॥ सब सम्प्रदायों से जैन का मत प्रथम चला है, उसको साढ़े तीन हज़ार वर्ष अनुमान से भये है, सो उनके २४ तिर्थङ्कर अर्थात् आचार्य्य भये हैं, जैनेन्द्र, परशनाथ, ऋषभदेव, गोतम और बौधादिक उनके नाम हैं।

(स) "सत्य को जड़ हरी,, प्यारे पाठक गण! सत्य भी कैसा स्वभाविक गुण वाला अनमोल रत्न है, जिसकी गन्ध त्रैलोक्य में फैल रही है, देखो सर्व सम्प्रदायों से प्रथम होना जैन का स्वामीजी भी स्वतः स्वीकार करते हैं, "सराहो सराहिये जो वैरी करे बखाण,, परन्तु उक्त स्वामी जी का यह लिखना कि जैनी साढ़े तीन हज़ार वर्ष से हैं, प्रमाण रहित मनोक्त और सर्वथा व्यर्थ है, और इसी कारण स्वामी जीने दूसरी तीसरी वार के छपे "सत्यार्थ प्रकाश,, में इसको नहीं लिखा, और जैनेन्द्र, परशनाथ, गोतम, बोध, यह नाम जैनियों के चौबीसों तिर्थङ्करों में से किसी के भी नहीं, यह लिखना भी स्वामी जी का स्वकपोल कल्पना और सर्वथा झूठ है ॥

फिर पृष्ट ३९६ पंक्ति ४ से २२ तक यह लिखा है ॥

(द) उन्ने अहिंसा धर्म्म परम माना है इस विषय में वे ऐसा कहते हैं कि एक बिन्दु जल में अथवा एक अन्न के कण में असंख्याते जीव हैं, उन जीवों के पांख आजायँ तो एक बिन्दु और एक कण के जीव ब्रह्माण्ड में न समावें इतने हैं इससे मुख के ऊपर कपड़ा बांध रखते हैं, जल को बहुत छानते हैं, और सब पदार्थों को शुद्ध रखते हैं और ईश्वर को नहीं मानते ऐसा कहते हैं कि जगत् स्वभाव से सनातन है, और सिद्ध होता है तब उसका नाम केवली रखते हैं और उसीको ईश्वर मानते हैं, अनादि

ईश्वर कोई नहीं है किन्तु तपोबल से जीव ईश्वर रूप हो जाता है, जगत् का करता कोई नहीं जक्त अनादि है जैसे घास वृक्ष पाषाणादिक पर्वत बनादिकों में आपसे आपही होजाते हैं ऐसे पृथिव्यादिक भूत भी आपसे आप बन जाते हैं, परमाणु का नाम पुद्गल रक्खा है जो पृथिव्यादिकों को पुद्गल मानते हैं, जब प्रलय होता है तब पुद्गल जुदे जुदे होजाते * और जब वे मिलते हैं

---

* जितने लेख के नीचे लकीर खेंची गई है उसकी पुष्टी के लिये स्वामी जी अपने ४ नवम्बर सन् १८८० ई० के पत्र में आत्मा राम जीको लिखते हैं कि "मैंने ठाकुरदास जीके जवाब में एक पत्र आर्य्यसमाज गुजरान वाला की मारफ़त भेजा था जो आप के पास भी पहुँचा होगा उसमें यह जतलाया गया है कि जैन बौद्ध दोनों एकही हैं, और इसमें स्वामी जी पुस्तक "रत्नसार,, पृष्ट ६५ पं० १३ तथा पृष्ट ११३ पं० ७ पृष्ट १३७ पं० ८ पृष्ट१३८ पृष्ट १५२ पं० १४ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि इस तरह आपके ग्रन्थों में कथा साफ़ साफ़ मौजूद हैं जिसको कोई श्रावक बखि-लाफ़ न कर सकेगी. और ठाकुरदास की पहिली चिट्ठी में आप लोग कई श्लोक मंजूर कर चुके हैं, तत्पश्चात् स्वामी जी राजा शिवप्रसादरईस बनारस कृत इतिहास तिमिरनाशक की भूमिका से जैन बौद्ध को एक बतलाते हैं सो प्रथम तो "रत्नसार,, ग्रन्थ जैनियों का कोई सूत्र सिद्धान्त नहीं है दूसरे उसका यथार्थ आशय स्वामी जी की समझ में भी नहीं आया और जो वाक्य स्वामी जीने ठाकुरदास के विषय लिखे उसके उत्तर में ठाकुरदास अपनी २२ नवम्बर सन् १८८० ई० की चिट्ठी में लिखते हैं कि "भला स्वामी जी मैंने किस पत्र में स्वीकार लिया है ऐसा झूठ बोलना छल करना आपको किसने सिखलाया आप इसी प्रकार धोखेबाज़ी करते हैं,,. और राजा शिवप्रसाद जी का पत्र जो 'दयानन्द छल कपट दर्पण' प्रथम भाग में छपा है उससे स्पष्ट स्वामी जी का यह कहना मिथ्या सिद्ध होता है कि जैन बौद्ध एकही हैं॥

किसी भी विद्वान ने नहीं माना, इससे स्वामी जी का तर्क व्यर्थ है जो मोक्ष में जाकर भी जीव लौट आया तो मोक्ष क्या हुई स्त्री का पीहर होगया जब मन चाहा चली गई पति याद आया सासरे लौट आई। और स्वामी जी उस मुख वस्त्रिका पर तर्क करते हैं जो ढूंढ़िये लोग मुख पर रखते हैं, इससे स्वामीजी का व्यर्थ द्वेष सिद्ध होता है, क्योंकि व्यर्थ रज जन्तु आदि के बचाव के लिये ऐसा करने में कुछ हानि नहीं क्या जब वर्षा ऋतु में मच्छरादि अनेक सूक्ष्म जीवों की अधिकता होती है तो सर्व साधारण जन उनको मुख चक्षु नासिकादि से बचावने के लिये वस्त्रादिक की सहायता नहीं लेते? और बिना सहायता लिये विवेकी जब नहीं रहते विद्वान् पुरुष अपरचित मार्ग में पांव नहीं बढ़ाते, स्वामी जी शुद्ध सनातन परम पवित्र जैन धर्म्म का भेद जाने बिना ही व्यर्थ गाल बजाते हैं यह नहीं समझते कि जैनी लोग प्रलय किसको कहते हैं, पुद्गल किसको जानते हैं, चौदह राज्य क्या वस्तु है? बिना समझे मनमाना लिख मारा, क्योंकि चौदह राज्य नहीं किन्तु राजू हैं, और राजू नाम एक माप करने के पैमाने का है, किसी राजधानी वा लोक का नहीं है, और उसमें भी आकाश पाताल सब मिला कर यह गणना है, केवल आकाश पर चौदह राजू मानना यह स्वामी जी का भ्रम है बिना किसी जैन शास्त्र के देखे पढ़े जो कुछ झूठ सच सुना सुनाया वही लिख मारा यह न समझे कि विद्वान् पुरुष इसको देख कर क्या कहेंगे॥

पुनः पृष्ठ ३९६ पंक्ति अन्तिम से लेकर पृष्ठ ३९७ पंक्ति १ तक लिखा है॥

(द) और जैनी ऐसा भी कहते हैं कि धर्म्म जो है सो जैन का ही है और सब हिंसक हैं, तथा अधर्म्मी क्योंकि जो हिंसा करते हैं वे धर्मात्मा नहीं॥

(स) यहां विशेष लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं जब पक्षपात छोड़ कर सत्यासत्य का निर्णय किया जाय तो स्वतः सिद्ध हो

सकता है कि सनातन और सच्चा धर्म्म क्या है?॥

पुनः पृष्ठ ३९७ पंक्ति २ से पृष्ठ ३९८ पंक्ति २ तक स्वामी जी लिखते हैं॥

(ट) जो यज्ञ में पशु मरते हैं और ऐसी २ बातें कहते हैं कि यज्ञ में जो पशु मारा जाता है सो स्वर्ग में जाता होय तो अपना पुत्र वा पिता को न मार डालें स्वर्ग को जाने के वास्ते ऐसे २ श्लोक उनने बना रक्खे हैं "त्रयोवेदस्यकर्तारोधूर्तभांडनिशाचराः,, इसका यह अभिप्राय है कि ईश्वर विषय की जितनी बात वेद में हैं वे धूर्त की बनाई हैं जितनी फल स्तुति अर्थात् इस यज्ञ को करें तो स्वर्ग में जाय यह बात भांडों ने बना रक्खी हैं, और जितना मांस भक्षण पशु मारने की विधि है वेद में सो राक्षसों ने बना लिया है, क्योंकि मांस भोजन राक्षसों को बड़ा प्रिय है सब बात अपने खाने पीने और जीविका के वास्ते लोगों ने बनाई हैं, और जैन मत है सो सनातन है और यही धर्म्म है इसके विना किसी को शुभ गति वा सुख कभी नहीं होसकता ऐसी २ वे बातें कहते हैं। इनसे पूछना चाहिये कि हिंसा तुम लोग किसको कहते हो? जो वे कहैं कि किसी जीव को पीड़ा देना सो तो विना पीड़ा के किसी प्राणी का कुछ व्यवहार सिद्ध नहीं होता क्योंकि आप लोगों के मत मेंही लिखा है कि एक विन्दु में असंख्यात जीव हैं उसको लाख वस्त्र छानें तो भी वे जीव पृथक् नहीं होसकते फिर जलपान अवश्य किया जाता है तथा भोजनादिक व्यवहार और नेत्रादिकों की चेष्टा अवश्य किई जाती है फिर तुम्हारा अहिंसा धर्म्म तो नहीं बना (प्रश्न) जितने जीव बचाये जाते हैं उतने बचाते हैं जिसको हम लोग देखते नहीं उनको पीड़ा में हम लोगों को अपराध नहीं (उत्तर) ऐसा व्यवहार सब मनुष्यों का है जो मांसाहारी हैं वे भी अश्वादिक पशुओं को बचा लेते हैं वैसे तुम लोग भी जिन जीवों से कुछ व्यवहार का प्रयोजन नहीं है जहां अपना प्रयोजन है वहां मनुष्यादिकों को नहीं बचाते हो फिर तुम्हारी अहिंसा नहीं

नहीं (प्रश्न) मनुष्यादिकों को ज्ञान है ज्ञान से वे अपराध करते हैं इससे उनको पीड़ा देने में कुछ अपराध नहीं पशुआदिक जीव बिना अपराध हैं उनको पीड़ा देना उचित नहीं (१) (उत्तर) यह बात तुम लोगों की विरुद्ध है क्योंकि ज्ञान वालों को पीड़ा देना और ज्ञान हीन पशुओं को पीड़ा न देना यह बात विचार शून्य पुरुषों की है क्योंकि जितने प्राणी देहधारी हैं उनमें से मनुष्य अत्यन्त श्रेष्ठ है सो मनुष्यों का उपकार और पीड़ा का न करना सब को आवश्यक है॥

(स) इस विषय में हम संसारिक यह कहलावत (प्रातःकाल का भूला सायङ्काल अपने घर आवै तो उसको भूला हुआ न कहना) स्वामी जी के नवीन "सत्यार्थ प्रकाश,, में जब मांस भक्षण का प्रगट निषेध देखते हैं वा पुस्तक गोकरुणा निधि में भी मांस खाने को बुरा लिखा देखते हैं तो यही सिद्ध होता है कि प्रथम बार के छपे "सत्यार्थ प्रकाश,, में मांस भक्षण के बुरा कहने पर जो लेख लिखा गया है वह स्वामी जी का अज्ञान हठ था क्योंकि पुस्तक गो करुणानिधि में स्वामी जीने स्वतः यह लिखा है॥

"कदाचित कोई कहे कि पशु को स्वयं मार कर खाने में दोष होगा बाज़ार से लेकर खाने में नहीं. यह भी समझ ठीक नहीं मनुजी ने आठ प्रकार के हिंसक लिखे हैं. जैसे (उक्तंच) "अनुमन्ता विशसितानि हन्ता क्रय विक्रयी। संस्कृताचेपिहर्ताच खादकश्चेतिघातिकाः,, अर्थ अनुमति (मारने की सलाह) देने मांस के काटने पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और

(१) जितने लेख के नीचे लकीर खेंची गई है, उसके मंडनार्थ स्वामीजी अपने ४ नवम्बर सन् १८८० ई० के पत्र में लिखते हैं कि इसका प्रमाण जैन के "विवेकसार,, ग्रन्थ में है, परन्तु यह कहना स्वामीजी का सर्वथा झूठ है, प्रथम तो "विवेकसार,, जैन धर्म्म का सूत्र सिद्धान्त वा माननीय ग्रन्थ नहीं, दूसरे उसमें स्वामी जी के पक्ष की पुष्टि करने वाला कोई भी विषय नहीं॥

बेचने, मांस के पकाने और परसने और खाने वाले आठ मनुष्य घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं, और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना मारना वा मरवाना महापाप कर्म है इसीलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशुआदि के मारने की विधि नहीं लिखी, मद्य भी मांस खाने काही कारण है, इसलिये यहां संक्षेप से थोड़ा सा लिखा है॥

मांसाहारीम और मद्यपि मनुष्य विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर और उन दोषों में फँसकर अपने धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष फलों को छोड़ पशुवत् अहार निद्रामय मैथुन आदिक में प्रवृत होकर अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ कर देते हैं, इसलिये कोई भी मादक पदार्थ सेवन न करना चाहिये॥

तथा शिव पुराण भागवत पद्म पुराणादि अनेक शास्त्रों में मांस भक्षण का निषेध है परन्तु स्वामीजी महाभारत और वाल्मीकीय रामायण के व्यतिरिक्त और किसी को प्रमाण नहीं मानते इसलिये हम महाभारतही से कुछ लिखते हैं॥

सत्येनोत्पद्यतेधर्म्मः दयादानेनवर्धते ।
क्षमयास्थाप्यतेधर्म्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥ १ ॥
अहिंसासत्यमस्तेयम् त्यागमैथुनवर्जनम् ।
पंचस्वेतेषुधर्मेषु सर्वधर्म्माप्रतिष्ठिताः ॥ २ ॥
सर्वेवेदानतत्कुर्युः सर्वेयज्ञाश्चभारतः ।
सर्वेतीर्थाभिषेकाश्चः यत्कुर्यात्प्राणिनांदया ॥ ३ ॥
अहिंसालक्षणोधर्मः अधर्मप्राणिनांवधः ।
तस्मात्धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्याप्राणिनांदया॥ ४ ॥
नशोणितार्द्रंतंवस्त्रं शोणितेनैवशुध्यति ।
शोणितार्द्रपयाद्वस्त्रं शुद्धंभवतिवारिणा ॥ ५ ॥
क्रूरंप्राणवधोयस्य नास्तियस्यास्त्वहिंसकः।
ततोऽहिंसात्मको कार्य्यः सदायज्ञयुधिष्टरः ॥ ६ ॥
इंद्रियाणिपशुन्कृत्वावेदिंकृत्वातपोमयीः ।
अहिंसामाहुतकृत्वा, आत्मयज्ञंयजाम्यहँ॥ ७ ॥

ध्यानाग्नौजीवकुण्डस्थे शानमारुतदीपिते ।
असत्कर्मधनंक्षिप्ते अग्निहोत्रंकुरुतमं ॥ ८ ॥

(इसका भाषार्थ) सत्य से धर्म्म की उत्पती और दयादान से वृद्धि तथा क्षमा से स्थिरता और क्रोध लोभादिक से नाश होता है ॥ १ ॥ अहिंसा में, सत्य में, चोरी त्याग, मैथुन त्याग, परिग्रह प्रमाण, इन पांच धर्म्म कार्य्यों में सर्व प्रकार के धर्म्म समाये हुये हैं ॥ २ ॥ सर्व वेद पढ़ो वा अनेक यज्ञ करो वा सर्व तीर्थ स्नान करो परन्तु प्राणियों की दया बिना सर्व कार्य्य अफल है और प्राणियों की दया इन सब से उत्तम है ॥ ३ ॥ अहिंसा धर्म्म का लक्षण है और अधर्म्म का लक्षण प्राणियों का बध इसलिये प्राणियों पर दया करनी यही उत्तम है ॥ ४ ॥ रक्त में रँगा हुआ वस्त्र रक्त से धोने पर साफ़ नहीं होता, इसी प्रकार हिंसा से पाप नहीं हटता, दया धर्म्म से शुद्ध होता है ॥ ५ ॥ यज्ञ में निश्चय से प्राणियों का बध होता है इसलिये हिंसक यज्ञ नहीं करना किन्तु हे युधिष्टर अहिंसात्मक यज्ञ करनाही योग्य है ॥ ६ ॥ पांचों इन्द्रियों को पशु मानना और तपरूप वेदिका उसमें दया मई आहुति देकर आत्म यज्ञ करना यही उत्तम है ॥ ७ ॥ ध्यान रूपी अग्नि को जीव रूपी कुण्ड में प्रज्वलित कर असत्य कर्म्म रूपी काष्ट डालना यही सत्य अग्नि होत्र है ॥

"त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्त भांड निशाचराः,, यह श्लोक स्वामी जीने पुस्तक "सर्व दर्शन संग्रह,, से लेकर इस को जैनों का बनाया लिखा और इसीके आशय पर "सत्यार्थ प्रकाश,, का एक पूरा पृष्ट ३९७ का भर दिया है, परन्तु यह श्लोक चार्वाक नास्तिक का है जिसका 'जैन' से कुछ सम्बन्ध नहीं है, और नवीन "सत्यार्थ प्रकाश,, के द्वादश समुल्लास में पृष्ट ४०६ पर स्वामी जी इसको स्वतः चार्वाक मत का स्वीकार करते हैं इसलिये अब इस विषय में हमको विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥

पुनः पृष्ट ३९८ पंक्ति २ आगे स्वामीजी लिखते हैं कि—

(द) हिंसा नाम है बैर का सो योग शास्त्र व्यास जीके भाष्य

में लिखा है, सर्वथा सर्व भूतेष्वनभिद्रोहः अहिंसा यह अहिंसा धर्म्म का लक्षण है इसका यह अभिप्राय है कि सब प्रकार से सब काल में सब भूतों में अनभिद्रोह अर्थात् वैर का जो त्याग सो कहाता है अहिंसा आप लोग अपने संप्रदाय में तो प्रीति करते हो और अन्य संप्रदायों में द्वेष तथा वेदादिक सत्य शास्त्र तथा ईश्वर पर्यन्त आप लोगों को वैर और द्वेष है फिर अहिंसा धर्म्म आप लोगों का कहने मात्र है॥

(स) यह लिखना स्वामी जी का सर्वथा मिथ्या है कि जैनीलोग अन्य संप्रदाय वालों तथा वेदादिक शास्त्रों और ईश्वर पर्यन्त से द्वेष रखते हैं, यदि यही मान लिया जाय कि हिंसा वैरही को कहते हैं तो जैनी लोग तो वैरभाव से सर्वकाल सर्वथा वञ्चितही रहते हैं, और जैन शास्त्रों में पद पद पर वैर भाव त्यागने का उपदेश है, फिर स्वामीजी का कथन मिथ्या नहीं तो और क्या है, पापी को पापी और चोर को चोर कहना तथा सदोष को सदोषकहना द्वेष नहीं है, परन्तु अलौनाचारी को महात्मा और अनेक दोष युक्त को ईश्वर कहना न्याय विरुद्ध और अनभिज्ञ मूर्खों का काम है, जैनी लोग ऐसे ईश्वर के उपासक हैं जो अष्टादश दोष रहित छयालीस गुण विराजमान है॥

(द) पृष्ट ३९८ पंक्ति १० से स्वामी जी लिखते हैं कि

अपने संप्रदायों के पुस्तक तथा बात भी अन्य पुरुषों के पास प्रकाश नहीं करते हो यह भी आप लोगों में हिंसा सिद्ध है, ईश्वर को आप लोग नहीं मानते हैं यह आप लोगों की बड़ी भूल है, और स्वभाव से जगत् उत्पत्ति मानना यह भी तुम लोगों की झूठ बात है, इसका उत्तर ईश्वर और जगत् की उत्पत्ति के विषय में देख लेना॥

(क) यह लिखना स्वामी जी का उनकी अज्ञता सिद्ध करता है, कि जैनी लोग अपनी संप्रदाय के पुस्तक तथा बात भी अन्य पुरुषों पर प्रकट नहीं करते। क्योंकि जैनी अपने शास्त्रों को छपाकर गलयारे की गेंद बनाना नहीं चाहते, हां! अपने सत्य और

धर्म्म की रक्षा करना मनुष्य मात्र का धर्म्म है. और ईश्वर को जैसा जैनी लोग मानते हैं, वैसा कोई भी धर्म्म वाला नहीं मानता जगत् की उत्पत्ति के विषय यथार्थ उत्तर आगे चल कर मिलेगा॥

(द) फिर पृष्ट ३६८ के अन्त तक यह लिखा है कि—

प्रथम जीव का होना और साधनों का करना पश्चात् यह सिद्ध होगा जब जीवादिक जगत् विना कर्ता के उत्पन्नही नहीं होता और प्रत्यक्ष जगत् में नियमों के जगत् में देखने से सनातन जगत् का नियन्ता ईश्वर अवश्य है. फिर उसको ईश्वर नहीं मानना और साधनों में सिद्ध जो भया उसी को ईश्वर मानना यह बात आप लोगों की सब झूठ है आपसे आप जीव शरीर धारण कर लेते हैं, तो शरीर धारण में जीव स्वतंत्र ठहरे फिर छोड़ क्यों देते हैं, क्योंकि स्वाधीनता से शरीर धारण कर लेते हैं फिर कभी उस शरीर को जीव छोड़ेगाही नहीं जो आप कहो कि कर्मों के प्रभाव से शरीर का होना और छोड़ना भी होता है, तो पापों के फल जीव कभी नहीं ग्रहण करता क्योंकि दुःख की इच्छा किसी को नहीं होती सदा सुख की इच्छाही रहती है, जब सनातन न्यायकारी ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था का करने वाला न होगा तो यह बात कभी न बनेगी। (स) ईश्वर को करता मानने में जीव का करता भी ईश्वर ही मानना पड़ेगा. और जब जीव का करता ईश्वर कोही माना गया तो यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिकूल है, क्योंकि कार्य्य अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं होता. जब सब जीवों का उपादान कारण ईश्वर है, तो जीव ईश्वर की एकता में क्यों अन्तर मानते हो? और ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल जीव क्यों देखे जाते हैं? इसलिये जीव अनादि है. इसका करता ईश्वर नहीं. यदि करता हरता ईश्वर कोही माना जाय तो उसकी ईश्वरता में बड़ा भारी कलङ्क लग जाय. क्योंकि प्रथम तो एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य का घात कराना. फिर घातिक को राजद्वार से फांसी दिलाना. यदि दोनों कर्म्म एक ईश्वर होके हैं तो वह अन्यायी है,

और जो एक कार्य्य ईश्वर ने किया, दूसरा जीव ने किया, तब ईश्वर में सर्वज्ञता सर्वशक्ति मानो इन गुणों का अभाव हुआ जिसका उपादान कारण नहीं है, वह कार्य्य नहीं हो सकता इसी प्रकार जगत का उपादान कारण हैही नहीं, तो उसकी उत्पत्ति क्योंकर संभवे, यहां कोई यह कहे कि ईश्वर की जो (शक्ति) माया है वही जगत् का उपादान कारण है, तब हम पूछते हैं कि वह शक्ति ईश्वर से भिन्न है, वा अभिन्न ? जो कहोगे कि भिन्न है तो प्रश्न करेंगे जड़ है, वा चैतन ? तुम कहोगे जड़ है तो हम पूछेंगे नित्य है, वा अनित्य ? आप कहोगे नित्य है, तब तो आप का यह कहना (कि सृष्टि से पहिले केवल ईश्वरही था) असत्य होजायगा। और जो कहोगे अनित्य है तो उसका उपादान कारण और ईश्वर की शक्ति हुई तिस शक्ति की उत्पन्न करने वाली और शक्ति इसी प्रकार करने से अनवस्था दूषण आता है, और जो यह कहोगे कि ईश्वर की शक्ति ईश्वर से भिन्न नहीं है तो फिर सर्व पदार्थ ईश्वर मई समझने होंगे, और ऐसा समझने पर भले बुरे का ज्ञान स्वर्ग, नरक, पाप पुण्य, धर्म, अधर्म, ज्ञान, जीव, राजा प्रजा सुख दुःखादि सब ईश्वर मई अर्थात् ईश्वर ही हैं, तो संसार की व्यवस्था किसके लिये है, तथा वेदादिक का उपदेश ऋषियों का वृथा क्यों हुआ ? और उसने जगत् को किस इच्छा से बनाया ? और बिना इच्छा के बनाना तो किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं जो इच्छा से बनाया तो वह सर्व शक्तिमान नहीं इसलिये ईश्वर को जगत् का कर्ता कहना सर्वथा अनुचित है, यदि यह कहोगे कि ईश्वर सर्व शक्तिमान है वह उपादान कारण के बिनाही सृष्टि रच सक्ता है तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि उपादान कारण बिना कार्य्य की सिद्धि नहीं होती, इस विषय में अधिक देखना हो तो पुस्तक सुदृष्टि तरंगिणी में देख लो। और स्वामी जी का यह लिखना कि जीव पाप का फल भोगना नहीं चाहता, और सदैव सुख की आशा रखता है, इस कहने से तो स्पष्ट सिद्ध है कि

जीव का प्रबन्ध ईश्वर के हाथ में नहीं किन्तु उसके कर्माधीन है क्योंकि जो जैसा करता है उसका फल तदतही भोगता है, जैसे मिष्टान्न खाने वाले का मुख मीठा और नीम चाबने वाले का मुख कड़वा होवे तो यह वस्तु के स्वभाव का फल है, ईश्वर परमात्मा का इसमें क्या दावा है॥

(ह) पृष्ठ ३९९ पंक्ति १ से स्वामीजी लिखते हैं कि "आकाश में चौदह राज्य तथा पद्मशिला मुक्ति का स्थान मानना यहबात प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध है, केवल कपोल कल्पना मात्र है, और उसके ऊपर बैठ के बराबर का देखना * और कर्म करने से वहां चला जाना यह भी बात आप लोगों की असत्य है॥

(स) स्वामी जी महाराज चौदह राज्य भावार्थ राज्यवाली नहीं है किन्तु राज्य एक प्रकार की माप है, और जैनी लोग आकाश में चौदह राज नहीं मानते, किन्तु जैनशास्त्र के लेखानुसार तीन लोक की सम्पूर्ण रचना का प्रमाण चौदह राजूऊंचा है जिसमें नीचे सात राजू चौड़ा मध्य में एक राजू फिर ५ राजू फिर अंत में एक राजू इस प्रकार चौड़ा है, और घनाकार इसका ३४३ राजू है। आपने सुना सुनाया गप्प शप्प जो मन में आया लिख मारा किसी जैन पुस्तक में ऐसा लेख नहीं है, और मोक्ष स्थान सिद्ध शिला का यथार्थ स्वरूप भी आप की समझ में नहीं आया फिर किस आशा पर तर्क करते हैं॥

(ह) पृष्ठ ३९९ में ऊपर लिखे लेख से आगे यह लिखा है कि "यज्ञों के विषय में आप कुतर्क करते हैं सो पदार्थ विद्या के नहीं होने से क्योंकि घृत दूध और मांसादिकों के यथावत गुण

---

* जितने लेख के तले लकीर खैंची गई है, उसकी पुष्टि में स्वामी जी अपने तारीख ४ नवम्बर सन् १८८० ई० के पत्र में (जो उन्होंने आत्माराम जी को लिखा था) पुस्तक रत्नसार के गोतम महावीर की चर्चा का प्रमाण तो देते हैं, परन्तु यह नहीं समझते कि यह वाक्य उलटा हमको ही बाधक है॥

जानते और यज्ञ का उपकार, कि पशुओं को मारने में थोड़ासा दुःख होता है परन्तु यज्ञ में चराचर का अत्यन्त उपकार होता है, इनको जो जानते तो कभी यज्ञ विषय में तर्क न करते. वेदों का यथावत अर्थ के नहीं जानने से ऐसी बात तुम लोग कहते हो कि धूर्त भाण्ड और निशाचरों ने लिखा है, यह बात केवल अपने अज्ञान और संप्रदायों के दुराग्रह से कहते हो और वेद जो है सो सब के वास्ते हितकारी है किसी सम्प्रदाय का ग्रंथ वेद नहीं किन्तु केवल पदार्थ विद्या और सब मनुष्यों के हित के वास्ते वेद पुस्तक है पक्षपात इसमें कुछ नहीं इन बातों को जानते तो वेदों का त्याग और खंडन कभी न करते सो वेद विषय में सब लिख दिया है वही देख लेना और यज्ञ में पशु को मारने से स्वर्ग में जाता है यह बात किसी मूर्ख के मुख से सुन ली होगी ऐसी बात वेद में कहीं नहीं लिखी ॥

(स) स्वामी जी कूप के मैंडुक होकर राजहंस की बराबरी किया चाहैं तो क्योंकर हो, उलटा उपहास्य का कारण है, जैन शास्त्रों के समान तो पदार्थ विद्या का वर्णन अन्य किसी धर्म्म पुस्तक में भी नहीं परन्तु पदार्थ विद्या का जानकार क्या विष्टा वा मूत्रादि मलीन पदार्थों को जानता हुआ उनका भक्षण करने लगेगा। हम लिखते तो बहुत कुछ परन्तु स्वामी जी ने नवीन सत्यार्थ प्रकाश में यज्ञ करने के विधान में पशु वध की आज्ञा हटा दी, इसलिये केवल इतनाही लिखते हैं कि वेद जो सर्व हितकारी हैं तो उनमें पशु वध की आज्ञा है सो जो वध करने में पशु का भला होता है तो इस लाभ से मनुष्य क्यों वञ्चित् रक्खा गया और जो भला नहीं होता तो निरापराधी के गले पर छुरी फेरना कितना बड़ा अन्याय है, फिर कहिये इस से अधिक पक्षपात और किसको कहते हैं, और हम जैनी लोग भी सत्य सनातन ईश्वरोक्त वेदों का अर्थ यथार्थ समझते और मानते हैं परन्तु आपही की बुद्धि में कुछ नवीन चमत्कार मालूम होता है जो एक शब्द को अनेक बार बदलने पर भी भ्रमही में भूल

रहे हो, जब आप के बनाये "सत्यार्थ प्रकाश,, ही एक दूसरे से नहीं मिलते तो अन्य विद्वानों से आप का मत भेद अवश्य ही होना चाहिये ॥

(द) पुनः पृष्ठ ३९९ में पूर्वोक्त लेख से आगे और पृष्ठ ४०० पंक्ति २० तक में स्वामी जीने यह लिखा है ॥

जीवों के विषय में वे ऐसा कहते हैं कि जीव जितने शरीर धारी है, उनके पांच भेद हैं, एक इन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय जड़ में एक इन्द्रिय मानते हैं, अर्थात् वृक्षादिकों में से यह बात जैनों की विचार शून्य है क्योंकि इन्द्रिय सूक्ष्म के होने से कभी नहीं देख पड़ती परन्तु इन्द्रिय का काम देखने से अनुमान होता है कि इन्द्रिय अवश्य है सो जितने वृक्षादिकों के बीज हैं उनको पृथिवी में जब बोते हैं तब अङ्कुर ऊपर आता है और मूल नीचे को जाता है सो नेत्रेन्द्रिय उनको नहीं होता तो ऊपर नीचे को कैसे देखता इस काम से निश्चय जाना जाता है कि नेत्रेन्द्रिय जड़ वृक्षादिकों में भी है तथा बहुतलता होती हैं सो वृक्ष, और भीतों के ऊपर चढ़जाती हैं जो नेत्रेन्द्रिय न होती तो उसको कैसे देखता तथा स्पर्शेन्द्रिय तो वेभी मानते हैं, जीभ इन्द्रिय भी वृक्षादिकों में हैं क्योंकि मधुर जल से बागादिकों में जितने वृक्ष होते हैं उनमें खाराजल देने से सूख जाते हैं जीभइन्द्रिय न होता तो स्वाद खारे वा मीठे का कैसे जानते तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी वृक्षादिकों में है क्योंकि जैसे कोई मनुष्य सोता होय उसको अत्यन्त शब्द करने से सुन लेता है तथा तोप आदिक शब्द से भी वृक्षों में कम्प होता है जो श्रोत्रेन्द्रिय न होता तो कम्प क्यों होता। क्योंकि अकस्मात् भयङ्कर शब्द के सुनने से मनुष्य पशु पक्षी अधिक कम्प जाते हैं वैसे वृक्षादिक भी कम्प जाते हैं, यदि कोई कहे कि वायुके कम्प से वृक्ष में चेष्टा हो जाती है अच्छा तो मनुष्यादिकों को भी वायु की चेष्टा से शब्द सुन पड़ता है इससे वृक्षादिकों में भी श्रोत्र इन्द्रिय है तथा नासिका इन्द्रिय भी है क्योंकि वृक्षों को

रोग धूप के देने से छूट जाता है, जो नासिका इन्द्रिय न होता तो गन्ध का ग्रहण कैसे करता इस से नासिका इंद्रिय भी वृक्षादिकों में है, तथा त्वचा इन्द्रिय भी है क्योंकि कुमोदिनियमल लज्जावती अर्थात् छुईमुई औषधि और सूर्य्यमुखी आदिक पुष्पों में और शीत तथा उष्ण वृक्षादिकों में भी जान पड़ता है क्योंकि शीत तथा अत्यन्त उष्णता से वृक्षादिक कुमला जाते हैं, और सूख भी जाते हैं, इससे तत इन्द्रियों का कर्म देखने से तत् इन्द्रिय वृक्षादिकों में अवश्य मानना चाहिये यह भ्रम जैन सम्प्रदाय वालों को स्थूल गोलक इन्द्रियों के नहीं देखने से हुआ है सो इससे जो लोग इन्द्रियों को नहीं जान सकते परन्तु कार्य्य द्वारा सब बुद्धिमान लोग वृक्षादिकों में भी इन्द्रिय जानते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं और जहां जीव होगा वहां इन्द्रिय अवश्य होगी, क्योंकि इन सब शक्तियों का जो संघात इसी को जीव कहते हैं, जहां जीव होगा वहां इन्द्रिय अवश्य होगी ॥

(स) स्वामी जी महाराज जब आप को यही मालूम नहीं है कि इन्द्रिय किस को कहते हैं तथा उसका गुण क्या है तो उस पर तर्क करने को क्यों उद्यमी हुये? आप लिखते हो वृक्षादिक के बीज का अँकुर तो ऊपर को आता है, और मूला नीचे को जाता है, इससे उसके चक्षु इन्द्रिय का होना, और मधुर जल से वाग़ादिक में उन्नति और खारे जल से सूख जाने से उनमें जिव्हा इन्द्रिय का सद्भाव और भयङ्कर शब्द होने से वृक्षादिक का कम्पना सो श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि तथा वृक्षादिक में धूप देने से रोगादिक का नाश जिससे नासिका इन्द्रिय का होना और छुई, मुई, लज्जावन्ती सूर्य्यमुखी आदिक वृक्षों की चेष्टा से त्वचा इन्द्रिय का होना यह वृक्षादिक में पांचों इन्द्रिय सिद्ध करने के लक्षण और प्रमाण हैं इसको देख कर हम को बड़ाही आश्चर्य्य होता है, स्वामी जी महाराज अग्नि प्रज्वलित होने पर धूम्र का ऊर्द्ध गमन करना और सूर्य्य की किरणों के आश्रय कुहिर

पतङ्ग का ऊंचा उठना तथा कागज़ के बने पतङ्गादिक का आकाश उड़ना, और मधुर जल से अनेक जल पदार्थों (लवणादिक) का बिगड़ना और खारी से उत्पन्न होना, तथा भयङ्कर शब्द से अनेक मन्दिर वा बड़े२ मकानों में कम्प होना और अनेक मकानों तथा तृण समूह का गिर पड़ना, प्रकट रूप से देखने में आता है, और जड़ वस्तु में जड़ वस्तु कोही धूनी देने से उसका रोग दूर करते हैं, जैसे सज्जी, चूना, फिटकरी के योग्य से अनेक जड़ वस्तु शुद्ध होती हैं, और चुम्बक पाषाण के अनेक खेल देखने से क्या जड़ पदार्थ को ज्ञानवान मनुष्य जीवधारी मान लेवेंगे? और यह कहना भी स्वामी जी का ठीक नहीं है कि "कार्य्य द्वारा सब बुद्धिमान लोग ब्रह्मादिक में इंद्रिय मानते हैं,, क्योंकि अनेक प्रकार पुतली मनुष्य वा पशु आकार ऐसी बनाई जाती हैं जो देखने सुनने चाखने सूंघने आदि तथा स्पर्श रस का सम्पूर्ण कार्य्य करती हैं, तो क्या उनको कोई स्वामी जी के समान सजीव समझ सकता है? नहीं बिल्कुल नहीं, जो निर्जीव है वह निर्जीवही है और जो इंद्रियधारी जीव है, सोही सजीव है, क्या इतनी बुद्धि परही आप लिख बैठे कि जैनियों को पदार्थ विद्या का ज्ञान नहीं स्वामी जी महाराज अभी तक आप को इतना भी मालूम नहीं? है कि जीव क्या है? और निर्जीव क्या? जैन शास्त्रों में चौरासी लक्ष योनि जीव की इस प्रकार कही हैं, पृथ्वी कायलक्ष, ७ अपकायलक्ष, ७ तेजकायलक्ष ७ वायुकायलक्ष, ७ नित्य निगोद लक्ष, ७ इतर निगोद साधारण बनस्पति कायलक्ष, ७ प्रत्येक बनस्पति कायलक्ष, १० द्वइंद्रियलक्ष२ तीनइंद्रिय लक्ष२ चौइंद्रिय लक्ष२ पंचेन्द्रियलक्ष ४ देवलक्ष ४ नारकीलक्ष ४ मनुष्य लक्ष १४। और इसके विशेष और भिन्न २ पृथक भेद हैं।

(ट) पृष्ठ ४०० पंक्ति २१ से पृष्ठ ४०१ पंक्ति ७ तक स्वामी जी लिखते हैं कि जैनों का ऐसा भी कहना है कि तालाब बावली कुआ नहीं बनवाना क्योंकि उनमें बहुत जीव मरते हैं जैसे तालाब के रचने से भैंसी उसमें बैठगी, उसके ऊपरसेघा बै-

ठेगा उसको कौआ लेजायगा और मार भी डालेगा उसका पाप तालाव बनाने वाले को होगा, क्योंकि उस तालाव के जल से असंख्यात जीव सुखी होंगे उसका पुण्य कहां जायगा ? सो पाप के वास्ते तालाब कोई नहीं बनाता किन्तु जीव सुख के वास्ते बनाते हैं इस से पाप नहीं होसक्ता परन्तु जिस देश में जल नहीं मिलता होय उस देश में बनाने से पुण्य होता है. जिस देश में बहुत जल मिलता होवे उस देश में तड़ागादिकों का बनाना व्यर्थ है और वे बड़े २ मन्दिर और बड़े २ घर बनाते हैं उनमें क्या जीव नहीं मरते होंगे सो लाखहा रुपये मन्दिरादिकों में मिथ्या लगा देते हैं, जिनसे कुछ संसार का उपकार नहीं होता और जो उपकार की बात है उसमें दोष लगाते हैं ॥

(स) उपरोक्त लेख जैन के किसी भी शास्त्र में नहीं है, इसलिये स्वामी जी का तर्क स्वकपोल कल्पित और सर्वथा मिथ्या है, किन्तु विद्वान पुरुष विचार कर सकते हैं कि जिस धर्म्म में दयाही प्रधान हो उसमें ऐसे कार्यों का करना कैसे बुरा समझा जाय जो लोकोपकारी हो, जैन के सम्पूर्ण कथा पुराणों जहां में नगर ग्राम गढ़ वाटादिक का वर्णन है उन की शोभा के लिये वापीकूप तड़ागादिक का होना अवश्य कहा है सो यदि वापी कूप तड़ागादिक का बनाना बुरा होता तो शास्त्रकार उन को भला क्यों कहते ? हां ! जैसे कोई कृपण पुरुष अपने जीवित वृद्ध पिता को पेट भर भोजन भी नहीं देवे परन्तु मरे पीछे की शव पर बहुमूल्य दुशाला डाल कर यह सिद्ध करे कि यह पुत्र निज पिता की बड़ी भक्ति करता होगा तो ऐसा करने से लाभ के बदले उलटी बदनामी है, इसी प्रकार कोई मनुष्य अनेक पाप कर्म करके द्रव्य एकत्रित कर उस से पृथ्वीकाय, जल काय, वायुकाय आदि के असंख्य जीवों का वध कर एक कूप अथवा वापी, तड़ाग बनवाता है वह पुण्य के बदले पापकाही भागी होता है. वापी, कूप, तड़ाग वा मन्दिरादि बनवाना उसी मनुष्य का ठीक है जो वापी कूप तड़ाग वा मन्दिरादिक में ल-

गारी हुई द्रव्य से अधिक द्रव्य किसी अन्य धर्म्म कार्य्य में भी लगावे और नाम का भूखा न बने, स्वामी जी को मन्दिरों के होने से कुछ लाभ नहीं दीखता यह उनकी पक्षपात और द्वेष भरी उत्तम समझ का फल है ॥

(द) पृष्ट ४०१ पंक्ति ८ से स्वामी जी लिखते हैं" फिर कहते हैं कि जैन का धर्म्म श्रेष्ट है, और इस के बिना मुक्ति भी किसी को नहीं होती सो यह बात उनकी मिथ्या है, क्योंकि ऐसी बात और ऐसे कर्मों से मुक्ति कभी नहीं होसक्ती मुक्ति तो मुक्ति के कर्मों से सर्वत्र होती है अन्यथा नहीं ॥

(स) धर्म्म के चिन्ह दया १ (अहिंसा) अदत्तादान न लेना२ (चोरी का त्याग) मैथुन का त्याग ३ सत्य भाषणकरणा ४ सन्तोष धारना ५ यह पांच मुख्य हैं, सो जिसने वन्ध्यागाय को मार कर यज्ञ हवन करने की तथा मांस भक्षण की आज्ञा दई और वृक्षादिक को पांच इन्द्रिय वाला लिखा। स्त्री जहां से मिले ले लेनी कही। एक स्त्री ११ पति तक नियोग करे यह लिखा। वेदों के अर्थ मनमाने स्वकपोल कल्पित बना दिये। और संन्यासी होकर पुस्तक बेचना छापाखाना खोलना द्रव्य पास रखना भला समझा वह जैन धर्म्म को क्या किसी धर्म्म को भी अच्छा नहीं समझेगा परन्तु जैनी लोग यह हट नहीं करते कि धर्म्म जैन का ही अच्छा है, किन्तु वे कहते हैं कि जिस धर्म्म में हिंसा १ झूट २ चोरी ३ मैथुन ४ का त्याग और परिग्रह प्रमाण यथार्थ पणों पाया जावे वही उत्तम और श्रेष्ट धर्म्म है ॥

(द) फिर देखो पृष्ट ४०१ पंक्ति ११ से स्वामी जी लिखते हैं "जितना मूर्ति पूजन चला है सो जैनोंही से चला है, यह भी अनुपकार का कर्म्म है, इससे कुछ उपकार नहीं संसार में विना अनुपकार के सो जैनों को बड़ा भारी आग्रह है जो कोई कुछ पुण्य किया चाहता है धनाढ्य सो मन्दिरही बना देता है और प्रकार का दान पुण्य नहीं करते हैं ॥

(स) स्वामी जी वालमीकीय रामायण को जैन धर्म्म से प-

हिले लिखी गई समझे झूठी हैं, और उसके सर्ग ४४ श्लोक ४२ ४३ में लिखा है कि रावण शिवमूर्ति की पूजन करता था तो फिर किस मुंह से लिखते हैं कि मूर्तिपूजा प्रथम जैनियों से ही चली है, और मूर्तिपूजा से जो कुछ देशोपकार होता है उस विषय के तो जक्त में अनेक लेख पुस्तकादि विद्यमान हैं, जिनका यहां लिखना व्यर्थ है, और जैनियों के बराबर पुण्यदान करने वाला तो दूसरा होना ही कठिन है, परन्तु आर्य्यसमाज में शामिल होने तथा स्वामीजी कृत वेद भाष्य वा सत्यार्थ प्रकाशादि व्यर्थ पुस्तकों के खरीदने से जैनियों का मुंह मोड़ना स्वामी जी को उनका कृपण होना सिद्ध होता है। खूब ॥

(ह) पुनः पृष्ठ ४०१ पंक्ति १५ से स्वामी जी यह लिखते हैं कि उनने जैन गायत्री भी एक बना लई है और एक यती होते हैं उनको श्वेताम्बर कहते दूसरा होता है दिगम्बर जिसको मुनि और श्रावक कहते हैं उनमें से ढूंढिये लोग मूर्तिपूजन को नहीं मानते और लोग मानते हैं उनमें एक श्रीपूज्य होता है उसका ऐसा नियम होता है कि इतना धन जब सेवक लोग दें तब उस के घर में जाय और मुनिदिगम्बर होते हैं वे भी उनके घर में जब जाते हैं तब आगे आगे थान बिछाते चले जाते हैं। और उनके मत में न होय वह श्रेष्ठ भी होते श्री उसकी सेवा अर्थात् जल तक भी नहीं देते (१) यह उनका पक्षपात से अनर्थ है

(१) जिस लेख के नीचे लकीर खैंची गई है उसकी पुष्टि की लिये भी स्वामी जी अपने ४ नवम्बर सन् १८८० ई० के पत्र में (जो आत्माराम जी को लिखा था) लिखते हैं कि पुस्तक हेक-सार पृष्ठ २२१ पंक्ति ३ से लेकर पंक्ति ८ तक लिखा है देख लीजिये। परन्तु यह प्रमाण स्वामी जी का सर्वथा झूठ है, उक्त पुस्तक के पूर्वोक्त लेखका वह आशय नहीं है जो स्वामीदयानन्द सरस्वती ने समझा और अपने रागियों को जिस से भ्रम में डाला है ॥

किन्तु जो श्रेष्ठ होय उसकी सेवा करनी चाहिये दुष्ट की कभी नहीं यह सब मनुष्यों के वास्ते उचित है॥

(स) हम पूछते हैं क्या जैन गायत्री स्वामी जी के सामने जैनों ने बनाई थी? या किसी पुस्तक में उसके बनाये जाने का समय लिखा है? जो यह सिद्ध होकि अवश्य यह अमुक काल में बनी थी? स्वामी जी तर्क करने पर तो उदासी होगये परन्तु यह नहीं जानते श्वेताम्बर किसको कहते हैं और दिगम्बर किसको और मुनि वा श्रावक तथा जैनी वा श्रावक में क्या भेद है? ढूंढिये लोग कब से? कहां से और क्यों उत्पन्न हुये? श्रीपूज्य इनमें होता है कि नहीं? स्वामी जीने भोजन के समय किस साधु को द्रव्य लेते देखा? जिसका छूना भी साधु को उचित नहीं है, और जो नग्न दिगम्बर होगया वह थालों के ऊपर क्योंकर पांव रख सकता है, वर्तमान समय में श्रेष्ठ द्रव्यवान को कहते हैं, और द्रव्य स्वतः पाप का कारण है सो जैनी लोग्य द्रव्य के लोलपी नहीं किन्तु त्यागी होते हैं द्रव्यवान को अपना कल्याणकारी नहीं समझे तो क्या दोष है? परन्तु पूर्वोक्त लेख स्वामी जी का सर्वथा मिथ्या है, जैनी लोग दया धर्म्म के धारी कभी भी किसी से द्वेष बुद्धि नहीं रखते। इस लेख में स्वामी जी को पक्षपात के कारण भ्रम उत्पन्न होगया है॥

(द) फिर स्वामी जी पृष्ठ ४०१ की अंतिम पंक्ति से पृष्ठ ४०२ पंक्ति ८ तक लिखते हैं कि "

जो ढूंढिये होते हैं उनके केश में जूआ पड़ जाय तोभी नहीं निकालते और हजामत नहीं बनवाते किन्तु उनका साधु जब आता है तब जैनी लोग उसकी डाढ़ी मोंछ और सिर के बाल नोच लेते हैं (१) जो उस वक्त वह शरीर कपावे अथवा नेत्र से

---

(१) जिस लेख के नीचे लकीर खैंची गई है, उसके मण्डनार्थ भी स्वामी जी ने अपने ४ नम्बर सन् १८८० ई० के पत्र में कुछ लिखा है परन्तु सर्व मिथ्या है॥

शल गिर।वे तब सब कहते हैं कि यह साधु नहीं भयाहै क्योंकि इसको शरीर के ऊपर मोह है विचार करना चाहिये कि ऐसी २ पीड़ा और साधुओं को दुःख देना और उनके हृदय में दया का लेश भी नहीं आता यह तुम्हारी बात बहुत मिथ्या है क्योंकि बालों के नोचने से कुछ नहीं होता जब तक काम क्रोध लोभ मोह भय शोकादिक दोष हृदय से नहीं नोचे जायंगे यह ऊपर का सब ढोंग है ॥

(स) ऊपर लिखा लेख सर्वथा झूठ और स्वामीजी की स्वकपोल कल्पना है, क्योंकि प्रथम तो हजामत का बनवानाही थोड़े दिनों से चला है इस से पहिले सम्पूर्ण पृथ्वी पर केश लोच करने ही का प्रचार था और जुएं भी उसी मनुष्य के पड़ती है जो संसारिक कार्यों में फंसा रह कर काम भोग गृहारम्भ में निमग्न रहता है, साधुजन जो नियत समय पर लोच कर लेते हैं और सदैव शुद्ध रहते हैं क्यों जुआदिक के दुःख उठा सकते हैं और जो किसी कारण यों पड़ भी जायं तो लोचके समय अवश्य जुदी हो जाती हैं क्यों कि उनके सिर पर नोचने वाले लड़की के समान केश समूह नहीं होता जो उनके सहत धोने नहाने तैलादि लगाने का श्रम करना पड़े, और जैनी लोग साधुओं के व नहीं नोचते, यह स्वामी जी का भ्रम है कि जैनी नोचते हैं

(ह) फिर पृष्ठ ४०२ पंक्ति ८ से स्वामी जी ने लिखा है उनमें जितने आचार्य भये हैं उनके बनाये ग्रन्थों को वेद मा सो १८ ग्रन्थ वे हैं तथा महाभारत रामायण पुराण स्मृतियां लोगोंने अपने मतके अनुकूल ग्रंथ बना लिये हैं अन्य भगव ज्ञान चारित्रादिक भी ग्रंथ नाना प्रकारके बना लिये हैं उ सम्प्रदाय की पुष्टि और अन्य सम्प्रदायों का खंडन ल्पना से अनेक प्रकार लिखा है जैसे कि जैन मार्ग प्रथम सब संसार में जैन मार्ग था परन्तु कुछ दिनों को छोड़ दिया है लोगों ने सो बड़ा अन्याय है मार्ग छोड़ना किसी को उचित नहीं है, ऐसी

ग्रन्थों में जैनों ने लिखी हैं सो सब सम्प्रदाय वाले अपनी २ कथा ऐसीही लिखते हैं और कहते हैं, इसमें प्रायः अपने मतलब के लिये बातें मिथ्या २ बना लई हैं ॥

(ध) जब हम यह देखते हैं कि स्वामी जी ने ५९ वर्ष की आयु तक बहु परिश्रम द्वारा जैन ग्रन्थों का खोज लगाया और दोबार सत्यार्थ प्रकाश के द्वादश समुल्लास में उसका वर्णन किया परन्तु यथार्थ भेद न पाया और प्रथम बार के छपे सत्यार्थ प्रकाश में जो नाम जैन ग्रन्थों के लिख दिये थे नवीन सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में उनके प्रतिकूल मनमाना लिख दिया यथार्थ भेद से वंचित ही रहे तो उपरोक्त लेख पर आलोचना करने की कुछ आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस विषय में स्वामी जी के स्वतः लेखों से पाया जाता है कि उनके भ्रम की अभी तक निवृत्ति नहीं हुई है, और जहां स्वामी जीने भारत के सम्पूर्ण धर्म्मों की निन्दा करी है वहां यदि जैन की बुराई नहीं करते तो पक्षपाती समझे जाते उनको सब के साथ में जैनियों को भी बुरा बतलाना उचित ही था और जैन नवीन हैं वा सनातन इस विषय पर "दयानन्द छल कपट दर्पण प्रथम भाग,, में सविस्तार लेख किया गया है ॥

(द) पृष्ठ ४०२ पंक्ति २० से पृष्ठ ४०३ पंक्ति १८ तक निम्न लिखित श्लोक और कुछ लेख लिखा है ॥

यावज्जीवं सुखंजीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ॥
भस्मीभूतस्य देहस्यपुनरागमनंकुतः ॥ १ ॥
यावज्जीवेत्सुखंजीवे दृणंकृत्वाघृतं पिवेत् ।
अग्निहोत्रंत्रयो वेदास्त्रिदण्डंभस्म गुण्ठनम । २ ।
बुद्धिपौरुषहीना नां जीविकेतिबृहस्पतिः ।
अग्निरुष्णोजलंशीत शीत स्पर्शस्तथानिलः । ३ ॥
केनेदं चित्रितंतस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥
नस्वर्गोनापवर्गो वा नैवात्मापार लौकिकः ॥ ४ ॥

नैवषर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिकाः ॥
अग्निहोत्रंत्रयो वेदास्त्रिदंण्डं भस्मगुण्ठनम् ॥ ५ ॥
बुद्धिपौरुषहीनानांजीविका धातृनिर्मिता॥
पशुश्चेन्निहतःस्वर्ग ज्योतिष्टोमेगमिष्यति ॥ ६ ॥
स्वपितायजमानेन तत्रकस्मान्न हिंस्यते -
मृतानामपिजन्तूनां श्राद्धंचेत्तृप्तिकारणम् ॥ ७ ॥
गच्छतामिहजन्तूनां व्यर्थंपाथेयकल्पनम् ॥
स्वर्गस्थितायदातृप्तिंगच्छेयुस्तत्रदानतः ॥ ८ ॥
प्रासादस्योपरिस्थानामत्रकस्मान्नदीयते ॥
यदिगच्छेत्परंलोकं देहादेषविनिर्गतः ॥ ९ ॥
कस्माद्भूयोनचायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥
ततश्चजीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ॥ १० ॥
मृतानांप्रेतकार्याणिनत्वन्यद्विद्यतेक्वचित् ॥
त्रयोवेदस्यकर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ॥ ११ ॥
जर्फरीतुर्फरी त्यादिपण्डितानां वचःस्मृतम् ॥
अश्वस्यात्रहि शिश्नन्तुपत्नी ग्राह्यंप्रकीर्तितम् ॥ १२ ॥
भण्डैस्तद्वत्परं चैवग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ॥
मांसानांखादनं तद्वन्निशाचर समीरितम् ॥ १३

इत्यादिक श्लोक जैनोंने बना रक्खे हैं और अर्थ त
पदार्थ मानते हैं लोक सिद्ध जो राजा सोई परमेश्व
नहीं पृथ्वी जल अग्नि वायु इनके संयोग से चेतन
इन्हीं में लीन हो जाता है और चेतन पृथक् पदा
प्राकृत दृष्टांत देके निर्बुद्धि पुरुषों को बहका दे
भूतों को योग में चेतन उत्पन्न होता तो अब भी
को मिला के चेतन देखला दे सो कभी नहीं देख
स्वभाव से जगत की उत्पति आदिक का उत्तर ईश्व
के विषय में लिख दिया है वही देख लेना ॥

(स) पूर्वोक्त लेख स्वामी जी ने बिना विचारे
दर्शन संग्रह से लेकर लिखे और उक्त पुस्तक के लि

ग्रन्थों में जैनों ने लिखी हैं सो सब सम्प्रदाय वाले अपनी २ कथा ऐसीही लिखते हैं और कहते हैं, इसमें प्रायः अपने मतलब के लिये बातें मिथ्या २ बना लई हैं ॥

(घ) जब हम यह देखते हैं कि स्वामी जी ने ५८ वर्ष की आयु तक बहु परिश्रम द्वारा जैन ग्रन्थों का खोज लगाया और दोबार सत्यार्थ प्रकाश के द्वादश समुल्लास में उसका वर्णन किया परन्तु यथार्थ भेद न पाया और प्रथम बार के छपे सत्यार्थ प्रकाश में जो नाम जैन ग्रन्थों के लिख दिये थे नवीन सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में उनके प्रतिकूल मनमाना लिख दिया यथार्थ भेद से वंचित ही रहे तो उपरोक्त लेख पर आलोचना करने की कुछ आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस विषय में स्वामी जी के स्वतः लेखों से पाया जाता है कि उनके भ्रम की अभी तक निवृत्ति नहीं हुई है, और जहां स्वामी जीने भारत के सम्पूर्ण धर्म्मों का निन्दा करी है वहां यदि जैन की बुराई नहीं करते तो पक्षपाती समझे जाते उनको सब के साथ में जैनियों को भी बुरा बतलाना उचित ही था और जैन नवीन हैं वा सनातन इस विषय पर "दयानन्द छल कपट दर्पण प्रथम भाग,, में सविस्तार लेख किया गया है ॥

(ङ) पृष्ट ४०२ पंक्ति २० से पृष्ट ४०३ पंक्ति १८ तक निम्न लिखित श्लोक और कुछ लेख लिखा है ॥

यावज्जीवं सुखंजीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ॥
भस्मीभूतस्य देहस्यपुनरा गमनंकुतः ॥ १ ॥
यावज्जीवेत्सुखंजीवे दृणंकृत्वाघृतं पिवेत् ।
अग्निहोत्रंत्रयो वेदास्त्रिदण्डंभस्म गुण्ठनम् । २ ।
बुद्धिपौरुषहीना नां जीविकेतिबृहस्पतिः ।
अग्निरुष्णोजलंशीतं शीत स्पर्शस्तथानिलः । ३ ॥
केनेदं चित्रितंतस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥
नस्वर्गोनापवर्गो वानै वात्मापार लौकिकः ॥ ४ ॥

नैववर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिकाः ॥
अग्निहोत्रंत्रयो वेदास्त्रिदंडं भस्मगुण्ठनम् ॥ ५ ॥
बुद्धिपौरुषहीनानांजीविका धातृनिर्मिता ॥
पशुश्चेन्निहतःस्वर्गं ज्योतिष्टोमेगमिष्यति ॥ ६ ॥
स्वपितायजमानेन तत्रकस्मान्न हिंस्यते -
मृतानामपिजन्तूनां श्राद्धंचेत्तृप्तिकारणम् ॥ ७ ॥
गच्छतामिहजन्तूनां व्यर्थंपाथेयकल्पनम् ॥
स्वर्गस्थितायदातृप्तिंगच्छेयुस्तत्रदानतः ॥ ८ ॥
प्रासादस्योपरिस्थानामत्रकस्मान्नदीयते ॥
यदिगच्छेत्परंलोकं देहादेषविनिर्गतः ॥ ९ ॥
कस्माद्भूयोनचायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥
ततश्चजीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ॥ १० ॥
मृतानांप्रेतकार्याणिनत्वन्यद्विद्यतेक्वचित् ॥
त्रयोवेदस्यकर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ॥ ११ ॥
जर्फरीतुर्फरी त्यादिपण्डितानां वचःस्मृतम् ॥
अश्वस्यात्रहि शिश्नन्तुपत्नी ग्राह्यंप्रकीर्तितम् ॥ १२ ॥
भण्डैस्तद्वत्परं चैवग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ॥
मांसानांखादनं तद्वन्निशाचर समीरितम् ॥ १३ ॥

इत्यादिक श्लोक जैनोंने बना रक्खे हैं और अर्थ तथा काम दोनों पदार्थ मानते हैं लोक सिद्ध जो राजा सोई परमेश्वर और ईश्वर नहीं पृथ्वी जल अग्नि वायु इनके संयोग से चेतन उत्पन्न हो इन्हीं में लीन हो जाता है और चेतन पृथक् पदार्थ नहीं ऐ प्राकृत दृष्टांत देके निर्बुद्धि पुरुषों को बहका देते हैं जो भूतों को योग में चेतन उत्पन्न होता तो अब भी कोई चार को मिला के चेतन देखला दे सो कभी नहीं देख पड़े स्वभाव से जगत की उत्पत्ति आदिक का उत्तर ईश्वर औ के विषय में लिख दिया है वही देख लेना ॥

(घ) पूर्वोक्त लेख स्वामी जी ने बिना विचारे ए दर्शन संग्रह से लेकर लिखे और उक्त पुस्तक के लिए

बृहस्पति नास्तिक ग्रंथोंसे लिया है, और जो पत्र स्वामी जी ने तारीख ४ नवम्बर सन् १८८० ई० को आत्मराम जी के नाम लिखा उसके प्रश्न ६ के उत्तर में भी अपने झूठ वचन का पालन ही किया है परन्तु यह हट धर्मी और लेख सर्वथा मिथ्या और जैन धर्म्म से भिन्न है, अच्छा हुआ जो स्वामी जी ने नवीन सत्यार्थ प्रकाश में इसको स्वतः ही जैन का नहीं कहा, और चार्वाक का मान लिया, नहीं तो हमको इसका यथार्थ भेद और स्वामी जी की अधिक पोल खोलनी पड़ती और पृष्ठ ४०३ पंक्ति १८ से आगे पृष्ठ ४०७ के अन्त तक स्वामी जीने जो कुछ लिखा वह जैन के किसी भी ग्रन्थ का लेख नहीं है किन्तु वह सूत्र शाक्य मुनि गौतम कृत बौद्ध धर्म के हैं जिनको स्वामी जी ने अपने अज्ञान पने से जैन का समझ उन पर आलोचना करी • न यह है ॥

(८) भूतेभ्यो मूर्त्युपादनवतदुपादनम् इत्यादिक गौतम मुनि जी के किये सूत्र नास्तिकों के मत दिखाने के वास्ते लिखे जाते हैं और उनका खंडन भी, सो जान लेना जैसे पृथिव्यादिक भूतों से बालु पाषाण गेरु अंजनादिक स्वभाव से कर्ता के बिना उत्पन्न होते हैं, वैसे मनुष्यादिक भी स्वभाव से उत्पन्न होते हैं न पूर्वापर जन्म न कर्म्म और न उनका संस्कार किन्तु जैसे जल में फेन तरङ्ग और बुदबुदादिक अपने आप से उत्पन्न होते हैं वैसे भूतों से शरीर भी उत्पन्न होता है उसमें जीव भी स्वभाव से उत्पन्न होता है उत्तर न साध्य समत्वात् २ गौ० जैसे शरीर की उत्पत्ति संस्कार के बिना सिद्ध मानते हो, वैसे बालुकादिक की उत्पत्ति सिद्ध करो बालुकादिकों के पृथिव्यादिक प्रत्यक्ष निमित्त और हैं वैसे पृथिव्यादिक स्थूल भूतों का कारण भी सूक्ष्म मानना पड़ेगा ऐसे अनवस्था दोष भी आजायगा और साध्य सम प के नाईं यह कथन होगा, और इस से देहोत्पति में र अवश्य तुमको मानना चाहिये नोत्पति निमित्त त्वा- : ३ गौ० यह नास्तिक का अपने पक्ष का समाधान " की उत्पत्ति का निमित्त माता और पिता है जिन

से कि शरीर उत्पन्न होता है, और वालुकादिक निर्बीज उत्पन्न होते हैं इस से साध्यसम दोष हमारे पक्ष में नहीं आता। क्योंकि माता पिता खाना पीना करते हैं उस से वीर्य बीजशरीर का होजायगा उत्तर "प्राप्तौचानियमात् ४ गो० „ ऐसा तुम मत कहो क्योंकि इसका नियम नहीं माता और पिता का संयोग होता है और वीर्य भी होता है तोभी सर्वत्र पुत्रोत्पत्ति नहीं देखनेमें आती इससे यह जो आप का कहा नियम सो भंग होगया इत्यादिक नास्तिक के खण्डन में न्याय दर्शन में लिखा है जो देखा चाहे सो देख ले ॥

(स) ऊपर लिखे लेख का जैन धर्म्म से कुछ सम्बन्ध नहीं इसलिये समीक्षा करने की क्या आवश्यकता है ?

(द) दूसरे नास्तिक का ऐसा मत है कि अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्यप्रादुर्भावात् ५ गो० अभाव अर्थात् असत्य से जगत की उत्पत्ति होती है क्योंकि जैसे बीज का नाश करके अंकुर उत्पन्न होता है वैसे जगत की उत्पत्ति होती है, उत्तर व्याघातादप्रयोगः ६ गो० यह तुम्हारा कहना अयुक्त है क्योंकि व्याघात के होने से जिसका मर्द्दन होता है बीज के ऊपर भाग का यह प्रकट नहीं होता है और जो अङ्कुर प्रकट होता है उसका मर्द्दन नहीं होता इस से यह कहना आप का मिथ्या है ॥

(स) यह ऊपर लिखा हुआ लेख भी जैनियों से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है ॥

(द) तीसरे नास्तिक का मत ऐसा है ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात् ७ गो० जीव जितना कर्म करता है उसका फल ईश्वर देता है, जो ईश्वर कर्म फल न देता तो कर्म का फल कभी न होता क्योंकि जिस कर्म का फल ईश्वर देता है, उसका तो होता है और जिसका नहीं देता उसका नहीं होता इस से ईश्वर कर्म का फल देने में कारण है, उत्तर पुरुषकर्माभावेफलानिष्पत्तेः ८ गो० जो कर्म फल देने में ईश्वर कारण होता तो पुरुष कर्म कर्ता तोभी ईश्वर फल देता सो विना कर्म करने से जीव

को फल नहीं देता इस से क्या जाना जाता है कि जो जीव कर्म जैसा कर्ता है वैसा फल आपही प्राप्त होता है इस से ऐसा कहना व्यर्थ है ॥

(स) यहां स्वामी जी ने नास्तिक को तो ईश्वरवादी और अपने आप को नास्तिक सिद्ध किया है, धन्य महाराज धन्य ! क्या अच्छी बुद्धि है ॥

(द) फिर भी वह अपने पक्ष को स्थापन करने के वास्ते कहता है कि तत्कारितत्वादहेतुः ९ गो० ईश्वरही कर्म का फल और कर्म कराने में कारण है जैसा कर्म कर्ता है वैसा जीव करता है अन्यथा नहीं, उत्तर जो ईश्वर कराता तो पाप क्यों कराता और ईश्वर के सत्य संकल्प के होने से जीव जैसा चाहता है वैसाही हो जाता और ईश्वर पाप कर्म करा के फिर जीव को दण्ड देता तो ईश्वर को भी जीव से अधिक अपराध होता तो उस अपराध का फल जो दुःख सो ईश्वर को भी होना चाहिये और केवल छली कपटी और पोपों के कराने से पापी हो जाता इस से ऐसा कभी न कहना चाहिये कि ईश्वर कराता है ॥

(स) प्यारे पाठक वृन्द खयाल करने की बात है यहां स्वामी जी ईश्वरोपासिक होकर भी अनीश्वरवादी बनने की इच्छा रखते हैं, और यह लेख भी जैनी लोगों से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है ॥

(द) चौथे नास्तिक का ऐसा मत है कि अनिमित्त तो भावोत्पत्तिः कण्टक तैक्ष्ण्यादि दर्शनात् १० गो० निमित्त के बिना पदार्थों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वृक्ष में कांटे होते हैं वेभी निमित्त के बिनाही तीक्ष्ण होते हैं कण्टकों की तीक्ष्णता पर्वत धातुओं की चित्रता पाषाणों की चिक्कनता जैसे निर्मित देखने में आती है वैसेही शरीरादिक संसार की उत्पत्ति कर्ता के बिना होती है इसका कर्ता कोई नहीं उत्तर अनिमित्त अनिमित्तान्निमित्ततः ११ गो० बिन निमित्त के सृष्टि होती है ऐसा मत कहो क्योंकि जिस से जो उत्पन्न होता है वही उसका निमित्त है वृक्ष

पर्वत पृथिव्यादिक उनके निमित्त जानना चाहिये वैसेही पृथि-व्यादिक की उत्पत्ति का निमित्त परमेश्वरही है इस से तुम्हारा कहना मिथ्या है ॥

(स) यह ऊपर लिखा लेख भी जैनका नहीं, किन्तु बौद्धोंकाहै, ॥

(ह) पांचवे नास्तिक का ऐसा मत है कि सर्वमनित्य मुत्पति विनाश धर्मकत्वात् १२ गो॰ सब जगत अनित्य है क्योंकि सबकी उत्पत्ति और विनाश देखने में आता है जो उत्पत्ति धर्म्म वाला है सो अनुत्पन्न नहीं होता जो अविनाश धर्म्म वाला है सो विनाश कभी नहीं होता, आकाशादि भूत शरीर पर्यन्त स्थूल जितना जगत है और बुद्यादि सूक्ष्म जितना जगत है सो सब अनित्यही जानना चाहिये। उत्तर नानितत्तानित्यत्वात् १३ गो॰ सब अनित्य नहीं है क्योंकि सब की अनित्य होगी तो उस के नित्य होने से सब अनित्य नहीं भया और जो अनित्यता अ नित्य होगी तो उसके अनित्य होने से सब जगत नित्य भया इस से सब अनित्य है ऐसा जो आप का कहना सो अयुक्त है फिर भी वह अपने मत को स्थापन करने लगा तद् नित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् १४ गो॰ वह जो हमने अनित्यता जगत् की कही सो भी अनित्य है क्योंकि जैसे अग्नि काष्टादिक का नाश करके अपने भी नष्ट होजाता है वैसे जगत् को अनित्य कर के आप भी अनित्यता नष्ट होजाती है। उत्तर नित्यस्याप्रत्या-ख्यानयथोपलब्धिव्यवस्थानत् १५ गो॰ नित्य का प्रत्याख्यान् अ-र्थात् निषेध कभी नहीं हो सकता क्योंकि जिसकी उपलब्धि होतीहै और जो व्यवस्थित पदार्थ है उसको अनित्यता नहीं हो सकती जो नित्य है प्रमाणों से और जो अनित्य सो नित्य नित्य ही होता है और अनित्य अनित्यही होता है क्योंकि परमसूक्ष्म कारण जो है सो अनित्य कभी नहीं होसकता और नित्य के गुण भी नित्य हैं तथा जो संयोग से उत्पन्न होता है और संयुक्त के गुण वे सब अनित्य हैं नित्य कभी नहीं होसक्ते क्योंकि पृथक् पदार्थों का संयोग होता है वो फिर भी पृथक् होजाते हैं इसमें

कुछ सन्देह नहीं ॥

(स) यह लेख भी जैन का नहीं बौद्धही का है ॥

(द) छठा नास्तिक यह है कि सर्वं नित्यं पंचभूतनित्यत्वात् १६ गो० जितना आकाशादिक यह जगत् है जो कुछ इन्द्रियों से स्थूल वा सूक्ष्म जान पड़ता है सो सब नित्यही है पांच भूतों के नित्य होने से, क्योंकि पांच भूत नित्य हैं उनसे उत्पन्न भया जो जगत् सोभी नित्यही होगा। उत्तर नोत्पत्तिविनाशकारणो पलब्धेः १७ गो० जिसका उत्पत्ति कारण देख पड़ता है और विनाश कारण वह नित्य कभी नहीं होसक्ता इत्यादिक समाधान न्याय दर्शन में लिखा है सो देख लेना ॥

सातवां नस्तिक का मत यह है कि सर्वं पृथक् भाव लक्षण पृथक्त्वात् १८ गो० सब पदार्थ पृथक् २ ही है, क्योंकि घट पटादिक पदार्थों के पृथक् २ चिन्ह देख पड़ते हैं इस से सब वस्तु पृथक् २ ही हैं एक नहीं। उत्तर नानेकलक्षणैरेक १९ गो० गन्धादिक गुण है और मुखादिक घड़े के अवयव भी अनेक पदार्थों से एक पदार्थ युक्त प्रत्यक्ष देख पड़ता है इस से सब पदार्थ पृथक् २ है ऐसा जो कहना सो आप का व्यर्थ है ॥

आठवां नास्तिक का मत यह है कि सर्व्व मभावो भावष्वित तरेतराभावसिद्धेः २० गो० यावत जगत् है सो सब अभावही है क्योंकि घड़े में वस्त्र का अभाव और वस्त्र में घड़े का अभाव तथा गाय में घोड़े का और घोड़े में गाय का अभाव है इस से सब अभावही है। उत्तर नस्वभावसिद्धभावानाम् २१ गो० सब अभाव नहीं है क्योंकि अपने में अपना अभाव नहीं होता है और जो अभाव होता तो उसको प्राप्ति और उससे व्यवहार सिद्धि कभी नहीं होती इससे सब अभाव है ऐसा जो कहना सो व्यर्थ है क्योंकि आपही अभाव हो फिर आप कहते और सुनते हो सो कैसे बनता सो कभी नहीं बनता ऐसे २ वाद विवाद मिथ्या जो करते हैं वे नास्तिक गिने जाते हों

(स) यह ऊपर लिखा हुआ सम्पूर्ण लेख जैनधर्म्म से भिन्न

और स्वामी जी की मन कल्पना है, और यह बौद्ध लोगों का ही मत है, ॥

(द) जो जैन सम्प्रदाय में अथवा किसी सम्प्रदाय में ऐसा मतवाला पुरुष होय उसको नास्तिक ही जान लेना जैन लोगों में प्रायः इस प्रकार के वाद हैं वे सब मिथ्याही सज्जनों को जानना चाहिये यजमान की पत्नी अश्व के शिश्न को पकड़े यहबात मिथ्या है तथा संसार में राजा जो है सोई परमेश्वर है यह भी बात उनकी मिथ्या है क्योंकि मनुष्य क्या कभी परमेश्वर हो सकता है धर्म्म को बड़ा न समझना और अर्थ तथा काम कोही उत्तम समझना यह भी उनकी बात मिथ्या है इत्यादिक बहुत उनके मत में मिथ्या २ कल्पना हैं उनको सज्जन लोग कभी न माने इति ॥

(स) उपरोक्त लेख का विशेष भाग नास्तिक चार्वाक मत का है, स्वामी जी अपने अजानपने से इसको यहां तो जैनियों का लिख गये किन्तु जब ठाकुरदास आदि जैनियों ने प्रमाण मांगा तब कुछ समय तक तो अनेक प्रपंच भरे उत्तर देते रहे, कभी पुस्तक छेकसार का सहारा लिया, कभी कल्पभाष्य को जा देखा, कभी यह उत्तर लिखा आप को शुद्ध भाषा लिखनाही नहीं आता, परन्तु जब कोई प्रपंच भी कार्य्यकारी न हुआ तो पश्चात् नवीन सत्यार्थ प्रकाश में यह स्वतः स्वीकार कर लिया कि यह लेख नास्तिक चार्वाक मत का है, और फिर भी अपने हठ धर्म्म को स्थिर रखने के लिये जैन बौद्ध चार्वाक तीनों को मिश्रित लिख दिया सो उसका भी यथार्थ उत्तर नवीन "सत्यार्थप्रकाश" की समीक्षा में लिखा जायगा अब यहां तक पुराने प्रथमवार के छपे "सत्यार्थप्रकाश" के द्वादश समुल्लास की समीक्षा और कुछ दयानन्द दिग्विजयार्कान्तरगत जैनधर्म्म सम्बन्धी लेख का उत्तर पूरा हुआ और आगे नवीन "सत्यार्थप्रकाश" के विषय लेख होगा, इसलिये इस "जैनसुधाबिन्दु" नाम पुस्तक का पूर्वार्द्ध भाग इसी स्थान पर पूरा होता है ॥ इत्यलम् ॥

शुद्धाशुद्ध पत्र ॥

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका	१४	खण्डम	खण्डन
२	५	होता है तब पुद्गल	होता है तब पुद्गल
३	५	करता	करते
,,	२०	धम्म	धर्म्म
४	११	मैथुंनच	मैथुनंच
७	२	पशुआदि	पशु आदि
८	९	निद्रामय	निद्राभय
१२	१७	दुःखदि	दुःखादि
,,	१९	जम्न	जन्म
१५	२१ व २४	स्रोत्रेन्द्रिय	श्रोत्रेन्द्रिय
१७	२९	तालव	तालाव
१८	३	असख्यात	असंख्याते
,,	,,	सुखो	सुखी
,,	१६	पुराणों	पुराणों में
१९	२१	पर्णो	पर्णों
२०	१९	हेते	होती
२१	१३	र्तमान	वर्तमान
,,	२४	मोंच	मोंक्ष
२२	३	हदय	हृदय
२३	१४	का	की
,,	२१	न्नस्ति	न्नास्ति
२५	१९	सत्र यह हे	सूत्र यह है
२७	१५	पोपों	पापों
,,	२३	ब्रम्ह	ब्रह्म



सुजनसम्मेलनम्

नाम

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रसतसम्प्रदायाचार्यस्वामिराम-
मिश्रशास्त्रिप्रणीते जैनधर्मविषये व्याख्यान-
दशके प्रथमव्याख्यानम् ।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥
(श्रीहरिभद्रसूरिः)

प्रगटकर्ता

मुंबई निवासी शेठ वीरचन्द दीपचन्द. सी.
आई. ई. जे. पी.
तथा
शेठ गोकुलभाई मूलचन्दजीसाहेब ।

बनारस चन्द्रप्रभा प्रेस मे छपा ।

वीरसंवत २४३२ ।

तृतीयावृत्ति २०००

श्रीमते रामानुजाय नमः ।



गणे विद्यावतां यस्य प्रथमं नाम घोष्यते ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रोऽसौ राममिश्रः सुधीरयम् ॥

C. P. Press, Benares

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

सज्जन महाशय !

आज बड़ा सुदिन और माङ्गलिक समय है कि हम भारतवर्षीय जिनके यहाँ सृष्टि के आदि कालही से सभ्यता, आत्मज्ञान, परार्थे आत्मसमर्पण, आत्मा की अनाद्यन्तता ज्ञान चला आया है बल्कि समय के फेर से कुछ पुरानी प्रतिष्ठा पुरानी सी पड़गयी है, वे इस स्थान में एकत्र हुये हैं अवश्यही इसे सौभाग्य मानना और कहना चाहिये, क्योंकि वैदिक मत और जैन मत सृष्टि की आदि से बराबर अविछिन्न चले आये हैं और इन दोनों मजहबों के सिद्धान्त विशेष घनिष्ठ समीप संबन्ध रखते हैं जैसा कि पूर्व में मैं कह चुका हूँ और जैसा कि सत्कार्यवाद, सत्कारणवाद, परलोकास्तित्व, आत्मा का निर्विकारत्व, मोक्ष का होना और उसका नित्यत्व, जन्मान्तर के पुण्य पाप से जन्मान्तर में फल भोग, व्रतोपवासादिव्यवस्था, प्रायश्चित्त-व्यवस्था, महाजनपूजन, शब्दप्रामाण्य इत्यादि समान

हैं, बस तो इसी हेतु मुझे यहाँ यह कहते हुए मेरा शरीर पुलकित होता है कि आज का यह हमारा जैनों के सङ्ग एक स्थान में उपस्थित होकर संभाषण वह है कि जो चिरकाल के बिछुड़े भाई भाई का होता है। सज्जनों! यह भी याद रखना जहाँ भाई भाई का रिस्ता है वहाँ कभी कभी लड़ाई की भी लीला लग जाती है परन्तु याद रहे उस्का कारण केवल अज्ञानही होता है।

इस देश में आज कल अनेक अल्पज्ञ जन बौद्ध मत और जैन मत को एक जानते हैं और यह महा भ्रम है। जैन और बौद्धों के सिद्धान्त को एक जानना ऐसी भूल है कि जैसे वैदिक सिद्धान्त को मान कर यह कहना कि वेदों में वर्णाश्रमव्यवस्था नहीं है अथवा जातिव्यवस्था नहीं है, अथवा यह कहना कि द्विजों ने शूद्रों को झूठ मूठ छोटा बनाकर उन्हें बड़े क्लेश दिये अब हम उन्हें क्लेशमुक्त करेंगे सज्जनों! आप जानते हैं दुनिया में रुपया बहुतही आवश्यक वस्तु है और वह बड़ेही कष्ट से मिलता है यदि कोई उस्का सीधा और उत्तम द्वार है तो शिल्प और सेवा, तो अब ध्यान से जानना, कि द्विजों में ब्राह्मण क्षत्रिय सब

से बड़े समझे गये हैं उन्होंने अपने हाथ में आवश्यक बात कोई न रक्खी। ब्राह्मणों ने अपने हाथ में केवल कुश मुष्टि रक्खी और क्षत्रियों ने खड्ग कोशमुष्टि रक्खी। तब भला देखो तो जिन्हों ने अपने हाथ में निकम्मी चीजें रख कर वैश्यों को कृषिवाणिज्य दे डाला और शूद्रों को उससे भी बढ़ कर शिल्प और सेवा दे डाली। सज्जनों ! जानते हो शिल्प कौन चीज है ? शिल्प वह है कि जिसके कारण इंगलेंड जगत् का बादशाह है नहीं २ कहो शाहनशाह है और जिस्के अभावही से हमारा देश, देश इसे क्या कहें, जन्मभूमि, जननी, भारतभूमि रसातल को जा रही है। बिचार का स्थान है जब शिल्प शूद्रों के हाथ में दे डाला तब तो वैश्य भी बिचारे शूद्रों के पीछे पड़ गये, क्योंकि कृषि में दैवी आपत् का भय रहता है और वाणिज्य में तो और भी अधिक आपत्ति है, सबसे अच्छी शूद्रों की जीविका है। शिल्प, और सेवा, जिस्के न कोई आपत है नतो नुकसान। तब ही तो कहा गया है–

स्वर्णपुष्पमयीं पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूराश्च कृतविद्याश्च ये च जानन्ति सेवितुम्॥

तब तो देखने का स्थान है कि क्षत्रिय की जीविका

तो हथेली में जान रख कर है और ब्राह्मण की तो उससे भी कठिन है। जब वह बारह और बारह चौबीस बर्ष विद्यार्जन करेगा तब वह जीविका करेगा परन्तु शूद्र का जीवन कैसा सुलभ है। जहाँ पर देखो वहाँ पर सर्वत्र शूद्रों पर अनुग्रह है—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नच संस्कारमर्हति ।

द्विजों के लिये मनुने नियम किया है कि वे फलां फलां देश में निवास करें। परन्तु शूद्रों के लिये वे कहते हैं—

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यत्र कुत्रापि निवसेद् वृत्तिकर्षितः ॥

तब तो शूद्रों के लिये मनु ने देश की यथेच्छ आज्ञा देदी अब क्या चाहिये।

बस तो इस रीति पर यह भी अज्ञों की दन्त कथा है कि जैन और बौद्ध एक समान हैं। सज्जनों ! बुरा न मानों और बुरा मानने की बातही कौनसी है जब कि खाद्यखण्डनकार श्रीहर्ष ने स्वयं अपने ग्रन्थ में बौद्ध के साथ अपनी तुलना की है और कहा है कि हम लोगों से [याने निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तियों से] और बौद्धों से यही भेद है कि हम ब्रह्म की सत्ता मानते हैं और सब मिथ्या कहते हैं, परन्तु बौद्धशिरोमणि

माध्यमिक सर्व शून्य कहता है तब तो जिन जैनों ने सब कुछ माना उनसे नफरत करने वाले कुछ जानते ही नहीं और मिथ्या द्वेष मात्र करते हैं यह कहना होगा।

सज्जनों ! जैन मत से और बौद्ध सिद्धान्त से जमीन आसमान का अन्तर है। उसे एक जान कर द्वेष करना यह अज्ञजनों का कार्य है। सब से अधिक वे अज्ञ हैं कि जो जैन सम्प्रदायसिद्ध मेलों मे बिघ्न डाल कर पाप भागी होते हैं।

सज्जनों ! आप जानते हैं जैनों में जब रथयात्रा होती है तब किनकी मूर्त्ति रथ में बिराजती हैं ? सज्जनों ! देव गन्धर्वों से लेकर पशु पक्षि पर्यन्त जो पूजा की जाती है वह किसी मूर्ति की ! अथवा मट्टी पत्थर की! नहीं की जाती है जो ऐसा जानते हैं वे ऐसे अज्ञ हैं कि उन्हें जगत् में डेढ़ अकल मालुम होती है याने एक में आप स्वयं, आधी में सब जगत्। क्या मूर्त्तिपूजक मूर्त्ति निन्दकों से भी कम अकल हैं !

सज्जनों ! मूर्त्तिपूजा वह है कि जिसे मूर्त्तिनिन्दक नित्य करते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि इस्में हमारी ही निन्दा होती है। देखिये ऐसा कौन देश, नगर, ग्राम, वन, उपवन है कि जहाँ पूज्य महारानी विक्टो-

रिया की मूर्ति नहीं है और लोग उसे पवित्रभाव से पूजन नहीं करते। ठीक ही है।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते। पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।

जब उन में ऐसे गुण थे तो उनकी पूजा कौन न करे। बस तो अब आप को ढोल की पोल अवश्य ज्ञात हुई होगी, मिशनरी लोगों की मूर्त्ति पूजन निन्दा देख करही हमारे (मजहबी न सही देशभाई ब्रह्म-समाजी आर्य्यसमाजी) देशवासी मूर्त्ति निन्दा करने लगे हैं।

सज्जनो ! बुद्धिमान् लोग जब गुण की पूजा करते हैं तब जैसी हमारी पूज्य मूर्तियों में पूज्यता बुद्धि है वैसेही जहाँ पूजायोग्य गुण है वहाँ सर्वत्र पूजा करनी चाहिये। सज्जनो! ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षान्ति, अदम्भ, अनीर्ष्या, अक्रोध, अमात्सर्य, अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टिता इत्यादि गुणों में एक एक गुण ऐसा है कि जहाँ वह पाया जाय वहाँ पर बुद्धिमान् पूजा करने लगते हैं तब तो जहाँ ये पूर्वोक्त सब गुण निरतिशयसीम होकर विराजमान हैं उनकी पूजा न करना अथवा गुण पूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इनसानियत का कार्य है ? महाशय !

वैदिक जन ! अथवा मूर्तिपूजा विद्वेषि नूतन मजहबी सुजन जन ! जैनों में जिनका रथ प्रायः निकलता है वह किनका निकलता है ? आप जातने हैं ? वे महानुभाव हैं पारस नाथ स्वामी, महावीर स्वामी जिनदेव और ऐसेही ऐसे तीर्थङ्कर, तब तो उनकी पूजा का विरोध करना अथवा निन्दा करना यह अज्ञ का कार्य नहीं है ! सुजनों ! आपने कभी यह श्लोक सुना है जिनमें पार्श्वनाथ स्वामी के विषय में काम देव और उनकी पत्नी का सम्वाद है ।

कोऽयं नाथ ! जिनो भवेत्तव वशी हूँ हूँ प्रतापी प्रिये।
हूँ हूँ तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपाक्रियाम् ॥
मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किंकराः के वयम्।
इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वः प्रभुः पातु नः ॥

सज्जनों ! जिनके ब्रह्मचर्य की स्तुति काम और रति करते हैं वे कैसे हैं जिनकी हुशयारी को चोर सराहै वेही तो हुशयार हैं ! पूरा विश्वास है कि अब आप जान गये होंगे कि वैदिक सिद्धान्तियों के साथ जैनों के विरोध का मूल केवल अज्ञों की अज्ञता है। और वह ऐसी अज्ञता है कि अनेक बार पूर्व में उस अज्ञता के कारण अदालत हो चुकी है। सज्जनों ! अज्ञता

ऐसी चीज है उस्के कारण अनेक बेर अनेक लोग बिना जाने बूझे दूसरे की निन्दा कर बैठते हैं। थोड़ ही दिन की बात है कि किसीने नये मजहबी जोश में आकर जैन मत में मिथ्या आरोप किये और अन्त में हानि उठाई। मैं आप को कहाँ तक कहूँ बड़े २ नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैन मत खण्डन किया है वह ऐसा किया है कि जिसे सुन देख कर हँसी आती है।

मैं आप के संमुख आगे चल कर स्याद्वाद का रहस्य कहूंगा तब आप अवश्य जानजाँयगे कि वह एक अभेद्य किला है उस्के अंदर मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते। परंतु साथही खेद के साथ कहा जाता है कि अब जैनमत का बुढ़ापा आगया है अब इस्मे इने गिने साधु, गृहस्थ, विद्यावान रहगये हैं। जैसे कि साधुवर्य परमोदासीनस्वभाव, आत्मविज्ञानपरायण, ज्ञान विज्ञान संपन्न श्री धर्म विजय जी साधु संप्रदाय में हैं और गृहस्थों में तो विद्वानों की संख्या और भी कम है जहाँ तक मुझे यादगारी और जानकारी है पण्डितशिरोमणि पन्नालालजी न्यायदिवाकर इस मत के अच्छे जानकार हैं और उनके कारण

जैन संप्रदाय की बड़ी प्रतिष्ठा है और नाम है। और नवीन गृहस्थमण्डली में होनहार और जैन संप्रदाय को लाभ पहुँचाने की योग्यता वाले खुरजा के सेठ मेवा राम जी हैं, वे शास्त्रानुरागी हैं और शास्त्रज्ञानुरागी हैं उन्होंने अपने यहाँ एक स्वरूपानुरूपा संस्कृतपाठशाला स्थापित की है और उस पाठशाला में विविधविद्या विशारद प्रसिद्धनामा श्रीमान् पण्डित चण्डी प्रसादजी सुकुल जैसे धुरन्धर अध्यापक हैं। देखा जाता है कि इस पाठशाला का फल उत्तम है। पण्डित श्यामसुन्दर वैश्य इसी पाठशाला के फल स्वरूप हैं जिनका शास्त्र में अच्छा अभिनिवेश है। आशा है कि यह पाठशाला जैन लोगों में विद्या प्रचार की मूलभूत होगी। सज्जनों! एक दिन वह था कि जैन संप्रदाय के आचार्यों के हुङ्कार से दसों दिशाएँ गूँज उठती थीं, एक समय की वार्ता है कि हमारही (याने वैदिक संप्रदायी वैष्णव ने) किसी सांप्रदायिक ने हेमचन्द्राचार्य जी को देख कर (जोकि संन्यासवेषके थे) कहा।

आगतो हेमगोपालो दण्डकम्बलमुद्वहन्।

बस तो फिर क्याथा उन्होंनें मन्दमुसुकान के साथ उत्तर दिया कि।

षड्दर्शनपशुप्रायाँश्चारयञ्जैनवाटके ॥

सज्जनों! इस श्लोक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को सुन कर आप लोग खूब जाँनगये होंगे कि पूर्व समय पर आपस में विद्वानों के हँसी ठठोल भी कैसे होते थे। ये महानुभाव हेमचन्द्राचार्य व्याकरण से लेकर दर्शनशास्त्रपर्यन्त सर्व विषय में अप्रतिम आचार्य थे। सज्जनों! जैसे काल चक्र ने जैनमत के महत्व को ढांक दिया है वैसेही उस्के महत्व को जानने वाले लोग भी, अब नहीं रहगये। रज्जब साँचे सूर को बैरी करे बखान। यह किसी भाषा कवि ने बहुतही ठीक कहा है। सज्जनों! आप जानते हो मैं वैष्णव संप्रदाय का आचार्य हूँ यही नहीं है मैं उस संप्रदाय का सर्वतो-भाव से रक्षक हूँ और साथही उस्की तरफ कड़ी नज़र से देखने वाले का दीक्षक भी हूँ तो भी भरी मजलिस में मुझे यह कहना सत्य के कारण आवश्यक हुआ है कि जैनों का ग्रंथसमुदाय, सारस्वत महासागर है। उस्की ग्रन्थ संख्या इतनी अधिक है कि उन ग्रन्थों का सूचीपत्र भी एक महानिबन्ध हो जायगा। जिन्हों ने जैन पुस्तक भण्डार देखे हैं उन्हें यह कहना आ-वश्यक न होगा कि जैनों की ग्रन्थ संख्या जितनी

सुदीघ है उतनी (वैदिक संप्रदाय छोड़ कर) अन्यकी नहीं है। और उस पुस्तक समुदाय का लेख और लेख्य कैसा गम्भीर, युक्तिपूर्ण, भावपूरित विशद और अगाध है! इस्के विषय में इतनाही कह देना उचित है कि जिन्हों ने सारस्वत समुद्र में अपने मति मन्थान को डाल कर चिरान्दोलन किया है वेही जानते हैं। तबही तो कहागया है कि।

देवीं वाचमुपासते हि वहवः सारं तु सारस्वतम्।
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्तस्य।
गम्भीरतामापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

सज्जनों! जैनमत का प्रचार कब से हुआ इस बारे में लोगों ने नाना प्रकार की उछलकूद किई है और अपने मनोनीत कल्पना किई है। और यह बात ठीक भी है जिस्का जितना ज्ञान होगा वह उस वस्तु को उतनाही और वैसाही समुझेगा। किसी अन्धे ने हाथी के पूँछ को धरा और कहने लगा कि हाथी लाठी जैसा लंवा होता है। परंतु दूसरे अन्धे ने जब उस्की पीठ छुई तो कहने लगा कि वह छात जैसा होता है। परंतु हाथी के कान स्पर्श करने वाले ने तो कहा कि वह सूप जैसा होता है।

तो बस यही हाल संसार का है जिस्के यहाँ जब सभ्यता का प्रचार हुआ तो उसने उसी तारीख से दुनिया की सब बात मान ली। जो छः हजार वर्ष से सृष्टि को मान बैठे हैं उन्हें हम यदि अपना नित्य स्नान का संकल्प सुनावें तो वे हँस देंगे और कहेंगे कि कृष्ण बारह कल्प, श्वेत बारह कल्प, ब्रह्मा का द्वितीय परार्द्ध और मनु, मन्वन्तर, चतुर्युग व्यवस्था यह सब कल्पित है।

तब उन्हें जैन मत प्रचार की तारीख भी अवश्य ईस्वी समय के अनुसार ही कहनी होगी। और कह देंगे कि अधिक भी यदि जैन मत के प्रचार का काल कहा जाय तो छठीं सदी होगी। परंतु सज्जनों! हम आपको ऐसी कच्ची मनमानी बात न कहनी चाहिये। ईश्वर की सृष्टि अनाद्यनन्त है और कल्प के भी पूर्व में कल्प है जब ऐसी स्थिति है तब तो इस कल्प की इस सृष्टि को भी इतना समय बीत चुका है कि जिस्के अङ्कों की शून्य सूचक बिन्दु माला देख कर बुद्धिमान् गणक की बुद्धि में भी चक्कर आ जायगा।

सज्जनों! यह सृष्टि बहुतही प्राचीन काल से चली आती है और आप यह भी जानते हैं कि सृष्टि

की आदिही में सर्जन करने वाले ने आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान देदिया था, उस्का निरूपण मेरे जैसा अज्ञ कहाँ तक कर सकता है परंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि परमेश्वर ने अपनी सृष्टि में लौकिक उन्नति की सीढ़ी पर्यन्त सबही विषय सृष्टि के आदि में जीवों को दिखा दिया था तो अब आप ऐसा जानिये कि जैसे उन्हें आदि काल में खाने पीने न्याय, नीति और कानून का ज्ञान मिला, वैसेही अध्यात्म शास्त्र का ज्ञान भी जीवों ने पाया। और वे अध्यात्म शास्त्र में सब हैं जैसे सांख्य योगादि दर्शन और जैनादि दर्शन।

तब तो सज्जनों! आप अवश्य जान गये होंगे कि जैन मत जब से प्रचलित हुआ है। जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ तब से यही इस्का सत्य उत्तर है।

जिनकी सभ्यता आधुनिक है वे जो चाहें सो कहें परंतु मुझे तो (जिसे अपौरुषेय वेद मानने में किसी प्रकार का असंतोष और अनङ्गीकार नहीं है यही नहीं, परंतु सर्वथा तृप्ति, विश्वास, और चेतः प्रसत्ति है) इस्में किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व का है। तबही तो भगवान्

वेदव्यास महर्षि ब्रह्मसूत्रों में कहते हैं:—नैकस्मिन्नसभंवात्। सज्जनों! जब वेदव्यास के ब्रह्म सूत्र प्रणयन के समय पर जैनमत था। तब तो उस्के खण्डनार्थ उद्योग किया गया, यदि वह पूर्व में नहीं था तो वह खण्डन कैसा और किस्का? सज्जनों! समय अल्प है और कहना बहुत है इससे छोड़ दिया जाता है नहीं तो बात यह है कि वेदों में अनेकान्त बाद का मूल मिलता है। सज्जनों! मैं आप को वेदान्तादि दर्शन शास्त्रों का और जैनादि दर्शनों का कौन मूल है यह कह कर सुनाताहूँ। उच्च श्रेणी के बुद्धिमान् लोगों के मानस निगूढ बिचारही दर्शन हैं। जैसे--अजातवाद, विवर्तवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, परिणामवाद, आरम्भवाद, शून्यवाद, इत्यादि दार्शनिकों के निगूढ़ विचारही दर्शन हैं। बस तब तो कहना होगा कि सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचलित है सज्जनों! अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सब को मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिये विष्णु पुराण में लिखा है—

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम!
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्या जमाय च।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः?

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इस्का अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है, जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण हो जाती है, और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुखकी कारण हो जाती है। सज्जनों! आपने जाना होगा कि यहाँ पर स्पष्टही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनों! एक बात पर और भी ध्यान देना जो--सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत् कहते हैं उनको भी विचार दृष्टि से देखा जाय तो अनेकान्तवाद मानने में उज्र नहीं है क्योंकि जब वस्तु सत् भी नहीं कही जाती और असत् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् हो कर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु न वह सत् कही जा सकती है और नतो असत् कही जा सकती है, तो अब अनेकान्तता मानना सिद्ध होगया।

सज्जनों! नैयायिक तम को तेजोऽभावस्वरूप कहते हैं और मीमांसक और वैदान्तिक बड़ी आरभटी से उस्को खण्डन करके उसे भावस्वरूप कहते हैं तो देखने की बात है कि आज तक इस्का कोई फैसला

नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है, तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है, तब तो दोकी लड़ाई में तीसरे की पौबारा है याने जैन सिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं, और किसी रीति पर अभावस्वरूप भी कह सकते हैं। इसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधारस्वरूप बोलते हैं तो बस अब कहनाहीं क्या अनेकान्तवाद ने पद पाया। इसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई वादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भावस्वरूप कहते हैं और कोई शून्यस्वरूप तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध हो गया।

कोई कहते हैं कि घटादि द्रव्य हैं और उन में रूपस्पर्शादि गुण हैं। परंतु दूसरी तरफ के वादी कहते हैं कि द्रव्य कोई चीज नहीं है वह तो गुण समुदाय स्वरूप है। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण इत्यादि का समुदाय ही तो घट है इसे छोड़ कर घट कौन वस्तु है। कोई कहते हैं आकाश नामक शब्द जनक एक निरवयव द्रव्य है। परंतु अन्य वादी कहते हैं कि वह तो शून्य है। सज्जनों! कहाँ तक कहा जाय कुछ वादियों का

कहना है कि गुरुत्व गुण है। परंतु दूसरी तरफ वादी लोगों का कहना है कि गुरुत्व कोई चीज नहीं है पृथ्वी में जो आकर्षण शक्ति है उसे न जान कर लोगों ने गुरुत्व नामक गुण मान लिया है।

मित हित वाक्य पथ्य है, उसीसे ज्ञान होता है बाग्जाल का कोई प्रयोजन नहीं है इस हेतु यह विषय यहाँही छोड़ दिया जाता है और आशा की जाती है कि जैनमत के क्रमिक व्याख्यान दिये जायँगे।

शुभानि भूयासुर्वर्द्धमानानि।

शम्

स्वामी राममिश्र शास्त्री

अगस्त्याश्रमाश्रम

काशी.

मि० पौषशुक्ल प्रतिपत्—
बुधवार सं० १९६२

